CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2
1.2
RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिंदी)

खण्ड १२ अंक १

दिसम्बर, १९९० / मार्गशीर्ष–पौष, २०४७

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे — राजेन्द्र प्रसाद

आनन्दप्रकाश दीक्षित — मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

□ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका

□ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे □ राजेन्द्र प्रसाद □ आनन्दप्रकाश दीक्षित □ मो. प्र. मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल □ रमाकान्त सिनारी □ विजयकुमार भारद्वाज □ शारदा जैन संगमलाल पांडे □ आर्. बालसुब्रमणियन् □ अशोक रा. केळकर □ के. जे. शहा □ नारायणशास्त्री द्राविड □ के. सच्चिदानंद मूर्ति □ जी. सी. नायक □ ग. ना. जोशी □ मोहनलाल मेहता □ जे. फाईस □ सुमन गुप्ता □ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर □ सु. ए. शेलके □ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें: संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुन: भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ४०–००
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ३०–००
(३) छात्रों के लिए	रु. २०–००
एक प्रति	रु. ८–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १२५०–००
व्यक्तियों के लिए रु. ३००–००

□ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ-एकवाक्यता : व्युत्पत्तिवाद के परिप्रेक्ष्य में

न्याय मत में वाक्यार्थ–बोध एक विशेष प्रकार के बोध के रूप में स्वीकृत है। इस वाक्यार्थ–बोध की सामग्री है – पद-ज्ञान, पदार्थ-स्मरण और शक्ति-ज्ञान (अथवा पद–पदार्थ का सम्बन्ध ज्ञान)। वाक्यार्थ–बोध के पूर्व श्रोता को प्रत्येक पद के साथ प्रत्येक अर्थ का सम्बन्ध–ज्ञान शक्ति या लक्षणा के द्वारा प्राप्त होता है। न्याय मत में ईश्वर–संकेत या ईश्वर–इच्छा ही शक्ति है। ईश्वर–इच्छा का आकार कभी पदविशेष्यक अर्थ प्रकारक रूप से होता है और कभी अर्थविशेष्यक पद प्रकारक रूप से होता है। गदाधर शक्तिवाद ग्रन्थ में कहते हैं —

> इदम्पदमिमर्थं बोधयत्विति; अस्माच्छब्दादयमर्थो
> बोद्धव्य इति वेच्छा। (पृष्ठ ५)

अर्थात् 'यह पद इस अर्थ का बोधक है' और 'इस पद के द्वारा इस अर्थ का बोध हो'- ऐसी ईश्वर–इच्छा ही शक्ति है। वैसे गदाधर आधुनिक संकेत या अस्मदादि इच्छा में भी शक्ति स्वीकारते हैं। लेकिन ऐसे पदों को वाचक न मान कर पारिभाषिक ही मानते हैं। यथा –

तत्राधुनिकसंकेतः परिभाषा; तया चार्थं बोधकं पदं पारिभाषिकं, यथा शास्त्रकारादि संकेतितनदीवृद्ध्यादिपदम्। (पृष्ठ ५)

जिसे पद–पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान हो चुका है ऐसा श्रोता जब उन उन पदों को सुनता है तो उनसे सम्बन्धित पदार्थ का स्मरण भी उसे हो जाता है। शब्द और अर्थ दो सम्बन्धी हैं और सम्बन्ध के किसी एक सम्बन्धी का ज्ञान हो जाने से अपर सम्बन्धी का स्मरण हो जाता है। अन्त में वे सभी स्मरण–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पदार्थ परस्पर सम्बन्धित होकर वाक्यार्थ–ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। जैसे– 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इस वाक्य के अन्तर्गत प्रत्येक पद के द्वारा एक–एक पदार्थ का स्मरण होता है। पर इनमें परस्पर सम्बन्ध न होने के कारण वाक्यार्थ–बोध नहीं होता है, क्योंकि इनमें आकांक्षा का अभाव है। लेकिन 'घटमानय' इस वाक्य में निहित 'घट' पद के द्वारा घटत्व–विशिष्ट घट पदार्थ, 'अम्' पद के द्वारा (द्वितीया विभक्ति) कर्मत्व पदार्थ, आङ् पूर्वक 'नी' धातु के द्वारा आनयन पदार्थ एवं आख्यात के द्वारा कृति–अर्थ उपस्थित होता है। मध्यम पुरुष एकवचन के द्वारा चेतन व्यक्ति के रूप में 'त्वं' पद का अध्याहार करते हैं। फिर इनका परस्पर सम्बन्ध हो कर 'घटकर्मक आनयनानुकूल कृतिमान् त्वम्' ऐसा वाक्यार्थ–बोध होता है। यहाँ सवाल यह है कि इन पदार्थों का सम्बन्ध तो किसी वृत्ति के द्वारा उपस्थित नहीं होता है; फिर इस सम्बन्ध का बोध कैसे होता है? नैयायिक इसके उत्तर में कहते हैं कि यह सम्बन्ध 'संसर्ग मर्यादा' के द्वारा उपस्थित होता है। ऐसी संसर्ग–मर्यादा वृत्ति–सापेक्ष नहीं है, वरन् आकांक्षा–भास्य है। गदाधर कहते हैं ...

> शाब्दबोधे चैकपदार्थे अपरपदार्थस्य
> संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते। (पृ २)

(विस्तृत जानकारी के लिये देखें व्युत्पत्तिवाद) ऊपर बतलाये हुए क्रम से वाक्यार्थ–बोध उत्पन्न होता है।

पद सर्वदा ही शक्ति सम्बन्ध के द्वारा अर्थ का बोधक होता है ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि कभी कभी पद शक्यार्थ के द्वारा शक्यार्थ सम्बन्धी लक्ष्यार्थ की प्रतीति का उत्पादन करता है तो इसे लक्षणा–रूप सम्बन्ध कहते हैं। यह सम्बन्ध शक्ति (शक्य) सम्बन्ध की तरह साक्षात् या मुख्य सम्बन्ध नहीं कहलाता है। इसे परम्परा सम्बन्ध कहते हैं। जैसे–'गंगायां घोषः' स्थल में 'गंगा' पद के द्वारा शक्ति-रूप संबन्ध है प्रवाह में। इस शक्य प्रवाह का संयोग या सामीप्य सम्बन्ध तीर में है। अतः 'गंगा' पद के साथ तीर रूप अर्थ में 'स्व शक्य संयोग रूप परम्परा सम्बन्ध' है जिसे लक्षणा कहते हैं। इस तरह पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण शक्ति या लक्षणा के द्वारा होता है। अन्त में उनका परस्पर सम्बन्ध–ज्ञान होता है जिसे वाक्यार्थ–बोध या शाब्द–बोध कहते हैं।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि यह जो वाक्यार्थ–बोध की प्रक्रिया दिखलायी गयी है वह बिना वाक्य सुनें तो संभव नहीं है। अतएव पहले यह जानना आवश्यक है कि वाक्य का लक्षण क्या है? न्याय ग्रंथों में विविध प्रकार से इसका लक्षण किया है। जैसे–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) पद समूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्ताविति ।
(ऐसा पद-समूह वाक्य कहलाता है जो एक परिपूर्ण अर्थ का ज्ञापक हो ।)
— न्यायसूत्रभाष्य,२.१.५५

(२) आकांक्षायोग्यतासत्तिमत्पदकम्बकं वाक्यम् ।
(आकांक्षा, योग्यता, आसत्तियुक्त पदसमूह वाक्य कहलाता है ।)
— न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका परिशुद्धि, १.१.७.

(३) वाक्यत्वं च विशिष्टार्थपरशब्दत्वम् ।
(एक विशिष्टार्थ का प्रतिपादक वाक्य होता है)
— तत्त्वचिन्तामणि

(४) अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तिरविषयां वा आकांक्षां जनयतां प्रतीयमान परस्परान्वययोग्यार्थं प्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम् ।
(अपने अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा श्रोता को अन्य पदविषयक अथवा अन्य अर्थविषयक आकांक्षा को उत्पन्न करने वाले, परस्पर में प्रतीत होने वाले सम्बन्ध के योग्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाले एवं एक पुरुष के द्वारा अविलम्ब उच्चरित होने वाले पदों के समूह का नाम वाक्य है ।) — तर्कभाषा

(५) मिथः साकांक्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यम् ।
(परस्पर आकांक्षा-युक्त शब्द-समूह वाक्य कहलाता है ।)—
—शब्द शक्ति प्रकाशिका, कारिका १३.

(६) यादृश शब्दानां यादृशार्थविषयिताकबोधं प्रति अनुकूला परस्पराकांक्षा तादृश शब्दस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम् ।
(जो शब्दसमूह किसी विशेष अर्थविषयक शाब्दबुद्धि के प्रति अनुकूल होता है वह शब्द समूह उस अर्थ के प्रति वाक्य कहलाता है ।)—(तदेव, व्याख्या)

उपरोक्त सभी लक्षणों से एक बात स्पष्ट होती है कि वाक्यान्तर्गत पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि का रहना अति आवश्यक है । प्रस्तुत प्रसंग में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि की पृथक् रूप से आलोचना करना यहां अभीष्ट नहीं है, क्योंकि यह निबन्ध एकवाक्यता की समस्या पर केन्द्रित है । दूसरी बात जो उभर कर सामने आती है वह यह है कि वाक्यान्तर्गत पद समूहों के श्रवण के द्वारा उत्पन्न ज्ञान का विषय भी एक विशिष्ट वस्तु होनी चाहिए । क्योंकि एक साथ अनेक विषयों की चर्चा यदि एक वाक्य में की जाय तो उसके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्तर्गत विशेष्य–विशेषण भाव में विशृंखला उत्पन्न हो जायेगी । फलतः कोई भी ज्ञान सही ढंग से नहीं हो सकेगा ।

प्रस्तुत निबन्ध के विषय 'एकवाक्यता' को समझाने के पहले एक बात और जान लेनी चाहिये कि न्याय मत से वाक्यार्थ–बोध की जो प्रक्रिया ऊपर बतलाई गई है–उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वाक्यार्थ–बोध एक विशिष्ट–बोध है जिसमें विशेषण–विशेष्य का रहना सुनिश्चित है । साधारणतः न्याय मत से शाब्द–बोध यह परोक्ष ज्ञान होने के कारण विशिष्ट बोध ही होता है। यद्यपि रघुनाथ शिरोमणि पद के द्वारा निर्विकल्पक पदार्थ–बोध स्वीकार करते हैं, तथापि यह बात सब के द्वारा स्वीकृत नहीं है। न्याय मत में साधारणतः प्रथमान्त पद के द्वारा उपस्थाप्य पद ही मुख्य विशेष्य और बाकी सभी उसके विशेषण होते हैं। जैसे–'चैत्रः तण्डुलं पचति' (चैत्र भात पकाता है।) इस वाक्य से वाक्यार्थ–बोध का आकार होगा–'तण्डुलकर्मक पाकानुकूल कृतिमान् चैत्रः'। इसमें 'चैत्र' पद मुख्य विशेष्य है, बाकी सभी इसके विशेषण हैं । यह वाक्यार्थ–बोध भी न्याय मत से दो प्रकार से होता है– खंड वाक्यार्थ–बोध और अखंड वाक्यार्थ-बोध। जैसे– 'घटमानय' स्थल में ही 'घट' पद का अर्थ है घटत्व विशिष्ट घट। द्वितीया विभक्ति 'अम्' पद का अर्थ है कर्मत्व। 'आङ्' पूर्वक 'नी' धातु का अर्थ है आनयन। एवं आख्यात का अर्थ है कृति। मध्यम पुरुष एक वचन के द्वारा चेतन व्यक्ति के रूप में 'त्वं' पद का अध्याहार करते हैं। पहले ऐसा खंडशः बोध होता है। द्वितीय प्रकार में– घटकर्मक–आनयनानुकूल–कृतिमान्–त्वं–ऐसा अखंड बोध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले खंड–वाक्य के द्वारा पृथक् पृथक् बोध हो कर फिर पूर्ण वाक्य के द्वारा 'घटमानय' यह बोध होता है। यहां यह बात ध्यातव्य है कि न्याय मत में 'घट' एवं 'आनय' प्रत्येक पद यहां एक एक वाक्य है। अतएव समग्र 'घटमानय' को एक बृहत्वाक्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। परस्पर आकांक्षा विशिष्ट बहुपद घटित वाक्य को न्याय मत में 'महावाक्य' कहा जाता है जो कभी 'विशिष्ट–वैशिष्ट्य' रीति से होता है और कभी 'विशेष्ये विशेषणं' इस रीति से होता है। इसकी विस्तृत आलोचना यहां लक्ष्य नहीं है। इसकी संक्षिप्त व्याख्या प्रसंग क्रम से आगे की जायेगी ।

मूल समस्या के बारे में यदि थोडी गम्भीरता से सोचें तो प्रश्न उठता है 'एकवाक्यता' का क्या अर्थ है ? गदाधर इसके उत्तर में कहते हैं–

'एकवाक्यत्वं साकांक्षत्वे सति एकार्थप्रतिपत्तिपरत्वं ।

– गादाधारी (अनुमिती प्रकरणे)

'एकवाक्यत्वं च विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वम्;
तदुत्थाप्याऽऽकांक्षानिवंतकत्वं तन्निवंतनीयाऽऽकांक्षोत्थापकत्वाऽन्यतरवत्वं वा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

– गादाधरी (अवयव प्रकरणे पृष्ठ २५)

कहने का अर्थ है कि जिन दो वाक्यों में परस्पर आकांक्षा रहती है एवं एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करना ही जिनका तात्पर्य होता है, ऐसे वाक्यद्वय में एकवाक्यता रहती है। किन्ही दो वाक्यों को साकांक्ष कब कहा जाता है ? जब 'तदुत्थाप्य आकांक्षा का निर्वतक' और 'तन्निवर्तनीय आकांक्षा' का उत्थापक इन दोनों धर्मों में से कोई भी धर्म उपस्थित रहे तो किन्ही दो वाक्यों को साकांक्ष कहा जा सकता है। 'एकवाक्यता' के लक्षण में यदि सिर्फ 'एकार्थ प्रतिपादकता' का ही निवेश किया जाय तो 'घटोऽस्ति' तथा 'कलशोऽस्ति' इन दो वाक्यों में एकवाक्यता प्रतिष्ठित हो जाती, क्योंकि दोनों वाक्य एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं। परन्तु ये दोनों वाक्य परस्पर साकांक्ष न होने के कारण 'एकवाक्य' नहीं हैं। इसलिए लक्षण में 'साकांक्षत्व' पद का निवेश किया गया है। जैसे, प्रत्यक्ष ग्रंथ के द्वारा उत्थाप्य 'किमस्य उपजीवकम्' आकांक्षा की निवर्तकता अनुमान परिच्छेद में है। एवं अनुमान परिच्छेद के द्वारा निवर्तनीय जो आकांक्षा है (किमस्य उपजीवकम्) उसकी उत्थापकता प्रत्यक्ष परिच्छेद में है। एवं उभय में ही 'चत्वारि प्रमाणानि' इस प्रमाण चातुर्विध्य रूप अर्थ-निर्णय की उपयोगिता है। अतः उनमें एकवाक्यता है।

एकवाक्यता के लक्षण में 'एकार्थ प्रतिपादकता' यह पद अत्यधिक देने की क्या आवश्यकता है ? ऐसी शंका होने पर गदाधर कहते हैं कि 'भूतलं घटवत्' इस वाक्य से उत्थापित 'कः घटः' इस आकांक्षा का निर्वतक है 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' यह वाक्य। और 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' इस वाक्य के द्वारा निर्वतनीय 'कः घटः' यह आकांक्षा है जो उसकी ('कम्बुग्रीवादिमान घटः' इस वाक्य की) उत्थापक थी। अतएव 'भूतलं घटवत्' और 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' ये दोनों वाक्य परस्पर साकांक्ष होने पर भी एकार्थ प्रतिपादक न होने के कारण 'एकवाक्यता' के बाधक नहीं हुए। 'एकार्थ प्रतिपादकत्व' इस विशेषण के अभाव में उक्त वाक्य-द्वय एकवाक्यता के बोधक न हो जाते। इसलिये लक्षण में 'एकार्थ प्रतिपादकत्व' इस पद का निवेश किया गया है। यद्यपि इन वाक्य-द्वय में किसी न किसी प्रकार की एकार्थता अवश्य है परन्तु 'विशिष्टैकार्थ प्रतिपादकता' न होने के कारण उनमें एकवाक्यता नहीं है।

गदाधर के उपर्युक्त एकवाक्यता के लक्षण में मीमांसा-सूत्रकार के लक्षण की सम्पूर्ण छाया नजर आती है। मीमांसा-सूत्रकार कहते हैं-

अर्थैकत्वत्वादेकं वाक्यं, आकांक्षा चेद् विभागे स्यात् – मी. सू. २।१।४७

अर्थात् जो पद-समष्टि किसी एक समग्र अर्थ को प्रकाशित करती है या एक प्रयोजन का निर्वाह करती है और उनमें विभाग करने पर वे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पद परस्पर आकांक्षा से युक्त होते हैं वह एक वाक्य है। यहां यह बात ध्यातव्य है कि यजुमंत्र की एक-वाक्यता के विचार के प्रसंग में उक्त सूत्र की रचना की गई है। इस सूत्र में दो प्रधान बातें कही गई हैं। अर्थैकत्वम् = एक प्रयोजन और विभागे सति साकांक्षत्वम् = पृथक् करने पर असम्पूर्ण रह जाना या साकांक्ष रह जाना। अर्थात् पहली शर्त के द्वारा अर्थ प्रकाश और दूसरी शर्त के द्वारा शब्द-रचना का सम्बन्ध है। जैसे—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे, अश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णोहस्ताभ्याम्', 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' यह मन्त्र एक सम्पूर्ण यजुः है। कारण इसके द्वारा एक सम्पूर्ण अर्थ का प्रकाश होता है एवं 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस अंश को यदि निकाल दिया जाय तो 'देवस्य त्वा' इत्यादि पदसमूह साकांक्ष हो जाते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि जिस पद-समष्टि से क्रिया अर्थात् अनुष्ठेय कर्म के अर्थ के स्मरण से उपकार साधित होता है वही एकवाक्य है। अतः 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' —अर्थैकत्व का अर्थ है एकाधिक मुख्य विशेष्य का न रहना। मीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थ-बोध में भावना ही प्रधान या मुख्य विशेष्य होती है। अतः कहा जा सकता है कि जिस पद-समष्टि से एक भावना का बोध होता है वही एक वाक्य है। युधिष्ठर मीमांसक ने कहा है—

यावन्ति पदान्येकप्रयोजनमभिनिर्वतयन्ति तावन्त्येक वाक्यम्।

कात्यायन श्रौतसूत्र १।२।३

इसके अलावा जहां सभी वाक्य परस्पर निरपेक्ष और भिन्नार्थक होते ह उन स्थलों में वाक्य परस्पर भिन्न ही रहते हैं। जैसे 'इषेत्वा' एवं 'ऊर्ज्जेत्वा' इन मन्त्रवर्णों के द्वारा अनुष्ठेय पदार्थों का स्मरण न होने पर भी 'ईषे त्वेति', ''छिनत्ति', ऊर्ज्जे त्वेति' कह कर पलाश की शाखा का छेदन करें एवं 'ऊर्ज्जेत्वा' कह अनुमार्जन करें—इस प्रकार विनियोग-वचन रहने पर 'छिनत्ति' एवं 'अनुमार्ष्टि' इन दो क्रियापदों का अध्याहार कर दोनों मंत्र दो विभिन्न अनुष्ठेय पदार्थों का स्मरण कराते हैं। अतः ये विभिन्न वाक्य ही हैं। मीमांसा-सूत्रकार कहते हैं—

समेषु वाक्यभेदः स्यात्।

— मी.सू. २।१।४७

उपरोक्त प्रसंग में यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मीमांसकों के अनुसार वैदिक वाक्यों का मुख्य उद्देश्य विधि निरूपण करने में निहित है। इसलिए अर्थवाद-वाक्य किसी विधि का विवेचन न करने के कारण व्यर्थ हो जाएंगें। ऐसा पक्ष मीमांसकों को स्वीकार्य नहीं हो सकता। मीमांसक अर्थवाद वाक्यों के साथ एकवाक्यता प्रदर्शित कर के उनकी सार्थकता मानते हैं। विधिवाक्य प्रशंसा-सापेक्ष हैं एवं अर्थवाद—वाक्य प्रयोजन सापेक्ष हैं। अतः अर्थवाद—वाक्य, विधि-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाक्य के साथ एक–वाक्य अर्थात् मिलित हो कर विधि–विहित कर्मों की प्रशंसा रूप प्रयोजन के द्वारा प्रयोजनवान् अर्थात् सार्थक या सफल होने से प्रमाण हैं। उनके मतानुससार वेद का एक अक्षर भी निष्प्रयोजन नहीं हो सकता है। जैसे 'वायव्यं श्वेतमालभत पशुकामः' (तै. सं. २।१।१। १) 'अभ्युदय की कामना रखने वाला व्यक्ति वायु देवता के उद्देश्य से श्वेत छाग का वध करें' इस विधि-वाक्य को सुन कर प्रथमतः पुरुष की क्रिया में प्रवृत्ति अवश्य होती है किन्तु अनन्तर अनिष्ट की आशंका से वह उक्त प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता है। अर्थात्, अनभिप्रेत यागानुष्ठानरूप दुःख में उक्त क्रिया का अवसान सम्पन्न होगा ऐसा सोच कर निष्प्रभ हो जाता है। अतः बाद की श्रुति में कहा है 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वायु अति क्षिप्र शीघ्रगामी देवता है। अर्थात्, वायु जिस यज्ञ का देवता होता है, उस यज्ञ का फल भी अति क्षिप्र या शीघ्र ही प्राप्त होता है। इस अर्थवाद वाक्य को सुनने पर अनिष्ट की आशंका से रुकी हुई प्रवृत्ति पुनः तीव्र हो जाती है। इसलिए विधिवाक्य वैध विषय में पुरुष को प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है, और अर्थवाद-वाक्य स्वयं निरर्थक होने पर भी विधि विहित प्रयोजनों के द्वारा अपनी प्रयोजनीयता का निर्वाह करने के लिये विधि की अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार विधि–वाक्य और अर्थवाद–वाक्य परस्पर मिल कर एक प्रयोजन का निर्वाह करते हैं। अतः दोनों में एक–वाक्यता है। मीमांसा-सूत्रकार कहते हैं –

विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः।

मी. सू. १।२।७.

एक–वाक्यता 'पदैकवाक्यता' और 'वाक्यैकवाक्यता' नामक दो प्रकार की हैं। इनमें से अर्थवाद–वाक्यों में पदैकवाक्यता होती है, क्योंकि विधि एवं निषेधों को प्रशस्तत्व तथा निन्दितत्व की अपेक्षा रहती है और समग्र अर्थवाद–वाक्य, विहित का प्राशस्त्य या निन्दित के निन्दितत्व के अर्थ का ही बोध कराते हैं। इसलिये समस्त वाक्य से लक्षणा के द्वारा जितने अर्थों का ज्ञान होता है, उतने ही अर्थों का ज्ञान प्रशस्त अथवा निन्द्य पदों से भी होता है। इस कारण प्राशस्त्यादि अर्थ पदार्थ–रूप ही समझा जाता है। अतः अर्थवाद भी पदरूप है। और विधि के साथ एकवाक्यता हो कर उसका जो बोध होता है वह 'पदैक वाक्यता' कहलाता है। यहां अर्थवाद वाक्यों से प्रथम प्रतीत अर्थ ही मूल विधि-वाक्यों के साथ अन्वित होने के समय परित्यक्त हो जाता है एवं समग्रवाक्यों से लक्षित एक निंदा या प्रशंसा–रूप अर्थ विधि–वाक्यार्थ में प्रविष्ट हो जाता है।

(यद्यपि अर्थवाद–वाक्य के साथ विधि–वाक्य की 'पदैक–वाक्यता' की स्वीकृति में सभी दार्शनिक एक मत नहीं हैं।)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके अलावा जहां भिन्न भिन्न अर्थ–प्रतिपादक दो वाक्यों को परस्पर आकांक्षा के कारण महावाक्यार्थ–बोधकत्व होता है वहां 'वाक्यैकवाक्यता' होती है। जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' 'स्वर्गेच्छु पुरुष दर्शपूर्णमास नामक याग करे'– इस विधि–वाक्य को सुनते ही 'दर्शपूर्णमास याग' स्वर्ग का साधन है–ऐसा अर्थ ज्ञात होता है। इसी प्रकार 'समिधो यजति' 'समिध संज्ञक याग करे'–इत्यादि विधिवाक्य से समिध याग का विधान भी प्रतीत होता है। परन्तु दर्शपूर्णमास याग से स्वर्ग कैसे संपादन किया जाय ? इस प्रकार अंगीभूत याग को अंगों की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार 'समिधो यजति' इत्यादि प्रयाज-रूप यागों का प्रत्यक्ष फल कुछ भी न बतलाने के कारण इस याग से क्या साध्य है ? ऐसी साध्य (अंगी) की आकांक्षा होती है। इस प्रकार पहले स्व–स्व अर्थ को बतला कर पुनः दोनों प्रकार के वाक्यों का परस्पर अन्दय हो कर समिधादि रूप अंगों का अनुष्ठान कर, 'दर्शपूर्णमास याग से स्वर्ग को पाना चाहिये' इस प्रकार से जो अंगांगिभाव रूप महावाक्यार्थ निष्पन्न होता है– उसी को 'वाक्यैक वाक्यता' कहते हैं। यहां एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ अन्वय होता है। और उन दो वाक्यों से मिल कर एक–रूप तात्पर्य निश्चित होता है, इसलिए इसे 'वाक्यैकवाक्यता' कहते हैं। कुमारिल यह कहते हैं –

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।
— तन्त्रवार्तिक १।४

इतने विस्तार में मीमांसा मत प्रदर्शित करने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि स्वयं गदाधर 'अनुमिति' ग्रंथ में मीमांसा सूत्र २।१।४७ को 'एकवाक्यता' के प्रसंग में उपस्थित करते हैं। और वे स्वयं 'एकवाक्यता' का उल्लेख करते समय 'वाक्यैकवाक्यता' को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रत्यक्ष ग्रन्थ के साथ अनुमिति ग्रंथ की संगति निश्चय ही 'वाक्यैकवाक्यता' का जबरदस्त उदाहरण है। 'अवयव प्रकरण' में भी गदाधर जब प्रतिज्ञादि पंच वाक्यों की एक–वाक्यता स्वीकार करते हैं तो वह 'वाक्यैकवाक्यता' का ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दीधितिकार कहते हैं –

प्रतिज्ञादिपंचवाक्यैरेकवाक्यतया स्वार्थ विशिष्टज्ञानं जन्यते।

गदाधर इस पर अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हैं —

एकवाक्यत्वं च विशिष्टैकार्थं प्रतिपादकत्वम्।

— अवयव प्रकरणे (पृष्ठ २५)

गदाधर के मत को पुनः द्वितीय परिच्छेद में उत्थापित किया जायेगा। प्रसंगतः वैयाकरणों के मत का भी उल्लेख करना वांछनीय होगा। मीमांसकों का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाक्य-लक्षण व्याकरण दर्शन में स्वीकार नहीं किया गया है। वार्तिककार कात्यायन वाक्य का लक्षण करते हैं –

आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्।
सक्रियाविशेषणं च।
एकतिङ्।

वार्तिक २।१।१ – १०, ११, १२

अर्थात् जिसमें क्रिया हो तथा उसके साथ अव्यय, कारक और विशेषण तथा क्रिया–विशेषण में से एक या सभी रह सकते हों, उसे वाक्य कहते हैं। जैसे– 'उच्चैः पठति' (ऊंची ध्वनि से पढ़ता है) 'ओदनं पचति' (भात पकाता है।) 'ओदनं मृदु विशदं पचति' (भात को मृदु और स्वच्छता से पकाता है।) 'सुष्ठु पचति' (अच्छी प्रकारसे पकाता है।)इन वाक्यों में क्रिया के साथ क्रमशः अव्यय, कारक, विशेषण तथा क्रिया–विशेषण अन्वित हुए हैं। अन्त में कहते हैं कि वाक्य का संक्षिप्त लक्षण है जहां एक तिङ् (तिङ् धातु या क्रिया का बोधक है) हो वही वाक्य है, जैसे—ब्रूहि, ब्रूहि (बोलो, बोलो)।

मीमांसकों के अनुसार वाक्य में प्रयोजन की एकता पर जोर दिया गया है। यदि अर्थ की एकता है तो एक से अधिक तिङन्त पद से युक्त को भी एकवाक्य कहना पडेगा। परन्तु कात्यायन ने अनुदात्त आदि की व्यवस्था के लिए एक वाक्य में एक ही तिङन्त का होना ठीक बतलाया है। इसका परिणाम यह होता है कि जहां एक से अधिक तिङन्त पद होगें, वहां उतने ही विभिन्न वाक्य माने जायेगें। जैसे –' अयं दण्डो हरानेन ' अथवा ' ओदनं पच तव भविष्यति ' इत्यादि स्थलों में प्रयोजन में ऐक्य होने के कारण मीमांसक एक–वाक्यता मानते हैं। कात्यायन के मत से वहां दो वाक्य हैं, क्योंकि दो तिङन्त पद हैं। प्रथम वाक्य में ' अयं दण्डः' के बाद ' अस्ति ' क्रिया का अध्याहार कर लेते हैं क्योंकि ' अस्ति ' क्रिया का कर्ता ' दण्ड ' है लेकिन ' दण्ड ' अन्य शब्द ' हरानेन ' से सम्बन्धित हो कर करण बन जाता है। इसी तरह द्वितीय वाक्य में भी दो वाक्य हैं। 'ओदनं पच, तव भविष्यति '। (भोजन पका, तेरा (भला) होगा।)

भर्तृहरि एक अन्य दृष्टान्त दे कर कात्यायन के मत से समाधान करने का प्रयास करते हैं। ' पूर्वं स्नाति पचति ततो व्रजति ' (पहले स्नान करता है, खाना पकाता है, फिर जाता है।) यहां पर कात्यायन के मत से एक वाक्य नहीं हो सकता है, क्योंकि तीन तिङन्त पद हैं। मीमांसकों के अनुसार यहां अर्थ की एकता के कारण एक–वाक्यता मानी जाती है। भर्तृहरि ने यहां पर यह समाधान दिया है कि यह वाक्य–भेद का उदाहरण नहीं है। ' जाता है'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह क्रिया यहाँ पर मुख्य है, अन्य क्रियायें 'स्नान करता है', 'खाना पकाता है' उसके विशेषण अर्थात् गौण क्रियायें हैं। कात्यायन के 'एक तिङ्' का भाव यह नहीं है कि एक वाक्य में एक से अधिक तिङन्त पद या क्रियाएँ नहीं रहनी चाहिऐ, अपितु यह भाव है कि एक वाक्य में एक मुख्य तिङन्त पद के साथ कितने ही क्त्वा प्रत्यय वाले क्रिया-पद रह सकते हैं। उक्त वाक्य क्त्वा प्रत्यय लगा कर कहें तो यह होगा-पहले स्नान करके, खाना पका कर फिर जाता है।

वाक्यपदीय २।६

यहाँ भर्तृहरि ने पाणिनि का अनुसरण किया है कि एक वाक्य में अनेक तिङन्त पद भी रह सकते हैं। अतएव पाणिनि ने 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) सूत्र में अतिङ् पद रखा है। यदि एक वाक्य में अनेक तिङन्त पद रह ही नहीं सकते तो 'अतिङ्' पद रखना व्यर्थ था, क्योंकि वे दो विभिन्न वाक्य हो जाते। भर्तृहरि का कथन है कि बहुत से तिङन्त पदों में भी परस्पर अर्थ की आकांक्षा होती है इसलिए उनमें एक वाक्यता होती है-

बहुष्वपि तिङन्तेषु साकांक्षेष्वेकवाक्यता।

—वा. प. २।४४२

पुण्यराज लिखते हैं कि आकांक्षादि के कारण एक-वाक्यता के बोधक (शब्द समूह) को वाक्य कहते हैं-

वस्तुतस्त्वाकांक्षायोग्यतासंन्निधिवशादेकवाक्यतां गतं वाक्यं बोद्धव्यम्।

— वा. प. २।३५३

अब तक वाक्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है उसके आधार पर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वाक्य का उपर्युक्त लक्षण निर्दोष है। क्योंकि वाक्य का यह लक्षण विवादग्रस्त है। पतंजलि ने महाभाष्य में (१-१-४४) इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रसिद्धि आदि के आधार पर वाक्य के स्थान पर वाक्य के एक अंश को तथा पद के स्थान पर पद के एक अंश का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'प्रविश' (घुसो) 'पिण्डीम्' (एक ग्रास को) 'तर्पणम्' (तर्पण) वाक्यांश 'घर में घुसो' 'ग्रास को खाओ' 'तर्पण करो' वाक्यों के लिये क्रमशः आए हैं। इनमें यथायोग्य क्रिया और कर्म आदि का आक्षेप कर लिया जाता है। कैय्यट कहते हैं-

दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान्
प्रयुञ्जानाः, पदेषु पदैकदेशान्।

भर्तृहरि ने इस बात पर भी ध्यान दिलाया है कि यदि पद के अन्दर ही क्रिया का अर्थ भी छिपा हो तो वह पद भी वाक्य ही माना जायेगा। जैसे 'द्वारं' पद के गर्भ में ही 'पिधेहि' या 'उद्घाटय' पद छिपा हुआ है। अतः इस एक पद को ही वाक्य कहा जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाक्यं तदपि मन्यन्ते, यत्पदं चरितक्रियम् ।

– वा. प. २।३२६.

पाणिनि ने तद्धित प्रकरण में ऐसे बहुत से नियम दिये हैं जिनके कारण क्रिया का अर्थ पद में आ जाता है। जैसे 'वैयाकरण' शब्द में व्याकरण को पढने या जानने की क्रिया का अर्थ भी समाविष्ट है। (अष्टाध्यायी ४।२।५८) यदि क्रिया का अर्थ ज्ञात है या हो सकता है तो व्यावहारिक वाक्यों में उसका प्रयोग नहीं भी किया जा सकता है। अर्थ–ज्ञान के समय उसका अध्याहार कर लिया जाता है।

जगदीश ने शब्दशक्ति प्रकाशिका ग्रंथ में इस बात को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि प्राचीन आचार्यों का यह कथन है कि क्रिया के बिना वाक्य नहीं होता है। यह युक्तिसंगत न होने से अश्रद्धेय है–

क्रियारहितं न वाक्यमस्तीत्यादिकस्तु प्राचांप्रवादो निर्युक्तिकत्वादश्रद्धेयः ।

– श. श. प्रकाशिका

(१३ की व्याख्या)

जैसे 'घटः' यह पद भी वाक्य है। 'कुतो भवान्' में क्रिया नहीं है। लेकिन फिर भी यह वाक्य है। वैयाकरणों के अनुसार यहां क्रिया गुप्त है। 'अस्ति' तथा 'आगच्छति' क्रिया का अध्याहार करने से ही इनका अर्थ पूर्ण होता है।

एकवाक्यता का लक्षण करते समय वैयाकरण आकार–रचना पर जोर देते हैं, जबकि नैयायिक अर्थ–प्रकाश पर बल देते हैं। इसलिये वैयाकरण क्रिया गुप्त रहने पर उसका अध्याहार करना उचित समझते है, क्योंकि उसके बिना वाक्य सम्पूर्ण नहीं होगा; जबकि नैयायिक यह मानते हैं कि बिना क्रिया के भी यदि अर्थ–ज्ञान हो जाए तो इसमें कोई दोष नहीं है। इतना होने के बावजूद भी नैयायिक और वैयाकरण दोनों ही यह मानते हैं कि एक–वाक्यता का आधार विशेष्य–विशेषण भाव है। वैयाकरण धात्वर्थ को मुख्य विशेष्य रूप में ग्रहण करते हैं। याने क्रिया या व्यापार ही मुख्य विशेष्य होता है। लेकिन नैयायिक प्रथमा विभक्ति के द्वारा उपस्थित अर्थ को ही मुख्य विशेष्य रूप से स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के अनुसार वाच्यार्थ–बोध में आख्यातार्थ आर्थी–भावना = पुरुष प्रवृत्ति ही मुख्य विशेष्य होती है। अन्य पदार्थ आख्यातार्थ को विशेषण के रूप में उपलब्ध होते हैं। लेकिन यहां पर इसकी विस्तृत आलोचना करना लक्ष्य नहीं है।

पुनः एक–वाक्यता के ही प्रसंग में गम्भीरता से सोचें तो प्रश्न उठता है कि एकवाक्यता कहां कहां स्वीकार की जानी चाहिये ? जहां पर एक तिङन्त पद हो अथवा जहां पर प्रयोजन एक हो ? यदि 'एक तिङ्' को ही वाक्य–लक्षण माना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाय तो 'पचति, भवति' तथा 'पश्य, मृगो धावति' स्थल में एकवाक्यता कैसे होगी? लेकिन वैयाकरण यहां एकवाक्यता की रक्षा के लिये कहते हैं कि 'पचति' तथा 'भवति' पद परस्पर साकांक्ष होने के कारण एकवाक्य हैं। इसी तरह 'पश्य' और 'मृगो धावति' भी परस्पर साकांक्ष होने के कारण एकवाक्य हैं। मीमांसकों का वाक्य-लक्षण अनायास ही यहां प्रविष्ट हो जाता है। वैयाकरण भी 'एक तिङ्' की जिद को छोड़ कर एकवाक्य स्वीकार नहीं कर लेते हैं।

इसी तरह नैयायिकों के मत से भी 'पचति भवति' में प्रथमान्त पद न होने के कारण वाक्य-बोध नहीं हो सकता है तथा 'पश्य मृगो धावति' में कार्यतः दो प्रथमान्त पद होने के कारण एकवाक्यता का निर्वाह कैसे होगा? नैयायिक यहां वैयाकरणों की तरह ही सारे नियमों को एक ताक पर रख कर तात्पर्य-बोध को ही महत्त्व देते हैं। 'पचति भवति' स्थल में प्रथमान्त पद के बिना ही 'पाकः भवनाश्रयः' रूप से एकवाक्य तथा 'पश्य मृगो धावति' स्थल में 'त्वं' प्रथमान्त पद को ही मान कर 'धावनानुकूलकृतिमान् मृग कर्मक दर्शनाश्रयः त्वम्' रूप से एकवाक्य स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ श्रूयमाण 'मृग' पद प्रथमान्त होने पर भी मुख्य विशेष्य रूप से स्वीकृत नहीं है।

ऊपर की पूरी आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि एकवाक्यता का निर्धारण किसी बंधे नियम से सम्बन्धित नहीं है—यह तो वक्ता के अभिप्राय और श्रोता की ग्रहण-बुद्धि पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिये पिता आदि पुत्र से कहता है 'कागज और कलम ले आओ' तो यहां पर पुत्र दोनों ही वस्तुएँ एक साथ ले आता है। अर्थात् 'ले आओ' क्रिया का अन्वय दोनों ही वस्तुओं के साथ एक साथ करके व्यवहार में प्रवृत्त होता है। यहाँ एकवाक्यता भी रह जाती है। लेकिन यदि उसने किसी कारणवश 'कागज' शब्द सुना ही न हो तो स्वाभाविक है कि वह 'कलम' शब्द के ही साथ 'ले आओ' क्रिया का अन्वय करेगा और पुनः आदेश प्राप्त होने पर 'कागज' शब्द के साथ भी अन्वय कर लेगा जो कि निश्चित रूप से वाक्य-भेद ही प्रदर्शित करता है, जब कि दोनों ही स्थलों में प्रयोजन एक ही था। लेकिन पहले उदाहरण में प्रयोजन वाक्य के साथ ही गृहीत हो गया और दूसरे स्थल में प्रयोजन दिग्भ्रमित हो गया।

अब एक तीसरा दृष्टान्त लेते हैं। पिता पुत्र को आदेश देता है – 'मेज और कुर्सी यहां रख दो'। पुत्र को वाक्यार्थ-बोध एक झटके में ही हो जाता है। 'मेज यहां रख दो' और 'कुर्सी यहां रख दो' ऐसा वाक्य-भेद उसे नहीं होता है। पर प्रवृत्ति के समय देखा जाता है कि वह एक एक करके ही वस्तुएँ रखता है। याने दोनों वस्तुएँ एक साथ लाने में असमर्थ होने पर वह पहले मेज या कुर्सी और बाद में अन्य वस्तु लाता है। यहाँ 'बोध' में एक-वाक्यता ही रक्षित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होती है, व्यवहार में वह भले ही न हो। इससे स्पष्ट होता है कि एकवाक्यता के नियम नैयायिक या वैयाकरण जैसे चाहें बना सकते हैं, पर उसका बोधवक्ता और श्रोता के मध्य एक समझौते की स्थिति है जो किसी नियम में बांधी नहीं जा सकती है, जहां थोडी बहुत स्वतंत्रता उन्हें देनी ही पडेगी।

इसलिए 'अस्ति स मे रोचते' 'नास्ति इमे' 'भवेदपि भवेत्' 'स्यादपि स्यात्' इत्यादि वाक्य विचार–भेद से एक वाक्य भी हैं और नाना वाक्य भी हैं। अनेक क्रिया–पद होने से नाना वाक्य हैं। परस्पर साकांक्ष होने से. क्रिया में परस्पर लक्ष्य–लक्षण भाव होने से अथवा काल–विशेष के लक्षण होने से एक वाक्य भी हैं। जो लोग वाक्य–भेद का आधार बुद्धि में अन्य का उल्लेख मानते हैं उनके मत में भी उपर्युक्त वाक्यों में एकवाक्यता हैं। भोज भी शृंगार प्रकाश में कहते हैं –

तत्र हि खलु वाक्यभेद उपेयते चात्रासौ
परामृश्यमानः अन्या बुद्धिरुल्लिखति।

इस संदर्भ में समूहालंबन शाब्द–बोध के साथ एकवाक्यता का पृथक्त्व उल्लेखनीय है। समूहालम्बन–ज्ञान स्थल में एकाधिक पदार्थ मुख्य विशेष्य रूप से प्रतीत होते हैं। जैसे 'घट पटौ' अथवा 'घट : पटश्च' यहां पर क्रमशः 'घटत्व निष्ठ प्रकारता–निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता शालि' एवं 'पटत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित पटनिष्ठ विशेष्यताशालि' ज्ञान होता है। अत एव घट एवं पट दोनों ही मुख्य विशेष्य रूप से प्रतीयमान होते हैं। समूहालम्बन–ज्ञान का अर्थ है –

'प्रकारत्वानवच्छिन्न विशेष्यता विशिष्ट
ज्ञानत्वं समूहालम्बनत्वम्'

अर्थात् समूहालंबन ज्ञान में प्रत्येक प्रकारता निरूपित पृथक्, पृथक् विशेष्यता रहती है, जब कि एकवाक्यता में नाना प्रकारता निरूपिता एक विलेष्यता अथवा नाना विशेष्यता निरूपिता एक प्रकारता रहती है।

II

उपर्युक्त आलोचना की पृष्ठभूमि पर, गदाधर इस समस्या का समाधान व्युत्पत्तिवाद ग्रंथ में किस प्रकार से करते हैं, यह जानना ही इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है। गदाधर इस समस्या का बीजारोपण इस प्रकार करते हैं–पद में निहित विभक्ति के द्वारा उत्थापित संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ के साथ किस सम्बन्ध से होता है ? चूंकि संख्या गुण है। अतः उसका सम्बन्ध संख्येय पदार्थ से समवाय सम्बन्ध से ही होना चाहिये। लेकिन समवाय सम्बन्ध से संख्या का अन्वय स्वीकार करने पर आकाशादि एक व्यक्ति स्थल में भी द्विवचन, बहुवचन का प्रयोग होने लगेगा। अर्थात् 'आकाशौ, आकाशा:' यह प्रतीति भी होने लगेगी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्योंकि समवाय सम्बन्ध तो एक ही है। समवाय सम्बन्ध से जैसे एकत्व आकाश में है वैसे ही द्वित्व और बहुत्व भी आकाश में रहेगा। परन्तु 'आकाशौ' 'आकाशा:' यह प्रतीति तो अप्रमा है। अतएव उक्त दोनों प्रतीतियों का निवारण करने के लिये ही संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ के साथ समवाय सम्बन्ध से न स्वीकार करके पर्याप्ति सम्बन्ध से स्वीकार किया जाता है। पर्याप्ति सम्बन्ध का अर्थ है।

पर्याप्तिश्च अयमेको घट: इमौ द्वाविति
प्रतीतिसाक्षिक: स्वरूप सम्बन्ध विशेष एव।
– अवच्छेदक निरुक्ति (दीधिति)

(पृष्ठ ३५)

अर्थात् 'एको घट:' 'द्वौ घटौ' इत्यादि स्थल में घट में जो एकत्व और द्वित्व की प्रतीति होती है वह पर्याप्ति सम्बन्ध से है। द्वित्व की प्रतीति किसी एक घट में नहीं होती है, बल्कि दोनों घटों में समुदित रूप से होती है। क्योंकि नियम है कि

'उभयत्वमुभयत्रैव पर्याप्तं न त्वेकत्रेति।

– मथुरानाथ (व्याप्तिपंचके)

उभयत्व उभय पदार्थों में ही पर्याप्त है, किसी एक में नहीं। अत: पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व घट और आकाश उभय में ही रह सकता है, किसी एक में नहीं। फिर 'आकाशौ' यह प्रतीति कैसे होगी? अर्थात् नहीं हो सकती। आकाश में तो सिर्फ एकत्व की ही पर्याप्ति रहती है।

इस पर आशंका होती है कि पर्याप्ति सम्बन्ध से भी 'आकाशौ' यह प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि नियम है –

प्रत्येकभुमयत्र पर्याप्तिसम्बन्धेनासतोऽव –
च्छेदकत्वस्य उभयत्र पर्याप्ति सम्बन्धेन सत्त्वायोगात्।

– सिद्धान्तलक्षणम् (जागदीशी)

अर्थात्, उभयत्व प्रत्येक में पृथक् रूप से वर्तमान रह कर ही एकत्र रूप से उभय में रहता है। यदि द्वित्व पर्याप्ति सम्बन्ध से पहले घट और आकाश में पृथक् पृथक् न रहता हो तो घट और आकाश उभय में कैसे रह सकता है? अतएव 'आकाशौ' यह प्रतीति प्रमा होने में कोई बाधा नहीं है।

गदाधर इस आशंका का उत्तर देते हैं कि यद्यपि शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से लेने पर 'आकाशौ' यह प्रतीति प्रमा हो जाती है तथापि 'उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य–पर्याप्तद्वित्व' सम्बन्ध स्वीकार करने पर 'आकाशौ' यह प्रतीति प्रमा नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहां पर उद्देश्यतावच्छेदक = आकाशत्व है, उसका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्याप्य = एकत्व है, द्वित्व नहीं है। अतः उद्देश्यतावच्छेदक-व्याप्य पर्याप्त एकत्व' सम्बन्ध से 'आकाशः' यह प्रतीति होगी, किन्तु 'उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य-पर्याप्तद्वित्व' सम्बन्ध यहां संभव ही न होने के कारण 'आकाशौ' यह प्रतीति हो ही नहीं सकती।

हमारी मूल समस्या यहां से प्रारंभ होती है कि उद्देश्यतावच्छेदक-व्याप्य-पर्याप्तद्वित्व' सम्बन्ध से अगर द्विवचनान्त विभक्ति का अन्वय प्रकृत्यर्थ के साथ स्वीकार किया जाय तो 'धवखदिरौ छिनत्ति' स्थल में वाक्यार्थबोध कैसे होगा? साधारणतः यहां एक धव (वृक्ष का नाम) और एक खदिर (वृक्ष का नाम) के तात्पर्य से ही 'धवखदिरौ' कहा गया है। पर द्वन्द्वसमास कर के यहां पर द्विवचन हुआ है। अतः द्विवचन का अन्वय किस प्रकार से होगा? चूंकि वक्ता का तात्पर्य एक-एक धव और खदिर में है इसलिए 'छिनत्ति' (छेदन करता है) क्रिया का अन्वय धव और खदिर उभयनिष्ठ द्वित्वाश्रय धव और खदिर के साथ ही होना चाहिये। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यपर्याप्तद्वित्व' सम्बन्ध यदि स्वीकार किया जाय तो यहां उद्देश्यतावच्छेदक = धवत्व और खदिरत्व है। अतः 'धवत्वव्याप्य-पर्याप्तिद्वित्व' तथा 'खदिरत्वत्वव्याप्यपर्याप्तिद्वित्व' सम्बन्ध दो हो गये, जिनका अन्वय क्रमशः धव और खदिर से होगा, जिससे 'धवखदिरौ' में प्रकारता रूप से दो 'द्वित्व' का बोध होने लगेगा – फलतः दो धव और दो खदिर की ही उपपत्ति होगी। इस तरह वक्ता का तात्पर्य भंग हो जायेगा।

वक्ता के तात्पर्य की रक्षा के लिये भी मीमांसक इसका समाधान इस प्रकार करते हैं। 'धव खदिरौ' स्थल में इतरेतर द्वन्द्व समास होने के कारण धव और खदिर उभय में निहित द्वित्व एक ही है किन्तु उसका (द्वित्व का) आश्रय दो हैं—धव और खदिर। अतः साहित्याश्रय (धव तथा खदिर) में एक वचनान्त क्रिया का अन्वय होता है। साहित्य का अर्थ है जब दो वस्तुऐं एक साथ रहती हैं तो उसे साहित्य कहते हैं (सहितत्व)। मीमांसक समास-स्थल में अन्तिम पद में 'साहित्याश्रय' में लक्षणा स्वीकार करते हैं तथा पूर्वपद तात्पर्य का ग्राहक मानते हैं। यदि साहित्याश्रय में लक्षणा स्वीकार न की जाय तो 'धवखदिरौ' स्थल में साहित्य का अवच्छेदक धवत्व और खदिरत्व होगा, तथा द्वित्व का सम्बन्ध धवत्व विशिष्ट धव और खदिरत्व विशिष्ट खदिर से होने के कारण दो धव और दो खदिर का बोध होने लगेगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः मीमांसक साहित्याश्रय में लक्षणा स्वीकार करते हैं। वैसा करने से धव और खदिर का अवच्छेदक साहित्य होगा। द्वित्व का सम्बन्ध साहित्य के आश्रय से होगा जो धव और खदिर दोनों हैं, इनमें से कोई एक नहीं है। उभय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में एक व्दित्व की प्रतीति होने के कारण व्दित्वव्दय की आपत्ति नहीं हो सकती हैं। अत: एक घव और एक खदिर के तात्पर्य से ही उक्त प्रयोग किया गया है। लक्ष्मीकान्त व्युत्पत्ति वाद की टीका में लिखते हैं—

मीमांसका हि घवखदिरावित्यादाविरेतरव्दन्द्वस्थले उत्तरपदे घवखदिरादि साहित्याश्रये लक्षणाऽतो व्दिवचनादे: प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्येव पर्याप्तिसम्बन्धेन स्वार्थव्दित्वाद्यनुभावकत्वेऽपि घवखदिरावित्यतो न घवद्वयस्य खदिरव्दयस्यच प्रतीतिरित्याहु: ।

—पृष्ठ ११०

न्यायमत में उपर्युक्त मीमांसक समाधान रुचिकर नहीं है, कारण साहित्याश्रय में लक्षणा स्वीकार करने पर भी दो घव और दो खदिर की आपत्ति हो ही जायेगी। साहित्य का तात्पंय है– ' तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं ' (एक जातीय क्रिया के साथ अन्वय होना) या " बुध्दिविशेषविशेष्यत्वम् " (नाना प्रकारक बुद्धि का एक विशेष्यत्व होना) । साहित्याश्रय में यदि लक्षणा स्वीकार की जाय तो जैसे साहित्य का आश्रय ' अयं घव:' ' अयं खदिर: ' इत्यादि बुद्धि–विशेष्य–रूप एक घव और एक खदिर हो सकता है वैसे ही ' इमौ घवौ ', ' इमौ खदिरौ ' इत्यादि बुध्दि–विशेष का विशेष्यत्व घवद्वय और खदिरद्वय भी हो सकता है। अतएव इतरेतर व्दन्व्द समास के स्थल में जहां घवत्व और खदिरत्व दो धर्म प्रकृत्यर्थतावच्छेदक रूप से भासमान होंगे वहां प्रत्येक धर्मविशिष्ट जो पदार्थव्दय है उसके समुदाय में व्दिवचनार्थ व्दित्व संख्या का अन्वय पर्याप्ति सम्बन्ध से होगा। " औ " प्रभृति व्दिवचन एक धर्म का साकांक्ष नहीं है वरन् उभय धर्म में ही साकांक्ष है। इस प्रकार साकांक्षत्व मानने के पश्चात् घवखदिरौ स्थल में घवव्दय खदिरव्दय का बोध नहीं होगा। ऐसा जगदीश भी कहते हैं–

यत्र नानाधर्माणां प्रकृत्यर्थतावच्छेदकत्वं तत्र ततद्धर्मावच्छिन्ने समुदित एव पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वादि बोधने द्विवचनादिकं साकांक्षं न तु तादृक्धर्मावच्छिन्नं परित्यज्य तथाविधापर धर्मावच्छिन्ने; यतो घवखदिरावित्यादितो घवयो: खदिरयोश्च बोधप्रसंग इति तत्त्वम् ।

– श. श. प्र. (पृष्ठ १६२–१६३) तृतीय खंड

गदाधर के अनुसार ' उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य पर्याप्तिद्वित्व ' सम्बन्ध स्वीकार न करके शुद्ध पर्याप्ति या समवाय द्वित्व सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो भी उक्त तात्पर्य भंग नहीं होगा। ' उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य पर्याप्तिद्वित्व ' सम्बन्ध वहीं पर स्वीकार किया जाता है जहां एक ही धर्म उद्देश्यतावच्छेदक होता है। जैसे—' घटौ '। किन्तु जहाँ पर धर्मद्वय उद्देश्यतावच्छेदक होते हैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वहां शुध्दपर्याप्ति या समवाय द्वित्व सम्बन्ध स्वीकार करेंगे। क्योंकि वहां पर उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य पर्याप्ति द्वित्व संभव नहीं है। यथा– 'घवखदिरौ' स्थल में उद्देश्यतावच्छेदक = घवत्व और खदिरत्व है। व्याप्यत्व का लक्षण है तव्ददन्यावृत्तित्व। अर्थात् यहां पर तव्दत् = घवत्व और खदिरत्व है। तव्ददन्य = घवत्ववदन्य = खदिरत्व है। तव्ददन्य = खदिरत्ववदन्य = घवत्व है। इस प्रकार तव्ददन्यावृत्तित्व = खदिरत्व और घवत्व में द्वित्वपर्याप्ति रह जाती है। अत: उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य पर्याप्ति द्वित्व नहीं हुआ। फलस्वरूप 'उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्त पर्याप्ति द्वित्व' सम्बन्ध संभव न होने से 'घवखदिरौ' स्थल में शुद्ध पर्याप्ति या समवाय ही द्वित्व सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा ऐसा कहने से एक घव और एक खदिर के तात्पर्य से ही 'घवखदिरौ' कहा गया है ऐसा भान हो जाता है। घव और खदिर में उभय को ले कर ही अन्वयितावच्छेदक द्वित्व का क्रिया–पद से अन्वय किया जाता है। जिससे एक घव और एक खदिर का तात्पर्य–बोध होता है। शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से उभयनिष्ठ द्वित्व ही अन्वयितावच्छेदक होगा।

(क्रियापद 'छिनत्ति' का अन्वय घव और खदिर से होता है। इस अन्वय सम्बन्ध के अन्वयी हुए घव और खदिर। तथा उनके अवच्छेदक या दूसरे शब्दों में कहें तो अन्वयितावच्छेदक हुवा द्वित्व)

यहां पर एक और आशंका होती है कि यदि नानाधर्मावच्छिन्न स्थल में (घवखदिरौ) शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध स्वीकार किया जायेगा तो 'घवौ', 'खदिरौ' इस समूहालम्बन शाब्दबोध के स्थल में भी नाना धर्म होने के कारण शुध्द पर्याप्ति सम्बन्ध क्यों नहीं माना जाना चाहिये? गदाधर इसका समाधान करते हैं कि समूहालम्बन स्थल में (घवौ, खदिरौ) शुध्द पर्याप्ति सम्बन्ध मानने से यह कठिनाई होगी कि घव और खदिर दोनों के समुदाय में द्वित्व का भान होगा और द्वित्व का अन्वय प्रत्येक घव और खदिर में होने से एक घव और एक खदिर का ही बोध होगा। किन्तु 'घवौ', 'खदिरौ' यह प्रयोग एक घव और एक खदिर के उद्देश्य से किया ही नहीं गया है। यहां तो दो घव और दो खदिर का तात्पर्य है।

अत: गदाधर मानते हैं कि एक–वाक्यता के स्थल में ही शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् 'घवखदिरौ छिनत्ति' स्थल में 'नानाधर्मावच्छिन्न निरूपिता एका द्वित्वनिष्ठप्रकारता' होने के कारण शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध स्वीकारने से कोई मुश्किल नहीं होगी। किन्तु 'घवौ', 'खदिरौ' समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध के स्थल में 'नानाधर्मावच्छिन्न विशेष्यता निरूपिता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नानाद्वित्वादिनिष्ठ प्रकारता ' होने के कारण ' उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य विशिष्ट पर्याप्ति ' सम्बन्ध को ही स्वीकारना पडेगा। ' घवौ ' में घव पद के अनन्तर द्विवचन होने के कारण द्वित्वनिरूपिता विशेष्यता पृथक् है और ' खदिरौ ' में खदिर पद के अनन्तर द्विवचन होने के कारण द्वित्वनिरूपिता विशेष्यता पृथक् है। अतः, एक घव और एक खदिर के तात्पर्य से ' घवौ ', ' खदिरौ ' नहीं कहा गया है। लेकिन ' घव-खदिरौ ' में घव खदिर उभयगत द्वित्व प्रत्येक में रहने पर भी द्वित्व पर्याप्ति नहीं है, अतः प्रत्येक में पृथक् पृथक् द्वित्व की प्रतीति नहीं होती है। फिर वहां दो घव और दो खदिर को प्रतीति कैसे होगी ?

इस पर भी यदि कोई आपत्ति करे कि ' घवखदिरौ 'में समूहालम्बन शाब्द-बोध ही स्वीकार कर लेने में क्या हानि है ? वहां एक-वाक्यता भी नहीं मानेंगे; तो ' घवखदिरौ ' वाक्य से दो घव और दो खदिर का बोध हो सकता है। इस पर गदाधर कहते हैं कि ' घवखदिरौ ' समास पद है। इस समास पद के अनन्तर द्विवचन भी है। अतः यहाँ नानाविशेष्यतानिरूपितैकद्वित्वादिप्रकारता-शालिज्ञान ' उत्पन्न होता है। अर्थात् विशेष्य भिन्न भिन्न होने पर भी प्रकारता में भेद होने के कारण यह समूहालम्बन शाब्दबोध नहीं है। इसी तरह से 'खड्गी चैत्रः कुण्डली ' स्थल में नाना प्रकारता निरूपित एक चैत्रनिष्ठ विशेष्यता होने के कारण समूहालम्बन शाब्द बोध नहीं होगा। यहां चैत्र मुख्य विशेष्य है; जिसमें नाना प्रकार है खड्गधारी, कुण्डलधारी होना। पहले ही कहा जा चुका है कि समूहालंबन शाब्दबोध स्थल में नाना प्रकारता निरूपित नाना मुख्य विशेष्यता होती है।

यदि समासघटक ' घवखदिरौ ' विषयक ज्ञान भी समूहालंबन शाब्दबोध ही होता तो समूहालंबन वाक्य ' घवौ ' ' खदिरौ ' से इसका वैलक्षण्य ही नहीं रहता। इसके साथ ही ' घवखदिरौ ' समासघटक वाक्य की एक-वाक्यता भी समाप्त हो जाती। यदि यहां पर विशेष्यता-भेद से प्रकारता-भेद भी रहता तो घव खदिर पद में परस्पर एक-वाक्यता नहीं रहती, और एक-वाक्यता न रहने से समास भी नहीं होता। ' घवखदिरौ छिनत्ति ' स्थल में समास होने के कारण ही एकवाक्यता मानी गई। यदि समास न होता तो एक-वाक्यता मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

विशेष्यता-भेद और प्रकारता-भेद से एक-वाक्यता क्यों नहीं होती है ? इसके उत्तर में गदाधर एक-वाक्यता का लक्षण करते हैं –

तत्प्रयोज्यविषयतया साक्षात् परम्परया वा निरूपिता विषयता तत्प्रयोजकत्वस्यैव तदेकवाक्यता पदार्थत्वात्।

व्युत्पत्तिवाद (पृष्ठ २०५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात् दो पदों में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव साक्षात् या परम्परा रूप से यदि हो तो उनमें एक-वाक्यता मानी जाती है। (यद्यपि यहाँ पर यह संदेह मन में रह ही जाता है कि पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव रहना चाहिये। उदाहरण के लिए 'राजपुरुषः'। यहां पर 'राज' 'पद' प्रयोज्य प्रकारताख्य विषयता साक्षात् रूप से पुरुषनिष्ठ विशेष्यताख्याविषयता का प्रयोजक है, वह 'पुरुष' पद में है। इसी तरह से 'पुरुष' पद प्रयोज्य विशेष्यताख्याविषयता साक्षात् रूप से जो राजनिष्ठ प्रकारताख्य विषयता का प्रयोजक है वह 'राज' पद में है; अतएव परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव रूप एक-वाक्यता रहने के कारण 'राजपुरुषः' समास पद हुआ तथा 'राज' और 'पुरुष' पद में परस्पर निरूप्य-निरूपक भाव हुआ।

(जिसके द्वारा जिसका निरूपण होता है उसे उसका निरूपक कहते हैं। यह ज्ञापक भी होता है। विशेष्यता की निरूपक प्रकारता है, प्रकारता की निरूपक विशेष्यता है। किसी पदार्थ में प्रकारता का भान नहीं होने पर, दूसरे किसी पदार्थ में विशेष्यता का भान नहीं हो सकता है, और किसी पदार्थ में विशेष्यता का भान न होने पर किसी अन्य पदार्थ में प्रकारता का भान नहीं हो सकता है। इसलिए विशेष्यता से निरूपित प्रकारता और प्रकारता से निरूपित विशेष्यता कही जाती है। वे परस्पर सापेक्ष हैं।)

इस प्रकार 'धवखदिरौ' स्थल में धवपदप्रयोज्य विशेष्यता निरूपिता, खदिरपद प्रयोज्य विशेष्यता निरूपिता द्वित्वनिष्ठ प्रकारता परम्परा रूप से है, क्योंकि धव और खदिर दोनों का द्वित्व के साथ निरूप्यनिरूपक भाव है। किन्तु धव का खदिर के साथ, या खदिर का धव के साथ निरूप्य-निरूपक भाव न होने के कारण यहां परम्परा सम्बन्ध लेना पड़ता है। यदि धवनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता द्वित्व प्रकारता खदिरनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता द्वित्व प्रकारता से भिन्न होती तो समास नहीं होता; उनमें प्रयोजक भाव भी नहीं होता तथा एक-वाक्यता भी नहीं होती। अतः धवखदिरोभयनिष्ठ विशेष्यताद्वयनिरूपित द्वित्वनिष्ठा एकैव प्रकारता यहाँ स्वीकृत है।

यह नियम है कि एक-वाक्यता यदि स्वीकृत न हो तो समास भी स्वीकृत नहीं होता है। यथा 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस स्थल में 'राज' पद और 'पुरुष' पद में समास नहीं हो सकता है क्योंकि पाणिनि सूत्र है 'समर्थ पदविधिः' (२।१।१)। समर्थ पदों में ही समास होता है। समर्थ का अर्थ है पदों में एकार्थभान या व्यपेक्षा-भाव का होना। (विशेष व्याख्या के लिये सूत्र देखें) राज और पुरुष पद परस्पर समर्थ न होने के कारण समासबद्ध नहीं हो सकते हैं। वे समर्थ इसलिए नहीं हैं क्योंकि 'राज' पद 'पुत्र' की अपेक्षा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रखता है जो समास का अघटक पद है। और 'पुरुष' पद भी 'अपसार्यताम्' पद की अपेक्षा रखता है जो कि समास का अघटक पद है। अतः 'राज' और 'पुरुष' पद दोनों ही परस्पर असमर्थ होने के कारण समासबद्ध नहीं हो सकते हैं। यहाँ वाक्य-भेद स्वीकार करना पड़ेगा। समास यहां असाधु है, अतः एक-वाक्यता नहीं होगी।

इसी विधि के कारण 'ऋद्धस्य राजमातङ्गा' स्थल में भी 'राज' पद के साथ 'ऋद्ध' पद का समास नहीं होता है क्योंकि 'राज' पद समास के अघटक ऋद्ध पद की अपेक्षा रखने के कारण असमर्थ है। लेकिन यहां पर आशंका होती है कि फिर 'मातङ्गा' पद को क्यों न असमर्थ माना जाय? इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसा नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह अनुभव-सिद्ध नहीं है।

गदाधर पुनः एक नवीन दृष्टान्त दे कर समस्या को एक नया मोड़ देते हैं। यथा 'जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ' (जल और पृथिवी में स्नेह और गंध हैं)। यहां 'जले स्नेहः पृथिव्यां गन्धः' (जल में स्नेह और पृथिवी में गन्ध है) — इत्याकारक समूहालंबन बोध होना चाहिये — ऐसी आपत्ति की जा सकती है।

किन्तु गदाधर इसे समूहालंबन से विलक्षण ज्ञान स्वीकारते हैं। वे इसे भी एक-वाक्यता के ही उदाहरण रूप में लेते हैं। 'जलपृथिव्योः' और 'स्नेहगन्धौ' दो पृथक् पृथक् समास हैं। जल और पृथिवी उभय में ही व्दिवचनान्त होने के कारण व्दित्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यता है। इसी तरह से स्नेह और गन्ध में भी व्दिवचनान्तता के कारण व्दित्वनिष्ठ प्रकारता निरूपिता विशेष्यता है। जिस तरह 'जलनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता' तथा 'पृथिवीनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता' एक व्दित्व निष्ठ प्रकाकता है, उसी तरह से 'स्नेहनिष्ठ विशेष्यता निरूपित' और 'गन्धनिष्ठ विशेष्यता निरूपित' एक व्दित्वनिष्ठ प्रकारता है। विशेष्यताभेद से प्रकारता-भेद न होने के कारण एक-वाक्यता भंग नहीं हुई है। यह शाब्दबोध ठीक उसी तरह से है जैसे कोई कहें, 'राम और श्याम मथुरा और वृन्दावन में रहते हैं'। यहां श्रोता अनायास ही तात्पर्य व्दारा यह समझ लेता है 'राम मथुरा में और श्याम वृन्दावन में रहता है।' इस तरह इसकी एक-वाक्यता भी नष्ट नहीं होती है।

गदाधर यहां पर पुनः एक विवादास्पद दृष्टान्त दे कर समस्या के चक्रव्यूह में घूसने का प्रयास करते हैं। यदि यह निर्विवाद रूप से मान लिया जाय कि विशेष्यता-भेद से प्रकारता-भेद न हो तो भी एक-वाक्यता होती है और समास भी होता है तो 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः' यहां पर चैत्र और मैत्र में परस्पर समास क्यों नहीं होता है? यहां पर चैत्र मैत्रनिष्ठ विशेष्यता भेद से व्दित्वनिष्ठ प्रकारता तो एक ही है। इसलिए चैत्र और मैत्र में परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बोध भी है। अत: एक–वाक्यता भी है। चैत्र और मैत्र पद में समास न होने पर भी प्रयोज्य–प्रयोजक भाव स्वीकृत है क्योंकि 'चैत्रपद प्रयोज्यविषयता निरूपित द्वित्व विषयता निरूपित विषयता' का प्रयोजकत्व मैत्र में है। अत: एक–वाक्यता भी स्वीकृत है। परन्तु यहां पर व्यभिचार स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। पूर्व के दृष्टान्त 'धवखदिरौ छिनत्ति' में समासबध्दता के कारण एक–वाक्यता स्वीकार की गई है, तथा 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छत:' बिना समास के ही एक–वाक्यता स्वीकार की गई है।

इसके उत्तर में गदाधर कहते हैं कि यद्यपि यहां पर एक–वाक्यता स्वीकृत है, तथापि समास–विधि में विकल्प के कारण यहां पर समास नहीं हुआ है। अर्थात् यहां समास हो भी सकता है, और नहीं भी हो सकता है। समास होने पर वाक्य का आकार होता–'चैत्रमैत्रौ गच्छत:'।

इस पर यदि कोई आशका करे कि यहां पर एक–वाक्यता ही नहीं माननी चाहिये, फलत: यहां समास मानने की आवश्यकता ही नहीं है। यह समूहालंबन शाब्द-बोध का उदाहरण है, अर्थात् चैत्रनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता-द्वित्वनिष्ठ प्रकारता से भिन्न मैत्रनिष्ठ विशेष्यता-निरूपिता द्वित्वनिष्ठ प्रकारता है। ऐसी अवस्था में समूहालम्बन शाब्द-बोध होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये।

इस पर गदाधर कहते हैं कि समूहालम्बन शाब्द-बोध स्वीकार करने पर चैत्रमैत्रोभयनिष्ठ एक द्वित्व की प्रतीति न होने के कारण चैत्रनिष्ठ पृथक् द्वित्व और मैत्रनिष्ठ पृथक् द्वित्व की प्रतीति होने के कारण चैत्रद्वय और मैत्रद्वय का बोध होने लगेगा, जो इष्ट नहीं है। क्योंकि उक्त प्रयोग एक चैत्र और एक मैत्र के तात्पर्य से ही किया गया है। समूहालम्बन शाब्दबोध मानने से उक्त तात्पर्य की अनुपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् कहने का मतलब है कि एक–वाक्यता यहां माननी पडेगी, समास चाहे मानो या न मानो।

पूर्व के परिच्छेद में गदाधर के मत को बिना किसी आलोचनात्मक टिप्पणी के ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया गया है। इससे हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पद-समूह में एक–वाक्यता है अथवा नहीं यह पदों के आपसी रिश्तों के ऊपर निर्भर करता है। यदि उनके द्वारा किसी 'एकार्थ' की प्रतीति होती है या उनमें परस्पर प्रयोज्य–प्रयोजक भाव है तो इनमें एक–वाक्यता मानी जायेगी।

इसके अलावा यदि ऐसे पदसमूह में प्रथमान्त मुख्य विशेष्य एक ही है तो बाकी सभी विशेषणों का पतन उसी में आकर होगा, 'खले कपोत न्याय की तरह' अथवा 'विशिष्ट वैशिष्टय रीति' से। उदाहरण के लिये–'छत्री कुन्डली वासस्वी देवदत्त:' स्थल में देवदत्त रूप विशेष्य में छत्र, कुण्डलादि विशेषण युगपत् ही भासमान होते हैं। एक विशेष्य में युगपत् एकाधिक विशेषण भासमान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होने से 'खले कपोत न्याय' के अनुसार वाक्यार्थ-बोध होता है। इसमें कोई क्रम नहीं होता है।

दूसरे प्रकार में 'छत्रविशिष्ट देवदत्त' 'कुन्डलविशिष्ट देवदत्त', तथा 'वासविशिष्ट देवदत्त' इत्यादि खण्डवाक्यार्थ-बोध होता है, पश्चात् महावाक्यार्थ बोध होता है। खण्डवाक्यार्थ बोध विशेषणतावच्छेदक प्रकारक विशेषण का ज्ञान होने के कारण, उससे जो महावाक्यार्थ बोध होता है वह 'विशिष्टस्य वैशिष्ट्य' विषयक होता है। (विशेष आलोचना के लिए मुक्तावली द्रष्टव्य।) उक्त दोनों ही रीतियों का वर्णन यहां विस्तार के भय से नहीं किया गया है।

लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या ये सभी नियम सर्वत्र लागू किये जा सकते हैं? क्या हमारे सभी दृष्टान्त इस एक-वाक्यता के ढांचे में यथावत् बैठ पाते हैं? उदाहरण के लिये 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः' इस दृष्टान्त को ही लिया जाय। नाना मुख्यविशेष्यक तथा नाना धर्मप्रकारक होने के उपरान्त भी, नाना विशेष्यता-निष्ठ संख्या में क्रिया-पद का अन्वय होता है। समास न मानने पर भी एक-वाक्यता यहां माननी पड़ती है, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य ही बलवान् है।

दूसरा उदाहरण लें- 'जल पृथिव्यां स्नेहगन्धौ' यहां पर हमें यह बोध है कि 'जल में स्नेह और पृथिवी में गंध है' इसका कारण है कि हमें पूर्व से ही ज्ञात है कि जल का गुण स्नेह है और पृथिवी का गुण गन्ध है। जिस श्रोता को न्याय के पदार्थों के सम्बन्ध में जरा भी ज्ञान नहीं है उसे यह बोध कैसे होगा, यह विचारणीय है। क्या उसे ऐसा बोध नहीं हो सकता है कि जल और पृथिवी दोनो में ही स्नेह और गन्ध है। पर यदि ऐसा हो गया तो वक्ता का तात्पर्य बिल्कुल ही भंग हो जायेगा।

तीसरा उदाहरण लें- 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' स्थल में भी 'राज' और 'पुरुष' पद में समास का वारण करने के लिये ही पदों में परस्पर समर्थता को आवश्यक कहा गया है। पर बिना तात्पर्य समझते हम यह कैसे कह सकते हैं कि 'राज' और 'पुरुष' पद समासबद्ध होने पर परस्पर असमर्थ हैं। 'ऋद्धस्य राजमातंगा' स्थल में 'ऋद्ध' पद का 'राज' पद के साथ समास नहीं हो सकता है क्योंकि यह तात्पर्य-बोध पर ही निर्भर करता है। यहां पर तात्पर्य है 'धनवान् व्यक्ति का राजहाथी'। किन्तु यदि 'ऋद्ध' पद का 'राज' पद के साथ समास हो गया तो अर्थ होगा 'धनवान् राजा का हाथी' जो यहां इष्ट नहीं है।

इसलिये एक बात बिलकुल निश्चित जान पड़ती है कि वाक्य-भेद हो या एक-वाक्यता-यह इस बात पर निर्भर करता है कि हमारी उस भाषा में पैठ कितनी है। यदि उस भाषा के नियम, उसकी संस्कृति, बोलने वालों का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामाजिक आचारण इत्यादि हमें ज्ञात नहीं है तो भाषा का रसास्वादन असंभव हो जाता है। भाषा न ही किताबों से सीखी जाने वाली कोई विद्या है और न ही नियमों से बंधी हुई कोई थाती, जो जब चाहे किताब खोल कर नियम सीख लें और भाषा का पंडित हो जाय। भाषा हमारे व्यवहार पर निर्भर करती है। इसलिए समय के साथ-साथ भाषा में परिवर्तन वांछनीय हो जाता है। समय से पिछडी हुई भाषा रुके हुए पानी की तरह सड़ांध उत्पन्न करने लगती है। अतः आवश्यकता है भाषा की गहरी समझ की जिसके अभाव में हमारी अवस्था कुछ वैसी ही होगी कि किसी ने कहा 'कौवा तुम्हारा कान ले गया' तो हम बजाय इसका अर्थ समझे या तो कान को पकड़ कर देखने लगें या कौवे की तरफ दौड़ने लगें।

१, जतीन्द्र मोहन एवेन्यू
दूसरी मंझिल
कलकत्ता – ७००००६

मधु कपूर

ग्रंथ-सूची

१) व्युत्पत्तिवाद (गदाधर)– शिवदत्तमिश्रकृत दीपिका टीका – भारतीय विद्या प्रकाशन (वाराणसी)

२. शक्तिवाद (गदाधर) – विवृत्ति टीका सह – काशी संस्कृत सीरिज आफिस, विद्या विलास प्रेस, वाराणसी।

३. शब्दशक्ति प्रकाशिका –जगदीश तर्कालङ्कार, संस्कृत कालेज, कलकत्ता (बंगला में)

४. न्याय-दर्शन – अनन्तलाल ठाकुर सम्पादित, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

५ तर्कभाषा – केशवमिश्र – श्री बदरीनाथ शुक्ल व्याख्याकार (मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी)

६. मीमांसा दर्शनम् – (भाष्य-तन्त्रवार्तिक)– श्री महाप्रभुलाल गोस्वामी सम्पादित (तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी)

७. अनुमिति (गादाधरी)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

८. अवयव प्रकरण (गादाधरी)– श्री. पं. ज्वाला प्रसाद गौड़ कृत टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

९. वाक्यपदीय (द्वितीय मार्ग) – वाक्यकाण्ड – भर्तृहरि, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.

१०. वाक्यार्थ निरूपणेर दार्शनिक पद्धति – डॉ. योगेन्द्र नाथ बागची – संस्कृत बुक डिपो प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता (बंगला में)

११. अर्थ–विज्ञान और व्याकरण दर्शन – कपिलदेव द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)

१२. संस्कृत व्याकरण दर्शन – राम सुरेश त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

१३. पाणिनीय व्याकरण महाभाष्यम् – निर्णयसागर मुद्रित।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुसन्धान की दिशाएं : जैन-विद्या के परिप्रेक्ष्य में

भगवान् महावीर की २५०० वीं जन्मशती के सुअवसर पर अन्यान्य विश्वविद्यालयों में जैनविद्या से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर अनुसन्धान किया जाय, उसके अभी तक अनुद्घाटित पक्षों को जिज्ञासुओं के सामने प्रस्तुत किया जाय, उक्त विद्या के अध्ययन के लिये उचित मात्रा में प्रोत्साहन मिले इस उद्देश्य से एक ओर अध्यासनों की स्थापना हुई तो दूसरी ओर अन्यान्य संस्थाओं का निर्माण किया गया। जैन विद्या के विकास की दृष्टि से किये इस प्रकार के सारे प्रयास – चाहे वे वैयक्तिक, सामूहिक या सरकारी आदि जिस स्तर पर भी किये गये हों – एक हद तक उचित ही माने जायेंगे। तथापि इस प्रकार के सराहनीय प्रयासों के बावजूद जैनविद्या के सम्बन्ध में – अन्य भारतीय विद्याओं के अध्ययन के बारे में भी दुर्भाग्यवशात् भिन्न प्रकार की स्थिति नहीं है– अध्ययन–अध्यापन तथा अनुसन्धान के क्षेत्र में जिस प्रकार के ठोस, गम्भीर एवं व्यापक प्रयास किये जाने चाहिये थे वैसे नहीं किये गये। इसके कई कारण हैं। उन सारे कारणों की विस्तृत मीमांसा प्रस्तुत करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य नहीं है। लेकिन उसके कई कारणों में से एक ओर जैसे दिन–ब–दिन अध्ययन, अध्यापन, गम्भीर चिन्तन एवं मनन तथा अनुसन्धान की ओर घटती जाने वाली रुचि एवं निष्ठा एक है वैसे ही दूसरी ओर जैनविद्या से सम्बन्धित–अध्ययन–अध्यापन तथा अनुसन्धान की कौनसी दिशाएं हो सकती हैं, उनमें समन्वय और परस्पर सम्बंध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उनकी स्वीकार्यता तथा वरीयता का आधार क्या हो सकता है, तथा इस प्रकार के अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसन्धान का समसामयिक महत्त्व क्या होना चाहिये इनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्तर पर किये जाने वाले चिन्तन का अभाव भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। इस प्रकार की दिशाहीन स्थिति में कुछ परिवर्तन लाया जाय; जैनविद्या के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर चिन्तन एवं अनुसन्धान हो इस उद्देश्य से उससे सम्बन्धित पहलुओं के अनुसन्धान की कुछ दिशाएँ प्रस्तुत करना और उनकी स्वीकार्यता का समर्थन करना इस लेख का उद्देश्य है।

मुख्य रूप से देखा जाय तो जैनविद्या के क्षेत्र में अनुसन्धान करने के चार महत्त्वपूर्ण स्तर दिखायी देते हैं। उनमें हर एक स्तर पर एक से अधिक दिशाओं से गम्भीर अनुसन्धान किया जा सकता है। इसका यह मतलब नहीं है कि ये सारे स्तर एक–दूसरे जैसे ही महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि आगे बताया जायगा उनमें से कुछ साधन–रूप हैं, तो अन्य साध्य–रूप। लेकिन उनमें इस प्रकार का भेद होते हुए भी उनकी आवश्यकता में यह स्थिति बाधाकारक नहीं हो सकती। जिन चार स्तरों की आगे चर्चा की जायगी उनमें से प्रथम तथा द्वितीय स्तर संपूर्णतः तो तृतीय स्तर कम–से–कम अंशतः साधन रूप हैं। इन में परस्पर तुलना करने पर दिखायी देगा की तृतीय तथा चतुर्थ स्तर का अनुसन्धान मुख्यतः साध्य–रूप है, यद्यपि उनमें भी होने वाला साधनांश का हिस्सा नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता।

इस पृष्ठभूमि पर हम आगे जैनविद्या से सम्बन्धित अनुसन्धान के चार महत्त्वपूर्ण स्तरों को जिज्ञासुओं के गम्भीर चिन्तन के लिये अपनी सीमित दृष्टि से प्रस्तुत करना चाहते हैं। साथ-साथ-उनकी आवश्यकता, स्वीकारार्हता तथा युक्ति-युक्तता के बारे में भी अपने विचार प्रस्तुत करेंगे।

१) भाषा, व्याकरण, शब्दव्युत्पत्ति, कोशवाङ्मय, भाषान्तर के स्तर पर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान – किसी भी वैचारिक परम्परा का चिन्तन भाषिक स्तर पर ही प्रस्तुत किया जा सकता है, चाहे वह भाषा मौखिक हो या लिखित हो। जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य बातों के बारे में किया गया चिन्तन प्राकृत भाषा के स्तर पर लगभग पूर्णरूपेण मौखिक, तो अपभ्रंश भाषा के स्तर पर मौखिक तथा लिखित दोनों रूपों में, और संस्कृत के स्तर पर संभवतः पूर्णरूपेण लिखित रूप में प्रस्तुत हुआ। इन भाषाओं में विचार का प्रस्तुतीकरण किये जाने के साथ अन्यान्य नूतन शब्दप्रयोग किये गये तथा तकनीकी शब्दप्रयोग भी प्रयुक्त हुए, उनके अर्थ तथा व्युत्पत्ति के बारे में चर्चा हुई और कालान्तर में उनके अर्थों के बारे में यथासम्भव एकवाक्यता लाने का भरसक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयास किया गया गया। तथापि इसका मतलब यह नहीं लिया जा सकता कि जैनविद्या के क्षेत्र में विचार करने वाले मनीषियों में मतवैभिन्न्य का अभाव रहा। मत-मतान्तरों का स्वागत यह तो भारतवर्ष की एक उज्ज्वल परम्परा रही है, तो जैन-विद्या का क्षेत्र इसका अपवाद कैसे होता ? आज इस विद्या के क्षेत्र में अनुसन्धान, अध्ययन तथा अध्यापन करने वाले बहुसंख्य लोगों की दुर्भाग्यवशात् यह स्थिति हुई है कि उनका इन भाषाओं के साथ जीवन्त संपर्क नहीं रहा है। इस दिशा में प्रयास करने वाले युवा पीढी के व्यक्तियों की स्थिति तो इससे भी चिन्तनीय है। इसलिये जिज्ञासुओं के उपयोगार्थ, अध्ययन-अध्यापन तथा अनुसन्धान में साधनभूत सिद्ध होने वाले साहित्य के निर्माण में अभ्यासकों को अपना उचित सहयोग और योगदान देना चाहिये। इस दृष्टि से देखते हुए इन भाषाओं में जैनविद्या से सम्बन्धित प्रयुक्त शब्द, तकनीकी शब्दप्रयोग आदि के कोश तथा उक्त शब्दों की व्याकरणिक संरचना तथा शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से चर्चा होनी चाहिये। ऐसा करते समय जैनेंद्र व्याकरण जैसा अलग व्याकरण संस्कृत भाषा में लिखा गया था इसका भी उचित ख्याल रखना चाहिये। उसी तरह अन्यान्य जैन भण्डारों में पडे हस्तलिखित ग्रन्थों की विस्तृत सूचियाँ भी उपलब्ध करानी चाहिये, ताकि कम-से-कम इस बात का पता चले कि कौनसे ग्रन्थ कहाँ उपलब्ध हैं और उनमें कौनसे विषयों की चर्चा की गयी है। साथ ही जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अंगरेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि युरोपीय, जापानी जैसी पूर्वी भाषाओं में सुव्यवस्थित भाषान्तर प्रस्तुत किये जाने चाहिये, उसी तरह हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड, बंगला आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी। लेकिन इस प्रकार के साहित्य का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी दो बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये, नहीं तो आनुसन्धानिक प्रयासों के बारे में गलतफहमियाँ फैलने की नितराम् सम्भावना है। एक तो यह कि इस प्रकार का सारा प्रयास अपने आप में साध्य के रूप में आनुसन्धानिक महत्त्व नहीं रखता। याने, इस प्रकार का अनुसन्धान करना स्वयं में उसका उद्देश्य नहीं हो सकता। व्याकरण, सूचि, कोश शब्दव्युत्पत्ति, आदि महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अनुसन्धान के साधन हैं, तो भाषान्तर जैसे प्रयास पहले से ही एक भाषा में उपलब्ध वैचारिक सामग्री को अन्य भाषा में प्रस्तुत करने के या उसका अधिक व्यापक प्रसार-प्रचार करने के। दूसरे, अनुसन्धान के साधनों की हैसियत से यद्यपि इनका अपना महत्त्व और औचित्य है तथापि मात्र इन्हीं के द्वारा अनुसन्धान की गम्भीरता अपने आप नहीं बढती। इसलिये कोश, भाषान्तर आदि के स्तर तक ही अनुसन्धान को सीमित रखने से साधन-रूप तथा सतही स्तर पर ही उसे बांध कर रखने जैसा है। इसलिये अनुसन्धान की अन्यान्य दिशाओं तथा उसके महत्त्व के बारे में सोचते समय उसके विस्तार तथा गहराई का जिस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार ख्याल रखना आवश्यक है उसी तरह यह भी आवश्यक है कि वह मात्र चर्वित-चर्वण तक ही सीमित न रहे। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि मात्र संस्कृत, प्राकृत जैसी भाषाअें अवगत होने से जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य पक्षों में गम्भीर अनुसन्धान नहीं हो पायेगा। क्यों कि अगर यही अच्छा अनुसंधान किय जाने की एकमेव शर्त होती तो अंगरेजी भाषा जानने वालों से ही भौतिकी, गणित, दर्शन आदि विषयों में गम्भीर अनुसन्धान किया जाना चाहिये था, क्योंकि उक्त भाषा में उन विषयों पर सैकडों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सारांश रूप में यह स्वीकार करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि भाषिक या सूचि तथा कोश के स्तर पर किया जाने वाला अनुसन्धान संपूर्णतः महत्त्वहीन न होते हुए भी आनुसन्धानिक प्रयास का एकमेव उद्देश्य नहीं हो सकता।

(२) दशकों या सदियों पहले प्रकाशित लेकिन अब अनुपलब्ध एवं अब तक अप्रकाशित ग्रन्थों के स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान-जैनविद्या के के अन्यान्य पहलुओं से सम्बन्धित कई ग्रन्थ भण्डारों, ग्रन्थालयों में तथा व्यक्तियों के पास अप्रकाशित तथा हस्तलिखित रूप में पडे हैं। उनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश जैसी भाषाओं में रचित ग्रन्थ हैं उसी तरह आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी अनेक ग्रन्थ हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों का यथासम्भव प्रकाशन होना चाहिये। साथ साथ ऐसे भी कई ग्रन्थ हैं जो दशकों या सदियों पहले प्रकाशित हुए थे और आज सर्वथा अप्राप्य या दुष्प्राप्य हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों का पुनर्प्रकाशन किया जाना चाहिये। लेकिन ऐसा करते समय जहाँ तक हो सके दो बातों का ख्याल रखना चाहिये। एक तो यह कि प्रकाशित पुस्तकों का दाम ऐसे रखा जाय कि उन्हें जिज्ञासु व्यक्ति भी आसानी खरीद सकें। दूसरे, आज तक प्रकाशित या अप्रकाशित ग्रन्थों के बारे में अनुसन्धान की दृष्टि से कई त्रुटियाँ दिखायी देती हैं। पहले सारा ग्रन्थ पढ़ा-पढ़ाया जाता था। आज वह परम्परा नष्ट हो गयी है। आज-कल कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक सन्दर्भ कैसे प्राप्त किये जायें इसकी ओर दृष्टि रहती है। अतः यह देखना आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक प्रकाशनीय ग्रन्थ सम्पादन की दष्टि से त्रुटिपूर्ण न हो। जैनविद्या से सम्बन्धित ऐसे सैकडों ग्रन्थ हैं जिनमें अनुक्रमणिका, प्रकरणों या अध्यायों के शीर्षक (प्रथमाध्याय, द्वितीयाध्याय इस प्रकार के नहीं) परिच्छेदों या उपपरिच्छेदों के शीर्षक, उध्दरणों के उचित सन्दर्भ, ग्रन्थों तथा ग्रन्थकर्ताओं के सन्दर्भ, नाम-सूची, विषय-सूची आदि का अभाव है। कई उध्दरण उनमें 'उच्यते', 'कथ्यते', 'आह', 'उक्तं च' इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे यह पता नहीं चलता कि उक्त उध्दरण किसके तथा किस ग्रन्थ से लिया गया है, और जैसा वह दिया गया है वैसा ही वह उक्त ग्रन्थ में उपलब्ध है या उससे अन्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप में । इस प्रकार की त्रुटियां प्राचीन काल में त्रुटियां नहीं गिनी जाती थीं क्योंकि उस समय हर एक ग्रन्थ समग्र पढ़ा जाता था और बहुत से ग्रन्थ समग्र रूप में व्यक्तियों के स्मति-पटल पर उपस्थित रहा करते थे । इसके फलस्वरूप उध्दरण दिये जाने के साथ ही वह किस ग्रन्थ से है इसकी खोज करने के लिये पाठकों या श्रोताओं को महत्प्रयास नहीं करना पडता था। आज की स्थिति में इस दृष्टि से इतना विस्तृत एवं गम्भीर परिवर्तन हुआ है कि न हमने उक्त ग्रन्थ पढे हैं, न ही उनमें से अनेक हमारे पास आज उपलब्ध हैं । इसलिये आज कल उनका प्रकाशन / सम्पादन करते समय उनमें इस प्रकार की त्रुटियाँ न रहने पाये इस पर उचित एवं पर्याप्त ध्यान देना चाहिये, नहीं तो ग्रन्थों के प्रकाशन के बावजूद उनसे जो आनुसन्धानिक लाभ होना चाहिये वह नहीं हो पायेगा । ग्रन्थों के सुयोग्य सम्पादन तथा प्रस्तुतीकरण के तीन अच्छे उदाहरण देना इस सन्दर्भ में उचित होगा – (१) स्वामी योगीन्द्रानन्द जी के द्वारा सम्पादित भासर्वज्ञ का न्यायसार तथा न्यायभूषण यह ग्रथ । (२) पण्डित डॉ. दलसुख मालवणिया जी के व्दारा सम्पादित धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का स्वार्थानुमानपरिच्छेद तथा उसके ऊपर की उनकी स्वोपज्ञवृत्ति । (३) पण्डित मुनी जम्बुविजय जी के व्दारा तीन खण्डों में सम्पादित श्री मल्लिवादी क्षमाश्रमण का द्वादशारनयचक्र – तथा उसके ऊपर की श्रीसिंहसूरी की वृत्ति । ग्रन्थों का इस प्रकार सम्पादन करने में अत्यधिक श्रम तो अवश्य करना पड़ता है, लेकिन सम्पादित ग्रन्थ की अर्थवत्ता और आनुसन्धानिक महत्ता भी उससे कई गुना बढ जाती है। ग्रन्थों का इस प्रकार सुव्यवस्थित सम्पादन तथा प्रकाशन करते समय राष्ट्रीय स्तर पर इसका भी ख्याल रखाना चाहिये कि एक ही ग्रन्थ का अन्यान्य व्यक्तियों या संस्थाओं के व्दारा संपादन तथा प्रकाशन कर उसी प्रकार के काम को आवश्यकता न होने के बावजूद दुहराया न जाय और इस प्रकार श्रम, शक्ति, बुद्धि तथा धन का अपव्यय न हो। एक दृष्टि से देखा जाय तो इस प्रकार का अनुसन्धान भी साधनात्मक ही गिना जाना चाहिये, साध्यात्मक नहीं। इस प्रकार पहले तथा दूसरे प्रकार का आनुसन्धानात्मक प्रयास यद्यपि साधनात्मक ही होता है, साध्यात्मक नहीं, तथापि तुलनात्मक दृष्टि से दूसरे प्रकार का आनुसन्धानिक प्रयास पहले की तुलना में अगले अनुसन्धान के लिये अधिक उत्प्ररक होता है।

(३) ग्रन्थों में चर्चित विषयों के स्तर पर संभाव्य अनुसन्धान–इस स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान एकाधिक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो सकता है, विशेष रूप से यदि वह किस ग्रन्थ में क्या कहा गया है यह संक्षेपत: बताने तक ही सीमित न रहे । इस प्रकार के वर्णनात्मक तथा सतही परिचयात्मक प्रस्तुतीकरण का छात्रों की दृष्टि से यद्यपि महत्व है तथापि सारे आनुसन्धानिक प्रयास इसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्तर तक सीमित रखने से उन्ही बातों को अलग अलग शब्दों में दुहराया जाने का खतरा इससे उदभूत होता है, जिससे एक गलतहफमी यह उत्पन्न हो जाती है कि यद्यपि उक्त ग्रन्थों में चर्चित विषयों का ऐतिहासिक महत्त्व था, तथापि न वर्तमान स्थिति में उनकी कोई सार्थकता है न ही भविष्य की दृष्टि से कोई उपादेयता। इस प्रकार सतही स्तर पर किये गये सामान्य परिचयात्मक तथा वर्णनात्मक प्रस्तुततीकरण से और भी एक धोखा पैदा होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार के धोखे के हम सदियों से लगातार शिकार होते आये हैं जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित विविध विषय, विचारकों में होने वाले मतभेद—चाहे वे एक ही पक्ष के समर्थक हों या विभिन्न तात्त्विक पक्षों के–एक तो पूर्णतः महत्त्वहीन थे या कम-से-कम नगण्य। इस प्रकार समान सूत्रों को पकड़ कर सतही स्तर पर लगभग हर एक तात्त्विक परम्परा के स्वीकार्य सिद्धान्तों के प्रस्तुती करण की परम्परा माधवाचार्य के द्वारा रचित **सर्व-दर्शन-संग्रह** जैसे या हरिभद्र सूरि के व्दारा रचित **षड्दर्शनसमुच्चय** जैसे ग्रन्थों से उदभूत हुई और उसी परम्परा में तथाकथित सारे भारतीय दर्शनों के इतिहासों की रचना की गयी है – – चाहे वे पश्चिमी लेखकों के द्वारा लिखे गये हों या भारतीय। साथ–साथ धार्मिक, तात्त्विक, सभ्यताविषयक, सांस्कृतिक, सामाजिक, नीतिविषयक तथा अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित भिन्न भिन्न बातों, संकल्पनाओं, प्रश्नों, मुद्दों का एक दूसरे से इस प्रकार घपला किया गया है कि हमारे पूर्वजों के सामने कोई तात्त्विक, नीतिविषयक, सामाजिक आदि प्रकार का प्रश्न शुद्ध रूप में प्रस्तुत हुआ था या नहीं इसकी गम्भीर आशंका बनी रहे। दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता के बाद भी इस प्रकार की वैचारिक स्थिति में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं दिखायी देता और हम न केवल उसी प्रकार की वैचारिक दासता के शिकार होते आये हैं जिसे हमने परतन्त्रता के परिप्रेक्ष्य में स्वीकार किया था, अपितु इसी प्रकार की वैचारिक दासता के शिकार होते रहने में हम तथा–कथित स्वाधीनता के परिप्रेक्ष्य में भी गर्व का अनुभव करते हैं। इसलिये पश्चिम में उदभूत नयी-नयी वैचारिक परम्पराओं को हम जिस अधीरता के साथ अपनाते चले हैं, उसे देख कर ऐसा लगता है कि मानों हमारे मन में यह विश्वास तथा आस्था साधार (?) दृढमूल हो गयी है कि हमारे पूर्वजों के पास न कुछ विचारणीय था और न ही हमें उसके प्रति सतर्क रहने की कोई आवश्यकता है। इस प्रकार के धोखे की तथा उससे उद्भूत होने वाले परिणामों की मौखिक एवं लिखित रूप में अनेक बार अन्यान्य मञ्चों से हमने चर्चा की है। इसलिये उक्त बातों को दुहराना नहीं चाहते।

जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित विविध विषयों, संकल्प-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नाओं, प्रश्नों, मुद्दों के परिप्रेक्ष्य में तीन प्रधान स्तरों पर अनुसन्धान किया जा सकता है और उनका अपना अपना अलग-अलग महत्त्व भी है। इस निबन्ध में उनकी दिशाओं का संक्षिप्त परिचय देने के अलावा और कुछ कर पाना कष्टसाध्य ही होगा। उक्त तीन स्तर इस प्रकार होंगे-(अ) **सभ्यता, संस्कृति एवं धर्म के स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान**-विशाल भारतीय सभ्यता के परिवेश में अन्यान्य सांस्कृतिक परम्पराएँ पनपीं तथा विकसित हुईं, यद्यपि उनमें से किसी ने भी समान सभ्यता से होने वाला अपना सम्बन्ध तोडने में कभी भी गर्व का अनुभव नहीं किया। श्रामणिक सांस्कृतिक परम्परा ऐसी ही एक वैशिष्ट्यपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा रही है जिसके परिवेश में जैन तथा बौद्ध परम्पराएँ विकसित हुईं। सभ्यता-विषयक एकता के बावजूद इस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराएँ क्यों और कैसे विकसित हुईं, उनके आपस में मतभेद कौनसे थे, उन्होंने अपने-अपने पक्षों का समर्थन कैसे किया, दूसरों के मतों का प्रतिवाद कैसे किया, उनकी स्वीकार्यता या अस्वीकार्यता किस आधार पर अधिष्ठित है, देवताविज्ञान के विकास या परिवर्तन में उनका क्या योगदान था, इस प्रकार के उनके विचारों का सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, तथा सम-सामयिक महत्त्व क्या है आदि बातों का निशीथचूर्णि जैसे ग्रन्थों के आधार पर गम्भीर अध्ययन होना आवश्यक है। इस प्रकार के कुछ प्रयास अवश्य किये गये हैं और उनमें से कुछ सराहनीय भी हैं। तथापि उतने मात्र से आत्मसंतुष्टि का अनुभव करना आत्मघाती ही गिना जायेगा। आज हमारे सामन उठने वाले कई प्रश्न और उनके उलझन भरे समाधान कई पैमाने में हमें अपनी सभ्यताविषयक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक पहचान ठीक न होने से तथा उनके बारे में हमारी विपरीत धारणाओं से सम्बन्धित हैं। इस स्थिति में अगर परिवर्तन लाना हो और हमें अपनी सभ्यताविषयक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक पहचान ठीक तरह से करनी हो तो अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित इन विषयों से संबंधित प्रश्नों, संकल्पनाओं, तथा मुद्दों का आनुसंधानिक विचार-मथन किया जाना चाहिये, ताकि इन विषयों के बारे में हमारी धारणा उनके ठीक परिप्रेक्ष्य में बन सके और वह उनके सम-सामयिक महत्त्व में बाधक न हो।

(ब) **दार्शनिक स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान**--जैन-विद्या के संदर्भ में इस स्तर पर जिस प्रकार का अनुसन्धान किया जा सकता है उसके कई पहलू हो सकते हैं। ऐसा नहीं है कि इस स्तर पर आज तक कुछ भी अनुसन्धान हुआ नहीं है। लेकिन जो कुछ हुआ है वह आम तौर पर सतही, सामान्य परिचयात्मक, या गलतफहमियाँ फैलाने वाले या उन्हें दृढमूल कराने वाले तुलनात्मक पक्ष तक ही सीमित रहा है। इसके परिणामस्वरूप उन्हीं बातों को शुष्कता से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दुहराते रहने के सिवा उसका गम्भीर तथा व्यापक अनुसन्धान की दृष्टि से न कोई फायदा हुआ, न ही इस प्रकार का अध्ययन किसी अगले अनुसन्धान का उत्प्रेरक ही बना। दर्शन के स्तर पर (अ) सत्ताशास्त्र, (ब) न्याय एवं तर्कशास्त्र, (क) प्रमाण तथा ज्ञानमीमांसा, (ड) आचार-विज्ञान, (इ) राजनीति एवं विधिविज्ञान, (फ) समाज-रचना और उसका नियन्त्रण, (ग) परिवेश-रक्षण आदि अनेकों विषयों के सम्बन्ध में जैन विचारकों ने भिन्न समय पर अपने विचारों की चर्चा करने वाले ग्रन्थ लिखे, उनके अन्य जैनियों के साथ तथा बौद्धों, नैयायिकों, वेदान्तियों, मीमांसकों आदि के साथ दशकों ही नहीं सदियों तक वाद-विवाद हुए, और इस प्रकार विचार के विकास में उन्होंने अपना सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार के मुख्य ग्रन्थों में चर्चित विषयों का, भिन्न विचारकों के द्वारा प्रस्तुत सांकल्पनिक ढांचों का, विवादों का, विभिन्न मतों के खण्डन-मण्डन का तथा उनके पीछे होने वाली तत् तत् भूमिकाओं का एवं उनकी वरीयता तथा उपादेयता का दुर्भाग्यशात् अभी तक गभीर अध्ययन ही नहीं हुआ है, उनमें नयी दिशा दिखाने वाले और अगले अनुसन्धान को उत्प्रेरित करने वाले अनुसन्धान की बात तो और भी दूर की है। आचार-विज्ञान, समाज-रचना तथा परिवेश-रक्षण आदि से सम्बन्धित बातों की चर्चा के बारे में तो दुस्थिति अत्यधिक शोचनीय बन गयी है। वह इस दृष्टि से कि जो लोग जैनविद्या के अन्यान्य पक्षों के सम्पर्क में आये हुए होने का दावा करते हैं और जो जैन परम्परा में पले हैं उन्हीं के द्वारा इन बातों को अत्यधिक मात्रा में दुर्लक्षित किया जाता है। यह एक सौभाग्य की बात है कि कम-से-कम कुछ लोगों को आज-कल ऐसी बातों के बारे में सतर्क रहने की आवश्यकता महसूस होने लगी है। दूसरे, कमसे-कम इस सदी के अन्त तक संस्कृत, प्राकृत जैसी प्राचीन भाषाओं में लिखे दार्शनिक ग्रन्थों को ठीक तरह से समझने वाले तथा दूसरों को उनमें चर्चित विषयों को समझाने की क्षमता रखने वाले कुछ व्यक्ति हैं और रहेंगे भी। उनसे अगर हमने यथोचित लाभ नहीं उठाया तो अन्य विद्याओं के समान ही जैनविद्या एवं जैनदर्शन के बारे में भी ऐसी स्थिति पैदा होगी कि हमारे पास ग्रन्थ होते हुए भी हम उन्हें पढ़ कर समझ ही नहीं पायेंगे, उनको लेकर गंभीर अनुसंधान किये जाने की बात तो दूर रहेगी।

(क) ऐतिहासिक स्तर पर सम्भाव्य अनुसन्धान– इस स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसंधान दो दृष्टियों से किया जा सकता है। एक तो वह वर्णनात्मक एवं परिचयात्मक हो सकता है। इसमें कहाँ, कब और क्या घटित हुआ यह बताने पर बल दिया जाता है। इस प्रकार का इतिहास भाषिक, साहित्यिक, दार्शनिक, श्रामणिक, सांस्कृतिक, विशिष्ट पंथ या उपपंथ का हो सकता है। उसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तरह वह जैनविद्या से सम्बन्धित स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, उत्खनन आदि का हो सकता है। इस दृष्टि से यद्यपि संस्कृत में प्रस्तुत जैन साहित्य का इतिहास संभवत: लिखा जा चुका है, तथापि प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा का, उनमें प्रस्तुत साहित्य का, जैन दर्शन का, जैन श्रामणिक परम्परा का, जैन पंथों या उपपंथों का, तथा जैन कलाओं का वृहत् तथा स्वीकार्य इतिहास अभी तक शायद लिखा नहीं गया है। दूसरी दृष्टि से विकासात्मक इसिहास लिखा जा सकता है। इसमें कब, क्या घटित हुआ यही बताने तक चर्चा सीमित रहने के बजाय विशिष्ट क्षेत्र में विकास कैसे हुआ, उसके पीछे कौनसी दृष्टि थी, उसकी समर्थनीयता एवं वरीयता का आधार क्या था, विकास में कौनसी बातें अवरोधक बनी आदि बातों की चर्चा मुख्यत: की जाती है। पुन:, विकास को कालिक या ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जा सकता है या वैचारिक दृष्टि से। स्पष्ट ही है कि इस प्रकार के हर एक विकासात्मक इतिहास लिखे जाने के लिये विभिन्न प्रेरकों का तथा सामग्री का आधार लेना पडेगा। जैन दर्शन के क्षेत्र में भी जिस प्रकार जैन दर्शन का किसी भी प्रकार का मानक इतिहास अनुपलब्ध है उसी प्रकार जैन सत्ताशास्त्र या तर्कशास्त्र का या जैन आचार–विज्ञान का भी। इन विषयों से सम्बन्धित अन्यान्य मुद्दों की एक–दूसरे से असम्बन्धित रूप में चर्चा करना एक बात है, उनकी ऐतिहासिक और खास कर विकासात्मक इतिहात की दृष्टि से चर्चा करना सर्वथा दूसरे प्रकार की। इस प्रकार जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित विभिन्न विषयों को ले कर भिन्न भिन्न प्रकार के अनुसन्धान पर्याप्त गम्भीरता से किये जा सकते हैं और वे आगे किये जा सकने वाले अनुसन्धान के उत्प्रेरक भी हो सकते हैं।

(४) **जैनविद्या की समसामयिक उपादेयता**– जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य विषयों को लेकर किये जाने वाले अनुसन्धान का समसामयिक महत्त्व एक ओर इस बात में निहित है कि उसके आधार पर हमें जैन परम्परा, दर्शन, संस्कृति, धर्म, पंथ, उपपंथ, इतिहास तथा उनमें घटित अन्यान्य उथल–पुथल का, उनके पीछे निहित दृष्टियों का तथा उनकी समर्थनीयता एवं वरीयता का यथार्थ आकलन हो। इस आधार पर वर्तमान स्थिति के कई पहलुओं के बारे में हमारी अवधारणा ठीक होगी। क्योंकि जब तक हमारी अतीत काल से संबंधित याने इतिहास की समझ ठीक नहीं होगी तब तक वर्तमान विषयक समझ भी ठीक नहीं होगी, और जब तक भूत तथा वर्तमान की समझदारी ठीक न हो तब तक किसी भी बात के भविष्य के बारे में हमारी अवधारणा ठीक नहीं हो सकती, और ऐसी अवधारणा के अभाव में वर्तमान तथा भविष्य में किस प्रकार के सुधार लाने आवश्यक होंगे और उनकी स्वीकार्यता एवं वरीयता किस आधार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर अधिष्ठित है इसका भी पता लगाना दुष्कर होगा। लेकिन दूसरी ओर परंपरा की रक्षा, विकास एवं संवर्धन करने के लिये परंपरा को ठीक तरह से समझ लेना जिस तरह आवश्यक है उसी तरह परम्परा के बारे में दो दोषों से भी हमें बचना चाहिये – एक तो यह कि परंपरा के बारे में हमारी होने वाली रुचि और आस्था आदि–सिद्धान्तवाद में या मूल–सिद्धान्तवाद में परिणत न हो। याने, परम्परा को वह त्रुटिपूर्ण, अस्वीकार्य तथा वर्तमान से असंगत होने के बावजूद हम उसके परम्परा मात्र होने से स्वीकार न करें। दूसरी ओर हमें इसका भी ख्याल रखना चाहिये कि परम्परा का हम मात्र परम्परा होने के कारण से त्याग न करें। कई बार आधुनिकता के सतही और विवाद्य आधार पर परम्परा का विरोध किया जाता है, जो ठीक नहीं होता। इसलिये पारम्पारिक दुराग्रह, हठवादिता, दृष्टि की संकुचितता, समर्थन की आढ्यता, अंधश्रद्धाएँ, असमर्थनीय रूढ़िवादिता आदि का भरसक और डट कर ठोस विरोध करते हुए भी हमें इसका भी उचित ख्याल रखना चाहिये कि ऐसा करते समय हम अपनी स्थिति न तो त्रिशंकु की तरह बनायें, न ही धोबी के उस कुत्ते की तरह जो न घर का होता है और न ही घाट का। नहीं तो आधुनिकता, फैशन, अवसरवादिता, स्वार्थपरायणता आदि के प्रभाव के कारण हम अपनी पारम्पारिक नाभिरज्जु शीघ्रता से तोड़ देंगे और दूसरी किसी परम्परा को हम उसमें पले न होने की वजह से अपनाने में असफल होंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि संस्कृति, परम्परा आदि की समसामयिक उपादेयता तभी सार्थक होती है जब वह न तो हठधर्मिता को बढ़ावा दे और न ही संहारक तत्त्व बन कर उसका विनाश करे। इस प्रकार की अतिवादिता अथवा एकान्तता को छोड़ कर मध्यम मार्ग को अपनाने में जिस हद तक हम यशस्वी होंगे उसी हद तक जैनविद्या की समसामयिक उपादेयता बनाये रखने में भी सफल होंगे। ☆

मो. प्र. मराठे

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे–४१११००७

टिप्पणी

☆ हाल ही में जैन दर्शन पर पुणे में आयोजित एक संगोष्ठि में प्रस्तुत निवन्ध। हम आयोजकों के आभारी हैं जिन्होंने इसे प्रकाशित करने की अनुमति दी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

षड्ऋतु-वर्णन-पद्मावत के दो छन्द : काव्यमर्म

(१)

प्रथम बसंत नवल ऋतु आई। सुरितु जैत बैसाख सोहाई ।।
चंदनचीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा ।।
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरका कबिलासू ।।
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कंत मिले सुखबासी ।।
पिउ सँजोग धनि जोबनबारी। भँवर पुहुप संग करहिं धमारी ।।
होइ फागु मलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी ।।
धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होंहि सब चुरू ।।
जेहि घर कंता रितु भली। आउ बसंता तित्तु।
सुख बहरावहिं देवहरै, दुक्ख न जानहिं कित्तु ।। ३३५ ।।

उपर्युक्त प्रसंग में प्रयुक्त कुछ प्रयोगों एवं उनके अर्थों पर यहाँ विचार किया जायगा।

१. चंदनचीर– डॉ. अग्रवाल ने चंदनचीर और चंदनौटा (३२९) को एक ही माना है और अर्थ किया है 'चंदन के रंग का वस्त्र'। डॉ. गुप्त ने इसकी व्याख्या में बताया है : 'चंदनी रंग का (हल्का बादामी) चीर।' पर चंदन के रंग से मिलते रंग वाले वस्त्र की वसंत में क्या महत्ता थी ? 'चंदनचीर' और 'चंदन-चोली' का उल्लेख अन्यत्र भी पद्मावत में है –

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. प्रथमहिं अंजन होइ सरीरू। पुनि पहरैं तन चंदनचीरू ॥ २९६ ॥
२. कैं मंजन तब किएहु अन्हानू। पहिरे चीर गएउ छपिभानू ॥ २९७ ॥
३. भा बैसाख तपनि अति लागी। चोलाचीर चंदन भा आगी ॥ ३५४ ॥

उपर्युक्त वर्णनों से यह लगता है कि चंदन चोला, चंदन चीर ग्रीष्मऋतु संबंधी शीतल वस्त्र थे। कालिदास ने ग्रीष्म और शीत ऋतु से संबंधित वस्त्रों की चर्चा की है। ग्रीष्म ऋतु वाले शीतलताकारक होते थे और शीतकाल के उष्ण। 'चंदन' ऐसे ही वस्त्र रहे होंगे।

'चीर' दक्षिण से आते थे, जैसा कि मृगावती में कहा भी है :–
'कछनी दखिन के चीर लै कीन्ही। चंदन चोली उर लै पुनि दीन्ही'
॥ २५१ ॥

चीर जड़ाऊ होता था (छंद ३२९) जिसके आगे सूर्य (रतनसेन) का प्रकाश मंद लगता था। (छंद २९७)।

२. चोला: 'चोला चीर चंदन भौ आगी' (३५४)

का अर्थ अग्रवाल जी ने किया है 'चंदन चीर का चोला आग हो गया।' पर 'चंदन चोला' (३२७) और चंदन चीर '(२९६) का उल्लेख अलग-अलग मिलता है। इसलिए उपर्युक्त पंक्ति का आशय है कि बैसाख की तपनि से चंदन. चोली और चंदनचीर भी तपने लगे। अर्थात् उनकी शीतलता चली गयी। डॉ. गुप्त ने अर्थ किया है : 'वैशाख आ गया और गर्मी अत्यधिक बढ गयी है, जिस कारण चोल और चीर का चन्दनपट्ट आग जैसा तप्त हो गया है।' पद्मावत में विरह का वर्णन करते हुए कहा गया है :–' दहै चाँद औ चंदनचीरू'। (१६८) अर्थात् विरह में शीतल वस्तुएँ दाहकारक हो जाती हैं।

पद्मावत में चोला छन्द सं. १८५ तथा ३५४ में और चोला-चोली ३४२ में प्रयुक्त हैं। अग्रवालजी ने 'पटुइन पहिरि सुरंग तन चोला' (१८५) में 'चोला' का अर्थ 'लहँगा' किया है। अन्य दो स्थलों पर उन्होंने चोला को चोला ही लिखा है। कवि ने ३४२ में चोला-चोली, दोनों का प्रयोग एक ही आशय में किया है –'रक्त पसीजि मीजि तन चोली' तथा 'पौनु डोलावहिं सींचहिं चोला।'

मृगावती में है : 'राता चीर पहिरिहहु चोला।' (३६५)। डॉ. गुप्त ने यहाँ चोला का अर्थ 'वेष' किया है।

सं. चोल नैषधचरित में है। उडिया में चोला-चोली समानार्थी हैं। कश्मीरी में चूली है। 'चोला-चीर' का सामाजिक प्रयोग चाँदायन में भी हुआ है। यथा, चोला-चीर पहिरि जउ चाली, जानउं जाइ उडाई।
देखत रूप देवता बिमोहे, कत हुतें आछरि आइ ॥ ८३ ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मृगावती (३२७) में 'चोला–चीर' की जगह 'कंचु चीर' का प्रयोग है।

३. मलयागिरि छिरका कबिलासू : अर्थात् कबिलास पर मलयागिरि चन्दन के घोल का छिड़काव किया गया था। छिरका = छिड़का गया। छिरकना, छिड़कना, पंजाबी में छिड़कना, मैथिली में छिरब है। इसी का एक और रूप है। छींटना, छिटकना। कश्मीरी में 'छिरकाउन' = छिड़कना है। डॉ. अग्रवाल ने व्याख्या की है 'पद्मावती ने मलयागिरि छिड़का।' पर यह औचित्य से परे है।

४. सौर सुपेती फूलन्ह डासी : का अर्थ अग्रवालजी ने किया है 'सेज पर फूलों का बिछावन बिछाया गया था'। कवि का कथ्य है कि, सेज पर फूल बिछे थे, और सौर–सुपेती रखी हुई थी। सौर–सुपेती ओढ़ने के उपकरण थे। सौर = रजाई। सुपेती = यह भी कोई गरम ओढना, दुलाई की भाँति, है, क्योंकि जाडे में सौर–सुपेती के युग्म का बहुत प्रयोग है।

चित्रावली (४५३.४) में कहा गया है 'जैतिक ओढो सँवर सुपेती। हहलि हहलि उर कांपौं तेती'। और (२१३.७) में 'सौर' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है :– 'सौर माँह जिन बिनउर टोवा'। पद्मावत (३३६) में भी 'सौर–सुपेती' का वर्णन शय्या के सुखभोग के साथ है।

कवि 'सौर-सुपेती' का वर्णन वसंत और ग्रीष्म के सुखभोग में कर रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सौर-सुपेती' सुखवासी सेज का प्रमुख अंग था। इसीलिए जाडे और ग्रीष्म, सभी में 'सौर सुपेती' का वर्णन है।

'सौर' की व्युत्पत्ति चिन्त्य है। दशकुमार चरित (७२) में 'औशीरम्' बिस्तरा (ओढ़ना-बिछौना) के अर्थ में प्रयुक्त है। 'औशीरे कामचारःकृतोऽभूत्।'

पद्मावत का यह प्रयोग भी देखने योग्य है।' कुश साँथरि भै सौर सुपेती'। (१३९ पद.)। साँथरि∠संस्तर=बिस्तर। अर्धकथा में है–' ऊढ़ सौर नहिं ब्यापै सीत' ३०७। चांदायन में 'सउरि सुपेतहिं' का वर्णन पूस के जाडे में है– 'घरघर' सउरि सुपेतिइं 'साजहिं' (३४८)। तथा 'सेज 'सउर' कर नांउं न 'जानउं'। कहाँ 'सेजि असि' काह बखानउं'। (४२) अतः सउर (सौर-सौरि) शय्योपस्कार हुआ। यही 'सउर' बीसल देव रास में २२ वें छन्द में 'सउड' है। मृगावती में पूस के जाडे में विरह के प्रकरण में आया है:– 'जाड़ सौर भा बिरह सुपेती। दुहुं दुरिजन बिच भइउँ अचेती॥' (३२२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सुपेती : अग्रवालजी ने इसका संबंध तेलुगु के 'पत्ति' अर्थात् रूई से जोड़ा है। गुप्तजी ने 'सुपेती' का अर्थ 'श्वेत' किया है।

'सौर सुपेती' = श्वेत चादर। 'सुपेती' का विकास सं. 'सौप्तिक' से है। यह मृच्छकटिक (मार्गं ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्राणिन। अंक ३.११) में प्रयुक्त है। 'सुप्त' से 'सौप्तिक'। पुरानी मारवाडी में 'सौती' बिस्तर (बेडिंग) के आशय में है। सौती, सूपवती समानार्थी हैं।

जिस प्रकर औशीर शयनोपस्कर है उसी प्रकार 'सौप्तिक' भी। इसीलिए 'सौर सुपेती' का युग्म चल पड़ा।

५. सुखबासी :—अग्रवालजी ने सुखबासी का अर्थ 'शयनगृह' किया है। पर यह सेज के लिए है। यथा 'सेज सुखबासी' का पद्मावत में ही इस प्रकार प्रयोग हुआ है :—

(१) सात खंड ऊपर कबिलासू। तँह सोबनार सेज सुखबासू
॥ २९१। १॥
(२) तेहि महँ पलंग सेज सो डासी। का कहँ ऐसि रची सुखबासी
॥ २९१। ५॥
(३) मलै समीर बास सुख बासी। बेइलि फूल सेज सुख डासी
॥ ३३७। ६॥

सुखबासी सेज फूलों की पंखुडियों से रची जाती थी। गीत गोविंद (५१) में कहा गया है: 'रचयति शयनम् सचकित नयनम्।' सेज—रचना कामकला का प्रमुख अंग था। सुखबासी के सामानों की चर्चा भी स्वयं जायसी ने पद्मावत में ही की है —

दुहुँ दिसि गेडुवा औ' गलसुई। काँचे पाट भरी धुनि रूई॥
फूलन्ह भरी ऐसि केहि जोगू। को तेहि पौढ़ि मान सुख भोगू॥
२९१। ६–७॥

फूलों से रचे—सजे सेज पर सुखभोग का महत्त्व है। पद्मावत में अन्यत्र भी वर्णित है — "बिसरा भोग सेज सुख बासू। जहाँ भँवर सब तहाँ हुलासू
॥ २२६। ३॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सुखबासी सेज तभी है जब प्रेमी बगल में हो। कबिलास में नित्य भोग है, वहाँ विरह नहीं।

" तिन्ह पावा उत्तिम कबिलासू। जहाँ न मीचु सदा सुखबासू
॥ १४६ । ६ ॥

६. भँवर पुहुप संग करहिं धमारी –

" पिउ संजोग धनि जोवन वारी। भँवर पुहुपसँग करहिं धमारी
॥ ३३५ । ५ ॥

अग्रवाल जी की व्याख्या है : – " इधर उस बाला की यौवनरूपी वाटिका में प्रिय का संयोग हुआ। उधर भौंरे फूलों के साथ धमाचौकड़ी करने लगे।" पर यहाँ तो पद्मावती और रतनसेन की कामक्रीड़ा का वर्णन है। रतनसेन भँवर है और पद्मावती पुहुप। भ्रमर और पुष्प की रस–केलि बसंत में होती है। यही धमार बसंत के प्रकरण में वर्णित है। अन्यत्र कवि रतनसेन को ' रावण-राजा ' और पद्मावती को ' पुहुप ' के रूप में अंकित करते हुए केलि–धमार का इस प्रकार वर्णन करता है।

पुहुप सिंगार सँवारि जौं जीबन नवल बसंत।
अरगज जेउँ हियलाइ कै, मरगज कीन्हे कंत ॥ ३१८ ॥

नागमती बसन्त में पति–वियोग में इसी धमारी के लिए तरसती है।
(१) चैत बसता होइ धमारी। मोहि लेखे संसार उजारी ॥ ३५३ । १ ॥
(२) भर जोबन एहु नारँग साखा। सोवा बिरह अब जाइ न राखा
॥ ३५३ । ७ ॥

धमारि – (धमारी)–(धम)। तीव्र उथलपुथल, गतिशीलता, लौट–पौट, उठापटक। बोलचाल में आज भी बच्चों के शरारती केलिकलाप को ' धमारि ' कहा जाता है। ' धमारि मचाना ' = अशांत बैठना।

बसंत में ही फाग–होली–चाँचरि का उत्सव होता है। जायसी कहते हैं बिरह को, बसंत के मिलन–महोत्सव पर, होली की भाँति भस्म कर दिया है। अर्थात् इस मिलन में विरह का पता नहीं। धमार, फाग–होली–चाँचरि उल्लास के प्रतीक हैं। बसन्त में प्रकृति के कोने–कोने में नर–नारी का अद्वैतभाव, यौवन, बारी (वाटिका) में बसन्त की धमार (चहलपहल) स्वाभाविक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७) नखत सिंगार :

" घनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू । नखतसिंगार होंहि सब चूरू ॥ "

– पद्मावत ३३५।७

पूरे काव्य में पद्मावती शशि (शीतल) है और रतनसेन सूर्य (तप्त) है। मिलन की प्रगाढ़ता के लिए, परस्पर आकर्षण के लिए यह विरोध अपेक्षित है। सूर्य की उपस्थिति में नक्षत्र का रहना संभव नहीं। पद्मावती के शृंगार और आभूषण ही 'नखत सिंगार' हैं। कामकेलि में पति उन्हें विध्वंस करता है अथवा वे चूरचूर हो जाते हैं। अन्यत्र कहा भी है –

" सोरह करा सिंगार बनावा। नखतन भरे सूरुज ससि पावा॥ "

शशि की सोलह कला सोलह शृंगार हैं। शृंगार के विध्वंस और चूर होने का वर्णन छंद ३१८ में विस्तार से है।

८. देवहरैं

बसंत में सेज–सुख के कारण रतनसेन तथा पद्मावती

" सुख बहरावहिं देवहरैं, दुक्ख न जानहिं कित्तु ॥ ३३५ ॥"

' देवहरैं ' को डॉ. अग्रवाल ने देवगृह मान लिया –

यथा, " बसंत में पति–पत्नी देवगृह में (मण्डप–पूजन के लिए) जा कर उद्यान में सुख से अपने आप को बहलाते हैं। (अथवा सुखपूर्वक बाहर आते हैं) कभी दुःख का अनुभव नहीं करते।"

पर देवहरै दिवस (दिव्) से व्युत्पन्न है। उदा. मृगावती में कहा गया है।

१. " जेउं जेउं बाढहिं देवहरै, तेउं तेउं अधिक सनेह ॥ ४१७ ॥

२. सम कहं मरन होइ एकबारी। मोहिं सखी मरन भयउ देवहारी ॥ १४२ ॥

३. ' तिलतिल सहरा मरन देवहारी ' ॥ १५१ ॥

वीसलदेवरास में भी कहा गया है :–

मास दिहाडउं दारुण तबइ । ७४ ।

इसी प्रकार मधुमालती में ' दिन बहरावहिं ' है :

' इन हुँ संघ मानहिं रस केली। भोग भुगुति औ ' प्रीति नवेली ॥

खाइ खेलि हँसि दिन बहरावहिं। रैनि सोइं सुख नींद बितावहिं ॥ ४६३ ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पद्मावत के ‘सुख बहरावहिं देवहरें’ का आशय है, उनका दिन सुख में बीतता है। अथवा दिनभर सुख में मन बहला रहता है। वे नहीं जानते कि दुःख क्या, कैसा, कितना होता है।

रीतिकालीन कवि नंदराम ने रात बहराने की बात उठाई है :–
‘नागरि नवेली अलबेली चल नागर में
कैसे कै अकेली, तोसें राति बहिराति है।’
बहराना = १) बहलाना २) बिताना।

९. कित्तु– कियत्-कितना, कैसा, किन गुणों का।

‘दुख न जानहिं कित्तु’ अर्थात् पद्मावती-रतनसेन सुखविलास में इतने तन्मय हैं कि, उन्हें दुःख का अनुभव नहीं हो पाता। वे जानते ही नहीं कि दुःख कैसा होता है।

....

(२)

रितु ग्रीखम में तपति न तहाँ। जेष्ठ असाढ कंत घर जहाँ।
पहिरें सुरँग चीर धनि झीना। परिमल भेद रहै तन भीना।
पदुमावति तन सियर सुबासा। नैंहर राज कंत कर पासा।
अधर तँबोर कपूर भिवँसेना। चंदन चरिच लाव नित बेना।
ओबरि जूड़ि तहाँ सोवनारा। अगर पोति सुख नेत ओहारा।
सेत बिछावन सौर सुपेती। भोग करहिं निसि दिन सुख सेंती।
भा अनंद सिंघल सब कहूँ। भागिवंत सुखिया रितु छहूँ।
दारिबँ दाख लेहिं रस, बेरसहिं आँब सहार।
हरियर तन सुवटा कर, जो अस चाखनहार। ३३६।

अग्रवालजी की व्याख्या है :– ‘गर्मी की ऋतु में भी वहाँ तपन नहीं होती जहाँ जेठ-आसाढ (अषाढ) में कन्त घर पर हों।’ पर कवि का कथ्य है कि, जेठ-आषाढ (जो ग्रीष्म ऋतु के माह हैं) का ताप गृहिणी को नहीं सताता यदि पति घर पर हो। अर्थात्, यदि पत्नी को पति के साथ संयुक्त हो कर सुख-भोग का सुख मिले तो ताप कहाँ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) सुरंग का अर्थ अच्छा रंग लेना चाहिए। संदर्भ लाल रंग का नहीं। ग्रीष्म में लाल रंग तपता है जबकि अग्रवाल जी की व्याख्या है– 'उस समय बालाएँ लाल रंग का झीना वस्त्र पहिनती हैं'।

यहाँ सारा वर्णन पद्मावती से संबंधित है, बालाओं से नहीं। परिमल–भेद से पद्मावती का तन सुवासित है, न कि बालाओं का।

(२) भीना–भिन्दति (भिद्=टूटना) प्रा. भिदइ, हि. भिनना, मराठी भींदणे, घुसना, सराबोर होना।

(३) पद्मावति तन सियर :-पद्मावती का शरीर शीतल था, ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है? कथ्य है कि पद्मावती शशि है इसलिए शीतल भी। पति रतनसेन सूर्य था, इसलिए उसे तप्त कहा गया है। यह परंपरा से पुष्ट है।

(४) अधर तंबोर कपूर भिवँसेना। डॉ. अग्रवाल ने इसका अर्थ किया है 'उसका अधर तांबूल और भीमसेन–कपूर से लाल था।' डॉ. गुप्त की व्याख्या है :–'उसके अधरों पर तांबूल–राग और भीमसेनी कपूर लग होते थे।' परन्तु कवि का संकेत है कि पद्मावती के अधर ताम्बूल से रागरंजित थे और उसका मुख कपूर से सुवासित था। ताम्बूल में भीमसेनी कपूर सुगंध के लिए डाला जाता था।

(५) भिंवसेना–(सं. भीमसेन कर्पूर) यह सामान्य कपूर से, जो 'भीनिया' कहलाता था, अधिक शीतल, सुगंधित और दोषनाशक था। यह मुख्यत: नेत्र के अंजन में पड़ता था। पद्मावत में दोनों कपूर की चर्चा है। यथा, 'कीन्हेसि भींवसेन औ चेना।' ४।१

(६) चंदन चरित्र लाव नित बेना : अग्रवाल जी ने अर्थ किया है 'चन्दन लगा कर नित्य खस लगाती थी।' और उनके द्वारा दिया गया पाठ है : 'चंदन चरचि चाव नित बेना।'

चरचिच–चर्चित = लेप किया हुआ, यथा 'चन्दन चर्चित नीलकलेवर पीत-वसन वनमाली।' गीतगोविंद।

चर्चनम् = शरीर में उबटन लगाना। चंदन के साथ 'चर्चित' का प्रयोग होता आया है। सूर ने लिखा है : 'यह मृगमद चंदन चर्चित तन।' २।३५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(७) बेना -बीरणं = खस। बीरणं अथवा उशीर की जड़ खस कहलाती है - शीतलता प्रदान करने के लिये इसका प्रयोग बराबर होता रहा है। खस सुगंधित भी होती है। इसे 'गांडर' (घास) देहातों में बोलते हैं।

चंदन और अगुरु का लेप बसंत में अनुकूल कहा गया है। जायसी ने इसी परंपरा का अनुसरण किया है। आयुर्वेद में चन्दन और खस दोनों की गणना वर्ण्यगण में है, अर्थात् इनके प्रयोग से रंग निखरता है।

रामायण में 'चन्दन चर्चित' कामातुर व्यक्ति और संध्या की लालिमा से रंजित आकाश की समानता बताई गयी है।

ऋतुसंहार में आया है कि स्त्रियाँ कालीयक (एक प्रकारका चंदन) और केसर के साथ घोल में कस्तूरी मिला कर अपने गोरे-गोरे स्तनों पर चन्दन का लेप कर रही हैं। अतः 'चन्दन चरचि लाव नित बेना' से कवि का आशय है कि पद्मावती चन्दन-खस (बेना-वीरण) का लेप लगाती थी। दोनों का घोल एक में भी हो सकता था। इसके साथ अन्य सुगंधित द्रव्य भी रहते होंगे। जायसी का यह वर्णन परंपरा से पोषित है। यह मात्र जायसी-कालीन नहीं।

(८) दारिवँ दाख लेहिं रस, बेरसहिं आँब सहार।
हरियर तन सुबटा कर, जौ अस चाखनहार॥

अग्रवाल जी की व्याख्या है : 'वे अनार और अंगूर का रस लेते तथा आम और सहकार खा कर विलास करते थे। जो इस प्रकार के फल चखने वाला है उसके शरीर पर सुग्गे जैसी हरियाली दिखाई पड़ती है।' डॉ. गुप्त जी की व्याख्या भी इसी प्रकार है।

जायसी ने यहां परंपरा से प्राप्त प्रतीकों का प्रयोग किया है - दाडिम शुक को प्रिय है। उसका नाम ही 'दाडिम-प्रिय' है। दाडिम (अनार) कुच का बोधक भी है। सहार (सहकार) भी शुक को प्रिय है और वह (अर्थात् कलमी आम) सुभर कुच का प्रतीक है।

दाख रस, अधररस का बोधक है। 'दारिम-दाख' का सामाजिक प्रयोग 'कुच' के लिए भी है। पद्मावत में संख्या २५४ में पंक्ति है :- 'मिलै जो प्रीतम आइ कै, दाख बेलि रस चाख।'

'द्राक्षा बेलि' में द्राक्षा-फल कुच है। चांदायन में 'दाष बेलि फर रांयो' (३५२) है। द्राक्षावल्लरी नारी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'सहार' का प्रतीकात्मक प्रयोग चांदायन में भी है। मैना लौरिक के विरह में संदेश के रूप में कहती है।

'सेज पिरम रस सून्यौं आवत। अब सहरा (सिहारि) डार चरि रावत।
॥ ३५९ ॥'

जायसी का कथन है कि रतनसेन सुखभोग में शुक सदृश अनार, दाख, आंब–सहार का रस लेता है। वह शुकसमान हराभरा है।

१४७, त्रिवेणी रोड,
इलाहाबाद–२११००२
(उ. प्र.)

–हरिहर प्रसाद गुप्त

टिप्पणी

लेखक ने मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत के 'षड्ऋतु वर्णन खण्ड' के ३३५ तथा ३३६ चोपाई छंद के कुछ शब्दों के अर्थों पर विचार करते हुए अन्यान्य काव्य ग्रंथों के आधार पर डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल तथा डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त के द्वारा किये गये अर्थों से अपना मतभेद व्यक्त किया है और इस विषय में विद्वानों के विचार आमन्त्रित किये हैं। हम उन विचारों का स्वागत करेंगे।

–संपादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काव्य में धर्मधर्मिभाव का विचार

विशिष्ट उक्ति (शब्दार्थ) काव्य है। व्यवहार और शास्त्र के प्रसिद्ध प्रस्थान से उसमें व्यतिरेक है, कारण वह लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य से मण्डित है। तथाविधवैचित्र्य ही उक्ति का – काव्यात्मक उक्ति का–वैशिष्ट्य है। इसी 'वैचित्र्य' या 'वक्रता' से मण्डित (शब्दार्थोभयात्मक) उचित काव्य है। काव्य धर्मी है। और लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य धर्म। यह 'वैचित्र्य' – वर्ण्यवस्तु के 'स्वभाव' से भिन्न नहीं है। कुन्तक कहते हैं –

आञ्जसेन रूपेण स्वभावस्य निरूपणमेव
वक्रतायाः परं रहस्यम्।

इस वैचित्र्य या वक्रता का परम रहस्य 'स्वभाव' का ऋतुभाव से निरूपण ही है। वस्तु का 'स्पन्दात्मक' स्व–भाव–सर्वसामान्य की चर्मचक्षुओं का गोचर नहीं है – उसके लिए प्रातिभ चक्षु–शिव की तीसरी आंख – की अपेक्षा है। इसीलिए कुन्तक कहते हैं –

यत् किञ्चनापि वैचित्र्यन्तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।

काव्योचित वैचित्र्य मात्र प्रतिभा का कार्य है। प्रश्न है कि प्रतिभा वर्ण्यवस्तु के 'स्व-भाव' का अपरोक्षीकार मात्र करती है अथवा उसका निर्माण भी करती है? पर जो निर्मित होगा – वह 'स्व–भाव' कैसे होगा? 'स्वभाव' 'होता' है, 'किया' नहीं जाता। जो किया जाय वह 'परभाव' है, स्व–भाव नहीं। यहां 'स्व–भाव' की बात है। वर्ण्य वस्तु का 'स्वभाव' यहां सर्वसामान्य की बुद्धीन्द्रिय का गोचररूप नहीं है – 'सामान्य' स्वभाव नहीं है – और न ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रहण की दृष्टि से शब्दजन्य परोक्ष ज्ञानगोचर ' सामान्य ' है – वह असाधारण ' स्वभाव ' है – प्रातिस्विक वैशिष्ट्य है । महिम भी यही कहते है –

विशिष्टस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः ।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥
रसानुगुण शब्दार्थं चिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
येन साक्षात्करोत्येव भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥
इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम् ।

अर्थात् ' वस्तु ' मात्र का द्विविधरूप होता है – सामान्य और दूसरा असामान्य या विशिष्ट । पहला परोक्ष ज्ञान का और दूसरा अपरोक्ष ज्ञान का । अपरोक्ष ज्ञानगोचर ' विशिष्ट ' रूप ही सत्कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्द का विवक्षित अर्थ होता है । शास्त्र और काव्य के प्रसिद्ध प्रस्थान वाले शब्द से ऐसा अर्थ विवक्षित नहीं होता । कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के समक्ष वर्ण्यवस्तु का जो ' स्वभाव ' सामने आता है – वह ' विशिष्ट ' है – इसी में काव्यात्मक उक्ति का वैशिष्टय निहित है । यही वैशिष्टय ' वैचित्र्य ' या या ' वक्रता ' है – यह वक्रता कवि का प्रातिभ व्यापार है ' वक्रत्वं कविव्यापारः । ' कुन्तक इसी व्यापार की प्रधानता मानता है । ध्वन्यालोककार जब कहता है –

" वाच्यानांच काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु विशेषभेदेनैव प्रतीयते" ।

काव्य में जो ' वाच्य ' प्रतिभासित होता है – जिस रूप से प्रतिभासित होता है – वह ग्राह्य ' विशेष ' से ही एक रूप हो कर, न कि 'सामान्य' से । यह रूप ग्राहक में लोकोत्तर चमत्कार या आस्वाद पैदा करता है । महिम ने यहां एक प्रश्न और खड़ा किया है । उन्होंने कहा कि यहां काव्य का धर्म कहा है –

" शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धं व्यतिरेकिवैचित्र्यम् "– सो यह वैचित्र्य या तो अन्ततः औचित्य रूप ही ठहरता है अथवा (प्रतीयमानाभिव्यक्तिपरक) व्यंजकत्व रूप । इन दोनों पक्षों में प्रतिज्ञात अपूर्वता क्या है ? पहला तो स्वरूपतः सिद्ध है और यदि दूसरा अभिप्राय है तो पहले कहा जा चुका है । महिम काव्य वहीं मानते हैं जहां रसानुरोधी कवि–व्यापार होता है– वहाँ वक्रता या वैचित्र्य शब्दार्थगत औचित्य ही होगा । पर जहां रसानुरोधी कवि–व्यापार न न हो – वहां ' वैचित्र्य ' क्या होगा ? महिम वहां काव्य न मानें, कुन्तक मानते हैं । जहां तक दूसरे विकल्प का प्रश्न है, स्वयं महिम में वदतो–व्याघात है । स्वयं महिम कह चुके हैं कि प्रातिभ चक्षुगोचर अर्थ ' विशिष्ट ' है जिसे कुन्तक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'विचित्रवाच्य' मानते हैं, प्रसिद्ध वाच्य (सामान्य) से भिन्न। अतः इसमें अपूर्वता तो है ही। वाच्यगत वैचित्र्य से सम्पूर्ण उक्तिगत वैचित्र्य माना जाता है। आनन्दवर्द्धन ने कहा "किमिदमुक्ति वैचित्र्यम् ?' वाच्यविशेष–प्रतिपादक वचन हो उक्ति है। सो, यदि वाच्यगत वैचित्र्य है – तो उक्तिगत वैचित्र्य क्यों नहीं ? यही वैचित्र्य काव्योचित चारुता का स्त्रोत है– अतः यही वैचित्र्य काव्य का व्यावर्तक धर्म है।

इस पर भी प्रश्न यह किया जा सकता है कि प्रतिभावान् को काव्यात्मक शब्द से जो यह प्रसिद्ध (सामान्य) वाच्य से अन्यथा रूप अर्थ प्रतीत होता है – वह शब्द के किस सामर्थ्य से ? स्पष्ट ही लोक–प्रसिद्ध अभिधा से नहीं, विचित्र अभिधा से। क्या शब्दच्छल से यह विचित्र अभिधा व्यंजकता का ही पर्याय है या भिन्न ? यदि उस विचित्र अभिधा से समर्थ्यमाण अर्थ 'वाच्य' ही हो तो समर्पक शब्द की क्षमता को व्यंजना कैसे कहेंगे ? हाँ, यह वाच्य 'सामान्य' रूप नहीं है – प्रत्यक्षगोचर 'विशिष्ट–वाच्य' (विचित्र वाच्य) है। जिस प्रकार शब्द की व्यंजना प्रतिभा की अपेक्षा करती है उसी प्रकार 'विचित्र वाच्य' के बोध में शब्द की अभिधा भी प्रतिभा की अपेक्षा करती है। आनन्दवर्द्धन सहृदयहृदयावर्जक वाच्यवैचित्र्य से अपरिचित नहीं हैं। पर काव्योचित चारुता का समर्पक प्रतीयमान को ही मानते हैं। पंडितराज भी कहते हैं कि प्रतीयमान् से संस्पृष्ट हो कर ही अर्थ चारुताधायक होता है। मतलब, अपने-आप में प्रतीयमान् से भिन्न लोक–शास्त्र–प्रसिद्ध शब्दार्थ में चारुता पदा करने की क्षमता नहीं होती। महिम भट्ट का भी पक्ष है – अनुमेयार्थ संस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुरिति निश्चितम्। (व्य. वि. प्र. वि.–पृ. १३६) कुन्तक का पक्ष है कि काव्योचित शब्द और अर्थ अपनी कोटि में अकेला ही होता है–अपनी क्षमता में अकेला ही होता है– वह अलग ही है। उसकी यही विचित्रता काव्य का व्यावर्तक वैशिष्टय है। रसात्मक अर्थ तो अपने–आप में लोकोत्तर है– विचित्र है। कहा जा सकता है कि वाच्यार्थ की कल्पना सहकृत या प्रतिभासहकृत प्रत्यक्षायमाणता की अपेक्षा जहां व्यज्यमानतावश चारुता प्रतीत होती है – तो यह 'वैचित्र्य' अव्याप्त नहीं होगा ? लक्षणा से कुन्तकसम्मत वाच्य की परिधि में उसका भी समावेश है–परन्तु वहाँ की काव्योचित चारुता अर्थगत प्रत्यक्षायमाणता में नहीं–गोपनीय ढंग से आशय की समर्पकता में है। सहृदय हृदयसाक्षिक चारुता के स्रोतभूत वैचित्र्य मात्र को व्यावर्तक धर्म माना जायगा। इस वैचित्र्य (अर्थोगिरामविहितः विहितश्च कश्चित्) का समावेश कुन्तक वाले वैचित्र्य में होगा ? उन्होंने इस (असामान्य, स्व–भाव, प्रत्यक्षायमाण स्वभाव) वैचित्र्य को 'लीनं वस्तुनि' कहा है– वस्तुगत कहा है। प्रतिभा ही उस वैचित्र्य नामक सूक्ष्मसुभग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्त्व को वाणी से खींच कर उभार देती है।

कहा गया है –

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा कवि:।
वन्दे द्वाकपि तावुभौ...

इन पंक्तियों में कुन्तक काव्योचित चारुता के लिए अपेक्षित 'वैचित्र्य' वस्तुगत भी मानते हैं– जिसे प्रतिभा की आँख से देख कर उभार दिया जाता है और अ–वस्तुगत भी ऊपर से निर्मित भी। इस प्रकार स्वयं उनका वस्तु के प्रत्यक्षायमाण स्व–भाव रूप वैचित्र्य अपरत्र अव्याप्त हो जाता है। दूसरी ओर जहां गोपनीय ढंग से अर्थ की समर्पकता में ही 'चारुता मानी जाती है, वहाँ कुन्तकसम्मत 'वैचित्र्य' का समावेश नहीं हो पाता। यह मानना कि 'प्रतीय मानता' किसी न किसी रूप में सर्वत्र विद्यमान है–पर विद्यमान रह कर भी अविवक्षित तो हो सकती है। वहाँ तो आनन्दवर्द्धन 'काव्य' ही नहीं मानते, 'काव्य' का चित्रात्मक अनुकारमात्र मानते हैं। विचारणीय बात है कि जहाँ वस्तु का 'प्रत्यक्षायमाण स्वभाव–रूप वैचित्र्य' और उसके कारण चारुता प्रतीति में अवतीर्ण हो–वहाँ काव्य का अनुकार मात्र ही माना जाय? विनिर्गतं मानम्...'; में जो विम्बविधान है–' निमीलिताक्षीव भियामरावती '–में जो प्रत्यक्षायमाणता-कृत वैचित्र्य है – उसे सहृदय हृदयहारी चमत्कार की कोटि से बाहर कर दिया जाय? आनन्दवर्द्धन के लक्षणात्मक निकष पर यह रचना क्या काव्यानुकार मात्र है?

इस प्रकार 'ममधम्मिय वीसद्धो' में कुन्तक का लक्षण और 'विनिर्गतं...' में आनन्दवर्द्धन का लक्षण अव्याप्त हो जाता है। यह मानना कि सामान्य लोगों को भले 'विनिर्गतं...' में चारुता प्रतीत हो, परन्तु विशेष लोगों को–परिणतप्रज्ञ लोगों को–ऐसी चारुता आवर्जक न होगी–विचारणीय है। आनन्द तो परिणत प्रज्ञ की दृष्टि से 'ध्वनिरेव काव्यम्' कहते हैं– 'काव्ये उभे' के विपक्ष में बोलते हैं, गुणीभूत व्यंग्य को भी काव्य मानने से नकार देते हैं। अन्तत: तो 'काव्य-स्यात्मा स एवार्थ: '–कह कर रसध्वनि को ही काव्य कहते हैं। उत्तम-मध्यम की तो बात ही नहीं करते। फिर 'वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानाम्' कह कर कुन्तकससम्मत वैचित्र्य का भी अनुमोदन करते हैं। कुछ लोग इसीलिए 'वाच्यप्रतीयमानाख्यौ' में द्वन्द्वघटकीभूत वाच्य और प्रतीयमान की दृष्टि-विशेष से समान हेतुता रूप (चारुता उत्पादन के प्रति) प्रधानता का समर्थन करते हैं। प्रधानता कहें या समकक्षता कहें–कुछ भी कह लें। आनन्दवर्द्धन अधिकारभेद से काव्य-लक्षण या धर्म पर व्यापक विचार करते हैं। इस दृष्टि से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुन्तक की अपेक्षा आनन्दवर्द्धन का धर्मधर्मिभाव–विवेक ज्यादा लचीला प्रतीत होता है।

इस विवाद से हट कर उसी कुन्तक के व्दारा कथित सहृदयहृदय–साक्षिक 'चारुता' के प्रति परस्पर प्रतिस्पर्द्धी शब्द और अर्थ के सहभाव को ही काव्य का लक्षण क्यों न मान लें ? पंडितराज का 'चमत्कारत्ववत्त्व' भी लक्षण है–पर इस मत में विशिष्ट शब्द ही काव्य कहा गया है, जो व्युत्पत्ति, प्रयोग, प्रवाह आदि की दृष्टि से असंगत है।

२, बैंक कालोनी,
देवास रोड,
उज्जैन (म. प्र.)

राममूर्ति त्रिपाठी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सौन्दरनन्द महाकाव्य में विभावों की अभिव्यक्ति

भाव काव्य का आधार है। इसमें कवि की विचारधारा व अवधारणा का आरोप होता है। संस्कृत काव्य–शास्त्र में इसे कवि–निबद्ध वस्तु–सामग्री (विभाग) कहा गया है। काव्य में भावाभिव्यक्ति का प्रतिफलन कवि के द्वारा अनेक रूपों में होता है। सहृदय–गत भावों के सम्मूर्तन के लिए वस्तु अनिवार्य है। और उसे विभाग रूप में लेना आवश्यक है। काव्य का अभ्यासी सहृदय अपने संस्कारों के कारण परिमित भावादि के उन्मीलन के द्वारा काव्य–निबद्ध विषय का साक्षात्कार कर लेता है –

'तेन ये काव्याभ्यास प्राक्तन पुण्यादि हेतु वलदिति सहृदयस्तेषां परिमित विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एवं साक्षात्कार काव्यार्थः स्फुरित :'।[1]

इस साक्षात्कार व्दारा ही सहृदय काव्य का रसास्वाद करता है। रसात्मक वाक्य होने के कारण काव्य का मूल रूप रागात्मक या भावात्मक है, किन्तु उसमें भी भावों का विचारों से, जिनका बुद्धि तत्त्व से सम्बन्ध है, नितान्त विच्छेद नहीं रहता। काव्य में जहां शब्द और अर्थ के सहित होने का भाव रहता है वहां रागात्मक तत्त्व प्रधान भावों और बुद्धि–तत्त्व प्रधान विचारों का भी सामंजस्य रहता है। रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। प्रत्येक महाकाव्य में किसी न किसी रस का प्राधान्य रहता है। "वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्"।[2] रस की चर्वणा में सहृदय के लिए भाव का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। बिना इसके काव्य नीरस एवं गद्यवत् प्रतीत होगा। "न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रस वर्जितः ।[३] भावों की स्थिति सामाजिक सहृदय में वासनारूप संस्कार रूप में विराजमान रहती है। यही स्थायी भाव कहलाते हैं जो कारण–कार्य भाव से उद्‌बुद्ध होते रहते हैं। ये सदैव व्यक्त दशा में ही नहीं रहते। इन भावों के उद्‌बोधन में जो कारण रहता है उसी को विभाव की संज्ञा दी गयी है। अर्थात् स्थायी भावों को रस–रूप में आस्वादनीय बनाने वाले मुख्य कारण विभाव कहलाते हैं। रसानुभूति में स्थायी भावों के भिन्न होने से इन कारणभूत विभावादि में भी भेद दृष्टिगोचर होता है। भाव शब्द बहुत व्यापक है। उसमें भाव (स्थायी भाव और संचारी भाव) के साथ–साथ विभाव (आलंबन और उद्‌दीपन) भी आ जाते हैं। जब शब्द सकुचित अर्थ में लिया जाता है तब वहाँ वह रस की एक अपूर्व अवस्था माना जाता है।

काव्य की कोई भी विधा हो, उसमें प्रायः भाव और विभाव दोनों ही होंगे। भाव का उद्‌गम यद्यपि आश्रय में होता है तथापि उसका सम्बन्ध किसी बाह्य वस्तु से अवश्य होता है। वह वस्तु चाहे कल्पित हो चाहे वास्तविक। हमारे भाव जिस किसी के प्रति होंगे वही हमारे भाव का आलम्बन होगा। उचित आलम्बन के विना भाव शक्ति और सबलता प्राप्त नहीं कर सकते।

" रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावाः काव्य नाट्‌ययोः।
आलम्बनोद्‌दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ [४]

काव्य में जिस प्रकार भाव का निबन्धन आवश्यक है उसी तरह आलम्बन का भी निबन्धन आवश्यक होता है। क्योंकि आलम्बन के बिना भाव स्थिर नहीं रह सकते। अतः काव्य में भावों के स्थायित्व के लिए आलम्बन और उद्दीपन विभावों का वर्णन आवश्यक हो जाता है। विभावों के द्वारा ही रस का अङ्कुरण होता है।

" विभाव्यन्तें आस्वादाङ्कुर प्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते
सामाजिक रत्यादिभावो एभिः इतिविभावा उच्यन्ते " [५]

सौन्दरनन्द महाकाव्य शान्त–रस प्रधान काव्य है। महाकवि अश्वघोष ने शान्त के अनुसार ही आलम्बन एवं उद्‌दीपन विभावों का वर्णन किया है। यद्यपि महाकाव्य में यत्र–तत्र शृंगार की भी अनुभूति होती है, परन्तु वह अङ्गभूत ही है। महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्द महाकाव्य के माध्यम से सरल संस्कृत भाषा में बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त का विवेचन करना और उसका प्रसार करना ही ध्येय रखा है। यह महाकाव्य नन्द व सुन्दरी के श्रृंगार से ही शान्त रस की ओर अग्रसर होता है और अन्त में शान्त रस की अनुभूति कराता है। संसार की असारता की ओर ध्यान आकर्षित कर उससे वैराग्य उत्पन्न करना और ज़ीव को ईश्वरोन्मुख करना शान्त रस के पक्षों का मुख्य उद्‌देश्य रहता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सौन्दरनन्द महाकाव्य में निर्वेद स्थायी भाव प्रधान शान्त रस की अभिव्यक्ति हुई है। "निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।[६] परन्तु साथ ही इसमें शम का भी निदर्शन होता है जो तृष्णाक्षय के रूप में विद्यमान है।

"यच्चकाम सुखं लोके यच्चदिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥[७]

अतः निर्वेद ही शम रूप में पल्लवित होकर स्थायी रूप से शान्त रस का आस्वाद कराता है। जैसा कि साहित्य–दर्पणकार का मत है,

"शमो हि निरीहावस्थायामात्य विश्रामजंसुखम्"[८]

तत्त्व–ज्ञान–प्रभव निर्वेद स्थायी भाव

तत्त्व–ज्ञान प्रभव निर्वेद भाव की पुष्टि महाकवि अश्वघोष भी करते हैं:

"शान्तस्य तुष्टस्य सुखी विवेको विज्ञात तत्त्वस्व परीक्षकस्य।
प्रहीणमानस्य च निर्मदस्य सुखं विरागत्वमतक्त बुद्धेः[९]॥ ९॥

सौन्दरनन्द १८/४२

अर्थात्, शान्त (सं) तुष्ट, तत्त्व को जानने वाले और दार्शनिक को सुखपूर्वक ज्ञान प्राप्त होता है। मानरहित, मदरहित, असक्त बुद्धि–वाले को सुखपूर्वक वैराग्य प्राप्त होता है। ऐसा शम्, शान्त और सन्तुष्ट भाव प्राप्त होने पर नन्द कहता है:

"अथो हि तत्त्वं परिगम्य सम्यङ निर्धूय दोषानधिगम्य शान्ति।
स्वनाश्रमं संप्रति चिन्तयामि न तं जनं नाप्सरसो न देवान्॥
इदं हि मुक्त्वा शुचि शामिकं सुखं न मे मनः कांक्षति कामजं सुखम्।
महार्हमप्यन्तमदैवताहृतं दिवौकसोमुक्तवतः सुधामिव॥[१०]

सौन्दरनन्द १८/४३–४४

इस तत्त्व को जान कर समस्त दोषों से हट कर नन्द का मन काम (भोग) से उत्पन्न सुख की इच्छा नहीं करना चाहता है।

अन्य अनेक स्थलों पर भी इस प्रकार के निर्वेद स्थायी की प्रतीति होती है।

तृष्णाक्षय रूप शम स्थायीभाव

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "तृष्णाक्षय" भी शान्त रस का स्थायी भाव है। महात्मा बुद्ध नन्द को उपदेश करते हैं कि वह अपनी तृष्णा को नष्ट करे क्योंकि तृष्णा ही अनेक जन्मों का कारण है। यदि दुःख से मुक्त होना है तो उनको काटो, क्योंकि कारण के क्षय से कार्य का क्षय होता है। हेतु नाश से दुःख–क्षय होता है। शान्त एवं कल्याण धर्म का साक्षात्कार करो, (जो) तृष्णा विरागी निवास रूप, निरोधं रूप, सनातन, रक्षक, अविनाशी और आर्य है:

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"तज्जन्मनो नैक विधस्य सौम्य तृष्णादयो हेतव इत्यवेत्य।
तांश्छिन्धि दुःखाघदि निर्मुमुक्षा कार्यक्षयः कारण संक्षयाद्धि ॥
दुःखक्षयो हेतु परिक्षयाच्च शान्तं शिवं साक्षि कुरुष्व धर्मं।
तृष्णाविरागं लयनं निरोधं सनातनं त्राणयहार्यमार्यम् ॥ सौन्दरनन्द
१६।२५–२६

तृष्णा को काट देने पर जो पद प्राप्त होता है उस पद से न जन्म होता है; न वृद्धावस्था आती है न मृत्यु, न रोग, न अप्रिय–संयोग, न इच्छा रूप विपत्ति; न प्रियवियोग होता है। वह कल्याणकारी पद नैष्ठिक और अच्युत है।

"यस्मिन्न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याध्योनाप्रियसंप्रयोग:।
नेच्छाविपन्न प्रिय विप्रयोगा क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत्" ॥
सौन्दरन्द १६।२७

उपर्युक्त का भाव साहित्य–दर्पण के शान्त रस प्रधानता प्रतिपादक पद्य से मिलता है :

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेष रागो न काचिदिच्छा।

रसः स शान्तः कथितोमुनीन्द्रैः ...। शान्त रस के मुख्य घटकों विभावादि का वर्णन अपेक्षित है। सौन्दरनन्द महाकाव्य में कवि अश्वघोष ने शान्त रस के आलम्बन विभाव में परमात्मा, स्वरूप ज्ञान, अनित्य रूप से सोचा गया विश्व अर्थात् संसार की निस्सारता, समस्त सांसारिक विषयों की निस्सारता का ज्ञान, दुःख, ममता आदि इसके आलम्बन विभाव हैं। सौन्दरनन्द महाकाव्य में शान्त रस के सम्पूर्ण उद्दीपन विभावों का परिपाक भी दृष्टिगोचर होता है। उद्दीपन विभावों में पुण्याश्रम, भगवान् की लीला भूमि, महापुरुषों का सत्संग, तीर्थ, तपोवन, तपस्वी दर्शन, रम्य वन एवं स्वर्ग–दर्शन आदि आ जाते हैं।

– प्रभा शर्मा

५।११०, श्वेत नगर
दयाल बाग
आगरा–२८२००५
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. अभिनव गुप्त– अभिनव भारती– भाग–१ पृ. २८७
२. अग्नि पुराण– ३३७।३३
३. भरतमुनि– नाट्यशास्त्र ६।३६, चौ. सं. सीरीज, वाराणसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. साहित्य दर्पण–३।२९ व्याख्या–सत्यव्रत सिंह, चौ. विद्याभवन, वाराणसी १९७६.
५. वहीं– पृ. १३६
६. काव्य प्रकाश– ४।४७, व्याख्याकार, डॉ. श्री. श्रीनिवास शास्त्री, मेरठ १९७४.
७. साहित्य दर्पण– ३।२५० की वृत्ति में उधृत
८. साहित्य दर्पण– ३।१८०
९ सौन्दरनन्द महाकाव्य– १८।४२
१०. वहीं १८।४३–४४
११. वहीं १६।२५–२६
१२. वहीं १६।२७
१३. साहित्य दर्पण– ३।२४९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१७)
विषयता (iii)

पिछले लेख में यह बतलाया गया था कि विषयता के प्रकारता; विशेष्यता; संसर्गता आदि अनेक प्रकार हैं। प्रकारता का ही दूसरा नाम विशेषणता भी है ऐसा कुछ नैयायिकों का मत है, जबकि कुछ लोग विशेषणता को प्रकारता का एक प्रकार मानते हैं।[१]

प्रकारता के स्वरूप के बारे में नव्यनैयायिकों में मतभेद दृष्टि-गोचर होता है। कुछ लोग भासमान वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) की प्रतियोगिता को प्रकारता तथा सम्बन्ध की अनुयोगिता को विशेष्यता कहते हैं।[२] जैसे, 'यह घट है' ('अयं घटः') इस ज्ञान में घटत्व का समवाय यह वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) घट में ज्ञात होता है। जैसे कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रत्येक सम्बन्ध के दो सम्बन्धी घटक (सम्बन्धक) पदार्थ होते हैं। उनमें से एक प्रतियोगी तथा दूसरा अनुयोगी कहलाता है। जो सम्बन्ध के प्रतियोगी के रूप में प्रतीत होता है उसे ही ज्ञान में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला माना जाता है। अतः सम्बन्ध का प्रतियोगित्व ही विशेषणत्व है।

गदाधर[३] को यह परिभाषा मान्य नहीं है। उनका कथन है कि यह परिभाषा स्वीकार करने पर "घटभूतलसंयोगः" यह जो समूहालम्बनात्मक ज्ञान है वह भी घट प्रतियोगिक तथा संयोग विषयक होने से उसे भी घट-प्रकार वाला ज्ञान मानना पडेगा। उक्त समूहालम्बन-ज्ञान का विषय घट अवश्य है; परन्तु उक्त ज्ञान में प्रकार के रूप में घट का बोध नहीं होता है। घट का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशेष्य के रूप में ज्ञान होने से यहाँ घटत्व प्रकार के रूप में ज्ञात होता है, घट नहीं। दूसरी बात यह है कि उक्त परिभाषा स्वीकार करने पर "संयोग सम्बन्ध से द्रव्यत्ववान्" इस भ्रम में प्रकार के रूप में द्रव्यत्व की प्रतीति नहीं होगी। संयोग सम्बन्ध से द्रव्यत्व कहीं पर भी नहीं रहता है। (द्रव्यत्व यह जाति समवाय सम्बन्ध से ही द्रव्य में रहती है।) इसलिये संयोग सम्बन्ध यहाँ व्यधिकरण–सम्बन्ध माना जाता है। अतः द्रव्यत्व में संयोग सम्बन्ध का प्रतियोगित्व न होने से "भासमान वैशिष्ट्य प्रतियोगित्व"–रूप प्रकारत्व भी उसमें नहीं रहेगा। तीसरी बात यह है कि 'भूतले घटः' (भूतल पर घट है।) इस ज्ञान में भूतल प्रकार के तथा घट विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु इस ज्ञान में प्रतीत होने वाला भूतल और घट का संयोग भूतलानुयोगिक तथा घटप्रतियोगिक है। यदि भासमान वैशिष्ट्य प्रतियोगित्व को प्रकारता और अनुयोगित्व को विशेष्यता के रूप में स्वीकार किया तो उक्त ज्ञान भूतल अनुयोगिक संयोग वाला होने से भूतल विशेष्य वाला हो जायगा, जबकि यहाँ भूतल प्रकार है, विशेष्य नहीं।

चौथी आपत्ति यह है कि उक्त प्रकारता और विशेष्यता की परिभाषा स्वीकार करने पर जिस व्यक्ति को द्रव्य संयोग सम्बन्ध से गुण में नहीं रहता है ऐसा ज्ञान नहीं है उसको गुण में संयोग सम्बन्ध से होने वाला द्रव्य का भ्रम गुण–विशेष्यक नहीं होगा, क्योंकि गुण में संयोग सम्बन्ध की अनुयोगिता नहीं है। संयोग सम्बन्ध से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से ही सम्बन्धित हो सकता है, गुण से नहीं। अतः गुण में संयोग सम्बन्ध की अनुयोगिता स्वीकार नहीं की जा सकती।

वैशिष्ट्य की प्रतियोगिता के द्वारा भासमान होना यह भी प्रकारता का स्वरूप नहीं हो सकता है। "वैशिष्ट्य प्रतियोगी" के द्वारा (प्रतियोगितया) यहाँ प्रयुक्त तृतीया विभक्ति का अर्थ करना सुलभ नहीं है। और 'भासमान होना' का अर्थ ज्ञान–विषय होना ऐसा करने पर प्रकारता और विशेष्यता आदि का प्रतियोगिता आदि से भिन्न विषयता–रूप स्वतः प्रकट हो जाता है। अतः प्रकारता का अर्थ किसी धर्मि (आश्रय) में विशेषण के रूप में भासमान होना, तथा विशेष्यत्व का अर्थ किसी धर्म के आश्रय के रूप में प्रतीत होना ऐसा करना चाहिये। धर्म के रूप में प्रतीत होने वाले में प्रकारता शक्ति तथा धर्मि के रूप में प्रतीत होने वाले में विशेष्यता प्रतीत होती है। इसलिये यह स्पष्ट है कि सांसर्गिक प्रतियोगिता और अनुयोगिता क्रमशः प्रकारता और विशेष्यता–रूप नहीं हैं। भ्रमात्मक ज्ञान में प्रतीत होने वाली प्रकारता और विशेष्यता का विचार उक्त रूप से नहीं किया जा सकता यह ऊपर दिखाया जा चुका है।

यदि सम्बन्ध की प्रतियोगिता और प्रकारता में भेद न किया जाय तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'दण्डपुरुषसंयोगप्रतियोगित्व–अनुयोगित्व' इस प्रकार के ज्ञान तथा 'दण्डी पुरुषः' इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा।[४] क्योंकि यदि विशिष्ट ज्ञान (दण्डी पुरुष इस ज्ञान) में दण्ड में संयोग का प्रतियोगित्व जैसे मालूम होता है उसी तरह उपर्युक्त ज्ञान में संयोग–प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व भी मालूम पड़ता है। इसलिये उक्त समूहालम्बनज्ञान और विशिष्ट–ज्ञान में भेद करने के लिये विशिष्ट–ज्ञान में संयोग के प्रतियोगित्व के अतिरिक्त प्रकारता स्वीकार करना आवश्यक है। 'दण्ड–पुरुष–संयोग–प्रतियोगित्व–अनुयोगित्व' इस ज्ञान में दण्ड का विशेषण के रूप में ग्रहण न होने से उसमें उक्त ज्ञान की प्रकारता नहीं है। इस प्रकार दोनों ज्ञानों में प्रकारता को सांसर्गिक प्रतियोगिता से भिन्न मानने पर भेद सिद्ध हो जाता है।

यदि यह माना जाय कि विशिष्ट–ज्ञान में प्रतीत होने वाले प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व के साथ उनका सम्बन्ध भी प्रतीत होता है, जबकि उपर्युक्त समूहालम्बन ज्ञान में केवल प्रतियोगित्व ही ज्ञान का विषय होता है, प्रतियोगित्व का सम्बन्ध नहीं, तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। विशिष्ट–ज्ञान का विषय प्रतियोगित्व और उसका सम्बन्ध और उस सम्बन्ध का सम्बन्ध इस प्रकार की शृंखला का कहीं भी विश्राम ही नहीं होगा। अतः विशिष्ट–ज्ञान में सम्बन्ध के सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है यह मानना उचित नहीं है।

प्रकारता को भी प्रतियोगिता आदि अन्य पारिभाषिक पदार्थों के समान एक भिन्न पदार्थ भी कुछ लोग मानते हैं।[५]

विशेषणता और उपलक्षणता के भेद से प्रकारता दो प्रकार की होती है[६]; क्योंकि विशेषण और उपलक्षण के भेद से प्रकार दो प्रकार का होता है। जो धर्म विद्यमान होते हुए व्यावर्तक होता है वह विशेषण है, और जो अविद्यमान होते हुए भी व्यावर्तक होता है वह उपलक्षण होता है[७] ऐसा कहा जाता है। परन्तु यह समीचिन नहीं है। 'दण्डी पुरुषः' यहाँ विद्यमान दण्ड पुरुष की अदण्डी से व्यावृत्ति करता है इसलिये उसे विशेषण कहते हैं। परन्तु 'काकवन्तं देवदत्तगृहम्' अथवा 'जटाभिः तापस.' यहाँ अनुक्रमशः 'कौवा घर पर बैठा हुआ होना' या 'शिर पर जटाओं का होना' विशेषण नहीं हैं। 'दण्डी पुरुषः' ऐसा कहने पर दण्ड से दण्डी पुरूष को अलग करता है इसलिये अदण्डी की व्यावर्तकता का नियामक (अवच्छेदक) होने से दण्ड विशेषण है। तथापि कौवा, जटादि अनुक्रमशः घर और तापस के विशेषण नहीं हैं, क्योंकि उनके न रहने पर भी अन्य धर्म के द्वारा उक्त गृह की व्यावृत्ति सम्भव है। अतः व्यावृत्ति की अधिकरणता का अतिरिक्त वृत्ति होने के कारण काक और जटा विशेषण न हो कर उपलक्षण हैं। व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक होते हुए जो व्यावृत्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का जनक है वह धर्म विशेषण कहलाता है। उससे भिन्न व्यावर्तक होने वाला धर्म उपलक्षण कहलाता है। अर्थात्, व्यावृत्ति का अधिकरणता का अवच्छेदक न हो कर भी जो व्यावृत्ति का जनक होता है वह धर्म उपलक्षण है।[८] अन्यूनानतिरिक्तवृत्तिधर्म अवच्छेदक होता है। अतः काक और जटा इन व्यावृत्तियों के क्रमशः अधिकरण देवदत्तगृह और तापसी में रहनेवाली अधिकरणता से अतिरिक्त स्थल में भी विद्यमान होने से वे उक्त अधिकरणताओं के अवच्छेदक नहीं है। अतः वे उपलक्षण हैं। उपलक्षण में व्यावृत्ति की अधिकरणता की नियामकता नहीं है, जबकि विशेषण में व्यावृत्ति के अधिकरणता की नियामकता होती है।

आचार्य गंगेश[९] ने विशेषण और उपलक्षण के विषय में होने वाले अनेक मत-मतान्तरों का खण्डन करते हुए स्व-मत से विशेषण और उपलक्षण का भेद प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार 'प्रतीत होने योग्य व्यावृत्ति की अधिकरणता का नियामक होते हुए जो (धर्म) व्यावर्तक है वह विशेषण होता है, तथा उससे भिन्न होते हुए जो (धर्म) व्यावर्तक हो वह उपलक्षण होता है।' अतः 'दण्डी पुरुषः' यहाँ दण्ड अदण्डी की व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक होने से विशेषण है, जबकि काक गृह की व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक न होने से उपलक्षण के रूप में व्यावर्तक है। दण्ड के न रहने पर कोई दण्डी नहीं हो सकता, परन्तु जटा के न रहने पर भी तपस्वी हो सकता है। यही विशेषण और उपलक्षण में भेद परिलक्षित होता है। विशेषण में रहने वाली प्रकारता को विशेषणता, तथा उपलक्षण में रहने वाली प्रकारता को उपलक्षणता कहते हैं।

प्रकारता पुनः अन्य दो प्रकार की मानी गयी है—निरवच्छिन्न और अन्य विशेषण से अविच्छन्न। जो प्रकारता किसी भी धर्म से नियमित नहीं होती है उसे निरवच्छिन्न प्रकारता कहते हैं।[१०] जैसे—'घटः' इस ज्ञान की जो घटत्व में प्रकारता है वह किसी अन्य धर्म से नियमित नहीं है। 'घटः' इस ज्ञान में घटत्व स्वरूपतः अर्थात् घटत्वत्व जैसे किसी अन्य धर्म को विशेषण के रूप में लिये बिना ही 'घट' इस ज्ञान का विषय होता है। ऐसी निरवच्छिन्न प्रकारता जाति-रूप धर्म या अखण्डोपधि-रूप धर्म में ही मानी जाती है। वह जाति तथा अखण्डोपाधि (द्रव्यत्व तथा भावत्व) से भिन्न अर्थात् सखण्डोपाधि-रूप धर्म में नहीं रहती है।

सावच्छिन्न (किसी धर्म से नियमित) प्रकारता वह है जो सखण्डोपाधि-रूप पदार्थ में रहती है। जैसे—घटयुक्त भूतल है' इस ज्ञान में भूतल इस विशेष्य के विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाले घट में रहने वाली प्रकारता है। इस प्रतीति में घट का 'स्वरूपतः' प्रत्यय नहीं होता है। यहाँ घट घटत्व के रूप में प्रतीत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता है। अतः यहाँ घट-रूप विशेषण में प्रतीत होने वाला घटत्व यह एक विशेषण होने से उक्त घट में रहने वाली विशेषणता (प्रकारता) घटत्व से नियमित होती है। इसलिये उस प्रकारता को सावच्छिन्न प्रकारता माना जाता है।

प्रकार में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकारतावच्छेदक भी कहलाता है। प्रकार का विशेषण होने से उसमें प्रकारता भी है और वह प्रकारता को नियमित करने वाला होने से प्रकारता का अवच्छेदक भी है। अतः उसमें अवच्छेदकता भी है। प्रकारता और अवच्छेदकता एक ही स्थान में स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

प्रकार में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकारतावच्छेदक भी कहलाता है। प्रकार का विशेषण होने से उसमें प्रकारता भी है और वह प्रकारता को नियमित करने वाला होने से प्रकारता का अवच्छेदक भी है। अतः उसमें अवच्छेदकता भी है। प्रकारता और अवच्छेदकता एक ही स्थान में स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व से नियमित क्यों माना जाय? यदि न मानें तो क्या दोष है? इसका उत्तर यह है कि यदि 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व से नियमित न मानें तो 'द्रव्यवद्भूतलं घटश्च' इस समूहालम्बन ज्ञान तथा 'घटवद्भूतलंद्रव्यश्च' इस ज्ञान में कोई भेद नहीं होगा, क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में घटत्व तथा द्रव्यत्व घट में प्रकार के रूप में तथा घट भूतल के प्रकार के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व से नियमित मानने पर आसानी से प्रकारता की विलक्षणता के आधार पर दोनों ज्ञानों में भेद किया जा सकता है। क्योंकि प्रथम ज्ञान (द्रव्यवद्भूतलंघटश्च) की घट में रहने वाली प्रकारता द्रव्यत्व से नियमित होती है, जबकि द्वितीय ज्ञान 'घटवद्भूतलंघटश्च' की घट में रहने वाली प्रकारता घटत्व धर्म से नियमित होती है। इस प्रकार प्रकारताओं की भिन्नता के आधार पर दोनों ज्ञानों में होने वाले भेद की व्याख्या की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में गदाधर का मत यह है कि घट में रहने वाली प्रकारता घटत्व से नियमित होती है इस कथन का तात्पर्य यह है कि घट में रहने वाली प्रकारता घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित है।[11] इस प्रकार गदाधर दोनों प्रकारताओं में निरूप्य–निरूपक–भाव मानते हैं। प्रकारता और विशेष्यता में ही निरूप्य–निरूपक–भाव होता है, एक प्रकारता और दूसरी प्रकारता में निरूप्य–निरूपक–भाव नहीं होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की जो भूतल में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित जो घट में प्रकारता है वही घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता है। उन दोनों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभेद होने से प्रकारता और प्रकारता में भी निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

जो लोग एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता में अभेद नहीं मानते वे 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता से नियमित मानते हैं। उनके मत में एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। उक्त ज्ञान में भूतल में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता जो घट में है वहीं पर घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता है जो वहीं रहने वाली प्रकारता को नियमित (अवच्छिन्न) करती है। यह मत स्वीकार करने पर उक्त दोनों ज्ञानों में होने वाला भेद स्पष्ट हो जाता है। 'द्रव्यवद्भूतलघटश्च' इस ज्ञान की घट में रहने वाली विशेष्यता किसी प्रकारता को नियमित नहीं करती है, जबकि 'घटवद्भूतलंद्रव्यश्च' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता उसी में रहने वाली घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता से नियमित (अवच्छिन्न) होती है। परन्तु यह मत समीचिन नहीं है यह पूर्व-लेख में दिखाया जा चुका है।

कुछ दूसरे नैयायिकों का मत है कि 'घटवद्भूतलम्' यह विशिष्ट-विशेषणक ज्ञान दो प्रकार का होता है – 'विशिष्ट वैशिष्ट्यविषयक ज्ञान' तथा 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्' इस रूप में होने वाला ज्ञान। पहले प्रकार के ज्ञान में घटत्व से युक्त घट का सम्बन्ध (वैशिष्ट्य) भूतल के साथ मालूम होता है, जबकि दूसरे प्रकार से होने वाले ज्ञान में भूतल पर विशेषण के रूप में घट और उस घट में विशेषणान्तर के रूप में घटत्व प्रतीत होता है। प्रथम तरीके से उत्पन्न ज्ञान में घटत्व प्रकार न होकर प्रकारता के अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है, जबकि दूसरे तरीके से उत्पन्न ज्ञान में घटत्व प्रकारतात्मक विशेष्यता से निरूपित प्रकार के रूप में प्रतीत होता है। अतः उसमें प्रकारता ही है, प्रकारता की अवच्छदकता नहीं है।[१२]

प्रतियोगिता, अवच्छेदकता आदि के समान प्रकारता भी किसी न किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। प्रकार जिस सम्बन्ध से अपने आश्रय में अभीष्ट होता है वह सम्बन्ध प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। जैसे-'संयोगेन घटवद्भूतलम्' (भूतल संयोग सम्बन्ध से घट-युक्त है।) ऐसा कहने पर घट में रहने वाली प्रकारता संयोग सम्बन्ध से निरूपित होती है। प्रकारता ही सम्बन्ध से नियमित होती है। धर्मि में रहने वाली विशेष्यता की अनुयोगिता, अधिकरणता, पक्षता आदि के समान किसी भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। विशेष्य, अधिकरण आदि सापेक्ष पदार्थ हैं। उनका सम्बन्ध कहीं प्रतीत नहीं होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रतीति में जो सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह प्रकार के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। अतः प्रकारता सम्बन्ध से नियमित होती है, विशेष्यता नहीं होती। विशेष्यता धर्म से तो नियमित होती है, परन्तु सम्बन्ध से नहीं होती। इसका कारण आगे स्पष्ट किया जायगा।

प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव और कार्य-कारण-भाव की निर्दुष्टता को सिद्ध करने के लिये प्रतियोगिता की तरह ही प्रकारता को भी सम्बन्ध से नियमित मानना चाहिये यह बात पूर्व-लेखों में स्पष्ट की जा चुकी है।

यद्यपि प्रकार में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकारतावच्छेदक तथा प्रकार (विशेषण) दोनों भी होता है तथापि उसमें रहने वाली प्रकारता मुख्य प्रकारता नहीं होती। जो प्रकारता अवच्छेदकता-रूप नहीं होती उसे ही मुख्य प्रकारता कहते हैं। उसी प्रकार प्रकारता-रूप न होने वाली विशेष्यता को मुख्य विशेष्यता कहते हैं। उसके विषय में अग्रिम लेख में विवेचन किया जायगा। प्रकारता के समान ही 'प्रकारतावच्छेदकता' भी कहीं किसी अन्य धर्म से नियमित होती है तो कभी किसी भी धर्म से नियमित नहीं होती है। (याने निरवच्छिन्न होती है)। जैसे-' रूपत्वव्याप्य-जातिमद्वान् घटः ' यहाँ पर रूपत्व-व्याप्यजाति (नीलत्व, पीतत्व) आदि में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता जातित्व धर्म से नियमित होती है। जाति का उल्लेख करने पर जाति स्वरूपतः प्रकार न हो कर जातित्व धर्म के द्वारा प्रकार होती है। उसी प्रकार 'घटवद्भूतलम्' ऐसा ज्ञान होने पर घटत्व में प्रतीत होने वाली प्रकारतावच्छेदकता किसी भी अन्य धर्म से नियमित नहीं होती है। क्योंकि यहाँ घटत्व का उल्लेख न होने से घटत्व घटत्व के रूप में ही प्रतीत होता है, घटत्वत्व के द्वारा नहीं।

प्रकारता के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि प्रकारता कभी धर्म से नियमित होती है तो कभी धर्म से नियमित नहीं होती। अर्थात्, वहाँ वह निरवच्छिन्न होती है। परन्तु वह सदा-सर्वदा किसी-न-किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। इसलिये प्रकारता को अन्य विषयताओं से भिन्न सिद्ध करने के लिये उसको संसर्ग (सम्बन्ध) से अवच्छिन्न विषयता के रूप में परिभाषित किया जाता है।

प्रकारता के समान ही विशेष्यता, साध्यता, विधेयता, उद्देश्यता, कोटिता आदि अन्य अनेक भेद होते हैं जिनका विवेचन अग्रिम लेखों में किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११००७

- बलिराम शुक्ल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. जानकीनाथ भट्टाचार्य; प्रकारता चायं घट इत्यादि ज्ञाने विशेषणस्य घटत्वादेर्विशेषणत्वापरनामा विषयताविशेषः। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्यां

२. (क) वहीं; अन्ये तु भासमानवैशिष्ट्य प्रतियोगित्वं प्रकारत्वम्
(ख) गदाधर; यत्तु भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं प्रकारत्वं तादृश वैशिष्ट्यानुयोगित्वं च विशेष्यत्वं न विषयतारूपमिति। विषयतावादे

३. वहीं; तदसत्; उक्तं समूहालम्बनस्यापि घटप्रतियोगिक वैशिष्ट्य विषयकतया घटप्रकारत्वापत्तेः संयोगादिरूपव्यधिकरणसम्बन्धेन द्रव्यत्वादिभ्रमस्य द्रव्यत्वादिप्रकारत्वानुपपत्तेः, भूतले घट इत्यादि ज्ञानस्य भूतलाद्यनुयोगिक संयोगादिविषयकतया भूतलत्वादि विशेष्यकत्वापत्तेः, गुणादि संयोगादि सम्बन्धेन घटादि भ्रमस्य गुणादिविषयकत्वानुपपत्तेश्च।

४. यादवाचार्य; दण्डपुरुषसंयोगप्रतियोगित्वानुयोगित्वादिति समूहालम्बनस्य दण्डीपुरुष इति विशिष्टज्ञानस्य च भेदो न स्यात्। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्याः व्याख्यायाम्

५. जानकीनाथ भट्टाचार्य; पदार्थान्तरमित्येकदेशिनः। न्याय सिध्दान्तमञ्जर्याम्

६. तत्रैव; विशेषणतोपलक्षणताभेदेन प्रकारता द्विविधा।

७. गदाधर; तत्र विद्यमानं व्यावर्तकं सद्विशेषणम्, अविद्यमानमपि व्यावर्तकं सदुपलक्षणम्। इदं तु बोध्यम्–प्रकृत्यर्थस्य निरुक्त वैशिष्टयं यदि वर्तमानतया प्रत्यायते तदैव विशेषणत्वेन यदि चावर्तमानत्वेन तदा उपलक्षणत्वेन व्यपदिश्यते। शब्दशक्ति प्रकाशिकायां कारकप्रकरणे

८. यादवाचार्य; तस्माद् व्यावृत्यधिकरणतावच्छेदकत्वे सति व्यावृत्ति जनकं विशेषणम्, अवच्छेदत्वं चान्यूनानतिरिक्तत्ववृत्तित्वम्। व्यावृत्यधिकरणतानवच्छेदकत्वे सति व्यावृत्तिजनकमुपलक्षणम्। उपलक्षणस्य व्यावृत्याधिकरणतावच्छेदकत्वाभावादिति संक्षेपः। न्यायसिध्दान्तमञ्जर्याः व्याख्यायाम्

९. गंगेशोपाध्याय; एवं च प्रत्यायव्यावृत्यधिकरणतावच्छेदकत्वे सति व्यावर्तकं विशेषणम्, तदन्यव्यावर्तकमुपलक्षणम्। तत्त्वचिन्तामणि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१०. गदाधर; प्रकारता च द्विविधा – निरवच्छिन्नाविशेषणान्तरावच्छिन्ना च।

११. वहीं; वस्तुतस्तु घटत्वादिनिष्ठ प्रकारतानिरूपितत्वमेव घटादि प्रकारतायां घटत्वावच्छिन्नत्वम्।

१२. वहीं; परे तु घटवदित्याकारकं विशिष्टविशेषणकं ज्ञानं द्विविधम्– विविष्टवैशिष्ट्यावगाहिबोधात्मकं, केवले विशेष्ये विशेषणं। तत्र च विशेषणान्तरमितिरीत्या घटत्वाद्यवगाहि च।

१३. नीलकण्ठ; संसर्गावच्छिन्नविषयतेति यावत्। तर्कसंग्रहस्य नीलकण्ठी टीकायाम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिंदी) पत्रिका के सितम्बर १९९० के अंक में प्रकाशित डॉ. सत्यपाल गौतम का लेख 'भारतीय संदर्भ में धर्म-निरपेक्षता का आदर्श: एक विवेचन' देखने को मिला। जैसा कि लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता एक आदर्श बन कर रह गया है। आदर्श वह है जिसकी प्राप्ति के लिए हम प्रयत्न कर सकते हैं, पर जिसे प्राप्त कर नहीं सकते। ऐसा लगता है कि लेखक इस तथ्य को पहले से स्वीकार कर चुके हैं कि भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की व्यावहारिक परिणति संभव नहीं (पृष्ठ २४९)। अपने विचार के पुष्टीकरण के क्रम में लेखक ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि भारत में विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच परस्पर संघर्ष चलता रहा है (पृ. २४९)। धर्म व्यक्ति की आत्मनिष्ठ अभिव्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म के प्रति प्रतिबद्ध होता है। अपने धर्म की मान्यताओं और विशिष्टताओं को प्रत्येक व्यक्ति स्थापित करना चाहता है और अन्य धर्मों की मान्यताओं और विशिष्टताओं को तिरस्कृत करना चाहता है। ऐसी स्थिति में अन्य धर्मों के साथ व्यक्ति न्याय नहीं कर पाता। व्यक्ति अपने धर्म की स्थापनाओं और मान्यताओं को इतना पवित्र मानता है कि उनका अस्वीकरण या उन के सम्बन्ध में संदेह प्रकटीकरण नितान्त अशुभ कर्म समझा जाता है (पृष्ठ २६९)।

उपर्युक्त परिस्थितियों को धर्मनिरपेक्षता के लिए अनुकूल नहीं समझा जाता। धर्मनिरपेक्षता से हमारा तात्पर्य धर्म के प्रति उदासीनता मात्र नहीं बल्कि अन्य धर्मों के प्रति आदर-भाव रखना भी है। परन्तु लेखक ने इस लेख में धर्म के नाम पर हो रहे अनेकानेक अत्याचारों, अन्यायों और दमनों की चर्चा की है। लेखक के इस दृष्टिकोण में सूक्ष्म तकनीकी अशुद्धि है जो धर्म और धर्मवाद (Religion and Religionism) के बीच भेद को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ होता है धारण करना। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो लोक को धारण करता है वही धर्म है। इस प्रकार धर्म जीवन-तत्त्व है। लकडी में लिखने की शक्ति आ जाती है तब वह लेखनी का रूप ले लेती है। लेखन-शक्ति ही लेखनी का धर्म है। सामाजिक मूल्य समाज का धर्म है, जिसके अभाव में वह अनियंत्रित जंगल में परिवर्तित हो जाता है। विवेकशीलता मनुष्य का धर्म है, पशु का नहीं। विवेकशीलता ही वह विभेदक गुण है जिसके आधार पर मनुष्य और पशु में अन्तर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया जाता है। सुविचारित आचरण करना ही मनुष्य की मनुष्यता का सूचक है। जो व्यक्ति धर्म को इस अर्थ में स्वीकार करता है वह स्वयं तो विकसित होता ही है, अन्य लोगों के लिए भी विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि धर्म पर धर्म–विचारक के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि धर्म–दार्शनिक के दृष्टिकोण से विचार किया जाय। धर्म–विचारक अपने धर्म का उपदेशक होता है और इसीलिए उसके विचार में बौद्धिकता का अभाव पाया जाता है। अपने धर्म की मान्यताओं को पूर्ण सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए धर्म–विचारक अपने विचार को बौद्धिकता का वह अंश नहीं दे पाता जो उसे युक्तिसंगतता प्रदान करने में सहायक हो। धर्म–विचारक का दृष्टिकोण भावना–प्रधान होता है जिसमें बाह्य आडम्बरों, रीति–रिवाजों और कर्मकाण्डों को विशेष महत्ता दी जाती है। इसके विपरीत धर्म–दार्शनिक धार्मिक मान्यताओं और विशिष्टताओं को बौध्दिकता प्रदान करता है। दर्शन को ज्ञान के प्रति प्रेम कहा गया है और धर्म के साथ जब इसे युक्त किया जाता है तो धर्म में भी ज्ञान का वह अंश जाता है जो अभी तक उसमें अनुपस्थित था।

धर्मवाद वास्तव में सम्प्रदायगत धर्म है। यह लोगों में वैमनस्य, असहनशीलता और अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापन के लिए धर्म–परिवर्तन का समर्थन करता है। इस प्रकार धर्मवाद मानवीय मूल्यों की हत्या करता है, जब कि धर्म मानवीय सद्‌गुणों को प्रतिष्ठित करता है। यदि धर्मवाद को धर्म के अनुशासन में विकसित किया जाय तो सभी सम्प्रदायगत धर्म लोगों में परस्पर सद्‌भाव जागृत करने में सफल हो सकते हैं। वास्तव में धर्मवाद स्वयं साध्य न हो कर धर्म या सत्य के प्रकाशन का साधन है, ऐसा समझने से ही धर्मों के बीच समभाव उत्पन्न हो सकता है। अत: लेखक ने जिन समस्याओं को उपस्थित किया है वह धर्म की समस्यायें नहीं बल्कि धर्मवाद की समस्यायें हैं। धर्मवाद से जो समस्यायें उत्पन्न होती हैं उनका समाधान धर्म के सही अर्थ को ग्रहण करने में है, न कि धर्म के विकृत अर्थ को बार–बार प्रचारित करने में।

भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता को स्थान दिया जाना एक व्यावहारिक बाध्यता थी। हमारे संविधान–निर्माताओं ने तत्कालीन परिस्थिति और भविष्य की संभावनाओं को देखते हुए धर्मनिरपेक्षता को महत्ता प्रदान करना अनिवार्य समझा। हमारा समाज बहुजातिय है। हमारे समाज में भिन्न–भिन्न जाति, वर्ग और सम्प्रदाय के लोग हैं। इनकी अपनी–अपनी मान्यताएं और परंपराएं हैं। इनमें वस्त्र, खान–पान, आचार–व्यवहार, धार्मिक मान्यताएं और मूल्यों को ले कर पर्याप्त विभिन्नता है। इन सम्प्रदायों में भी अनेक प्रकार की आन्तरिक विविधता के परिणामस्वरूप इतने विवाद और असहमतियां हैं कि इनको अपने आप में सम्पूर्णतया संगठित, अखंड, धार्मिक इकाईयां मानना भ्रामक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होगा । यदि मुसलमानों में सुन्नी और शिया, ईसाइयों में सीरियन, कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट इत्यादि मतों में तीव्र मतभेद हैं तो हिन्दुओं में भी शैवों, वैष्णवों, सनातनों, आर्यसमाजियों, दुर्गा के उपासकों तथा अन्य मतानुयाइयों में कई प्रकार के विवाद हैं (पृष्ठ २६०) । इस प्रसंग में लेखक का यह प्रश्न उठाना बिल्कुल स्वाभाविक है कि यदि इन सभी धर्मों, सम्प्रदायों में इतने आंतरिक तथा पारस्परिक मतभेद हैं तो इनका हृदय अथवा मर्म एक कैसे हो सकता है ? किसी भी संगठित संस्थागत धर्म की परम्परा में पले व्यक्ति के लिए अपनी आस्थाओं के विरोधी मान्यताओं का आदर करना तो दूर, आपाततः स्वीकार करना भी असंभव है (पृ. २६२) । यही हमारे अन्दर अन्य धर्मों के प्रति असहनशीलता की भावना पैदा करता है । हमारे अन्दर जो धार्मिक असहनशीलता की भावना है उसके मूल में राजनीति का प्रवेश है । यदि मानव जाति के इतिहास को देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण मानवीय इतिहास धर्म और राजनीति के संघर्ष की कहानी है । राजनीति के द्वारा व्यक्ति अपने अहं की तुष्टि करता है, जबकि धर्म का अर्थ है अहं से मुक्ति । इस प्रकार राजनीति और धर्म दो भिन्न धरातल पर अवस्थित हैं । इस बात के अनेक उदाहरण हैं कि जब-जब धर्म का राजनीतिकरण किया गया है, मनुष्य दिशाभ्रमित हुआ है । आज राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद कुछ इसी प्रकार रूप लेता जा रहा है । हम अपनी तथाकथित धार्मिक आस्थाओं के प्रति अन्धविश्वास करने लगे हैं और इसी अन्धविश्वासपूर्णता का कारण है कि धार्मिक विषयों को हम अपनी मर्यादा का विषय बना लेते हैं । हमारी इस मर्यादा का कोई यौक्तिक आधार नहीं । हम न जाने कब तक अपने धर्म की तथाकथित श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए अन्य धर्मों को तिरस्कृत करते रहेंगे । मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि कोई भी धर्म साम्प्रदायिकता, कट्टरता और असहनशीलता का उपदेश नहीं देता । यह सचमुच दुर्भाग्य की बात है कि हमें न तो अपने धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित मान्यताओं और दृष्टिकोणों की सही जानकारी है, और न अन्य धर्मों के बारे में ही हमें कुछ निश्चित जानकारी है। धर्म के सम्बन्ध में हम बिल्कुल अज्ञान की स्थिति में हैं । आज हमारे पंडित-पुरोहित, मुल्ला और पादरी जो कहते हैं उसे ही सही मान कर हम तदनुसार क्रिया करते हैं । धर्म के प्रति हमारी भावनात्मक प्रतिबद्धता और अज्ञानता का धर्मपुरोहितों और राजनीतिज्ञों ने नाजायज फायदा उठाया है । आज हमारे राजनीतिज्ञों का एक मात्र उद्देश्य किसी प्रकार से पदासीन होकर अपने वर्ग-विशेष के अन्यायों को भी न्याय रूप देना रह गया है । चुनाव में पराजय की दुष्कल्पना उन्हें अपने निजी हितों के परे कुछ सोचने ही नहीं देती । अपने स्वार्थपूर्ति के हेतु ये लोग जनमानस में धार्मिक उन्माद फैलाते हैं और अपने को जनसेवक कहलाने में गर्व महसूस करते हैं । ऐसी मानसिकता के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारण ही आज धर्म व्यक्ति के लिए नहीं बल्कि व्यक्ति धर्म के लिए बन कर रह गया है। आज स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि अन्य धर्म के लोग हमारे धर्म के दोषों को उद्घाटित करते हैं तो इसे उनका अक्षम्य अपराध माना जाता है और उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण प्रतिशोधात्मक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपने धर्म की आलोचना भी हमें खुद ही करनी है और धर्म की आलोचना हम कर नहीं सकते क्योंकि अपने धर्म के प्रति हमारी धार्मिक प्रतिबद्धता है।

सत्यपाल जी के लेख में धर्मनिरपेक्षता के भविष्य के प्रति निराशा की झलक देखने को मिलती है। लेखक ने धर्म में राजनीति के प्रवेश का खुल कर विरोध किया है और उन राजनीतिक दलों और सम्प्रदायों को दंडित करने की अनुदेशना दी है (पृ. २२७)। लेखक ने लेख के अंत में जो सुझाव दिया है उसकी व्यावहारिकता संदिग्ध है। व्यक्ति अपनी धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों को सहजता से त्याग करने की स्थिति में नहीं होता। धर्म की जो मुख्य समस्या है उसके मूल में परात्पर सत्ता में अन्ध-विश्वास है। इस अन्ध-विश्वास से जब तक हम मुक्त न होंगे तब तक समस्या का निदान नजर नहीं आयेगा। अतः मेरे विचार से धर्म से परात्परता का भाव निराकृत कर उसमें मानवता का भाव प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए ताकि हम धर्म उसी को मानें जो मानवीय अस्तित्व और उसके मूल्यों की रक्षा करे। धर्म को मानव-केन्द्रित होना चाहिए, न कि ईश्वर केंद्रित। मैं धर्म-निरपेक्षता के भविष्य के प्रति निराश नहीं बल्कि निराशा मुझे धर्म-निरपेक्षता के संदर्भ में चर्चित कुछ परम्परागत सीमाओं से है। धर्म-निरपेक्षता को यदि हम अपने समाज में उचित स्थान दिलाना चाहते हैं तो हमें उन परम्पराओं और मान्यताओं से मुक्त होना पड़ेगा, जिनके कारण हमारे समाज में अनेक कुरीतियाँ वर्तमान हैं। अतः मैं इस विचार का समर्थन करूंगा कि धर्म-निरपेक्षता को समाज में स्थान दिया जाना एक व्यावहारिक अनिवार्यता है और इसे प्राप्त करने के लिए इसके मार्ग में बाधक कुछ तात्त्विक मान्यताओं को हटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है। मैं समझता हूं लेखक ने लेख में जिन समस्याओं के समाधान में परेशानी महसूस की है उसका बहुत अंश में समाधान धर्म से तात्त्विक चिन्तन को हटा कर उसे मानवीय धरातल पर अवस्थित कराने में ही है।

विजय कुमार सिन्हा

दर्शनशास्त्र विभाग,
एस्. एस्. सिन्हा कालेज,
(मगध विश्वविद्यालय सेवा)
जहानाबाद – ८०४४१७
(बिहार)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ–समीक्षा

चौधरी, (डॉ.) धनराज; ब्रह्माण्ड का रहस्य, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, १९८९, पृ ८४; मूल्य : रु ५०।–(स.)

हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित ऐसी पुस्तकों का अभाव है जो एक सामान्य पाठक को उस विषय का ज्ञान करा सकें और साथ ही, विषय के तकनीकी पक्ष को सुरक्षित रख सकें। जाहिर है यह काम वही कर सकता है जो वैज्ञानिक होने के साथ ही साथ रचनात्मक हो। भौतिकीविद्, कथाकार और कला के मर्मज्ञ डॉ. धनराज चौधरी एक ऐसे ही लेखक हैं जिन्होंने अपने तरीके से यह कार्य किया है। डॉ. धनराज जी के अभी तक दो उपन्यास और दो कहानी संग्रह आ चुके हैं और इसी क्रम में उनकी नवीनतम कृति ब्रह्मांड का रहस्य उनके कथाकार रूप का विलोम न हो कर उसका पूरक ही है। इसी सन्दर्भ में एक बात यह है कि लेखक की कथा–भाषा अपेक्षाकृत अधिक अटपटी (दुरूह नहीं) है; इसका कारण उनकी भाषिक संरचना है। यहाँ पर भी विज्ञान–बोध का प्रभाव है जो अक्सर उनके रूपाकारों और शब्दों के प्रयोग में देखा जा सकता है। (देखें – राजस्थान साहित्य अकादमी के द्वारा प्रस्तुत साहित्यकार प्रस्तुती के अन्तर्गत डॉ. चौधरी के कृतित्व पर मेरा लेख 'एक वैज्ञानिक की कथा-यात्रा'।) जहाँ तक ब्रह्माण्ड का रहस्य की भाषा का प्रश्न है, वह सुबोध, तार्किक और वाक्य–विन्यास की दृष्टि से अधिक ग्राह्य है। भाषा के ये दो स्तर लेखक के उस व्यक्तित्व को संकेतित करते हैं जो एक ओर रचनाकार है, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक। यही कारण है कि प्रस्तुत कृति इन दोनों स्वरों को एक प्रकार से सन्तुलित और समन्वित करती है। एक उदाहरण लें जिसमें द्रव्यमान का मान और तारा बनने के आपसी सम्बन्ध को सरलता से समझाया गया है। यथा–'एक जिज्ञासा स्वाभाविक है कि द्रव्यमान का मान कम–से–कम कितना होना चाहिये जब कि कोई वस्तु (वस्तु के स्थान पर पदार्थ या द्रव्य का प्रयोग अधिक समीचिन होता।) तारा बन जाय। गणना से हमें यह मान कम-से-कम सूर्य का ८ प्रतिशत द्रव्यमान प्राप्त होता है। अर्थात्, यदि कोई वस्तु, जिसका द्रव्यमान सूर्य के ८ प्रतिशत द्रव्यमान से कम होगा, वह कभी तारा नहीं बन सकेगा। ऐसी वस्तु में ऊष्मा–नामिकी–प्रक्रिया स्वतःही निरन्तर नहीं रह सकेगी जो कि सूर्य होने की या तारा होने की आवश्यक मांग है।' (पृ. २१) पुस्तक में ऐसे उदाहरण अनेक हैं जो तथ्य और गणना के आपसी रिश्ते को प्रकट करते हैं और साथ ही मुक्तिबोध के इस कथन को भी साकार करते हैं कि शुद्ध तार्किक भावों और तथ्यों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी एक रोमान्स होता है। आज की वैज्ञानिक प्रगति क्या एक ऐसा रोमान्स नहीं है जो तथ्याश्रित है।

पुस्तक से गुजरते हुए ब्रह्माण्ड की संरचना और उसके घटकों के आपसी सम्बन्ध का एक ऐसा बृहद् चित्र क्रमशः उद्घाटित होता है जो ब्रह्माण्ड की संरचना और रहस्य को एक तार्किक आधार देता है। बृहद् विस्फोट से लेकर ब्रह्माण्ड के भिन्न घटकों (जैसे, मन्दाकिनियाँ, तारे, सूर्य, सौरमण्डल के घटक, चन्द्रमा, बुध, मंगल, तथा भीमकाय ग्रह आदि) का अलग-अलग विवेचन, प्रत्येक घटक की संरचना और रहस्य की अधुनातम जानकारी देता है और साथ ही आवश्यकतानुसार ऐसे चित्रों और रेखांकनों को भी प्रस्तुत करता है जो विषय को अधिक बोध-गम्य बना देते हैं। उदाहरणस्वरूप आकाशगंगा, मन्दाकिनी, ब्रह्माण्ड का माप, कृष्णविवर का स्वरूप, सूर्य-किरीट आदि के चित्र ब्रह्माण्ड के घटकों की संरचना को स्पष्ट करते हैं और साथ ही पुस्तक के विवेचन को अधिक पारदर्शक बना देते हैं। पुस्तक का पहला परिच्छेद 'हम ही हम या और भी कोई ?' ब्रह्माण्ड में जीवन की सम्भावना (?) को प्रस्तुत करता है कि पृथ्वी अतिरिक्त किसी भी अन्य ग्रह पर जीवधारी हैं या नहीं ? वाईकिंग (१९७६-७८) से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर जो आशा थी वह भी पृष्ठभूमि में चली गयी। हमारी जैविकी एक प्रकार की है, अन्य प्रकार की जैविकी भी संभव है जिसके बारे में हमें पता नहीं। (पृ ११) असल में, यह प्रकरण अन्त में होना चाहिये था, क्योंकि बृहद् विस्फोट के बाद ही जीवन और रसायनों का मिला रूप विकसित होता है, और तभी ब्रह्माण्ड में जैविकी के रूपों पर चर्चा की जानी चाहिये। मेरे विचार से यह एक तार्किक क्रम होता।

इस पुस्तक का प्रत्येक अध्याय महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ब्रह्माण्ड के घटकों और उनके अन्तःसंबधों का जो समग्र चित्र उभर कर आता है, वह इन्हीं के आधार पर निर्मित होता है। लेखक ने इस आधार का पूरा विवेचन किया है। लेकिन अन्त में एक ऐसा अध्याय भी अपेक्षित था जो निष्कर्ष रूप में ब्रह्माण्ड की सरचना एवं भविष्य के बारे में विचार प्रस्तुत करता। वैसे कहीं कहीं पर लेखक ने इसकी ओर संकेत किया है लेकिन उन्हें एक स्थल पर लाना आवश्यक था। इसी के साथ भारतीय ज्योतिष और गणित की उपपत्तियों की भी छानबीन जरूरी थी जिससे यह प्रकट होता कि आधुनिक विज्ञान और हमारी परम्परा में क्या कोई साम्य है या नहीं ? एक वैज्ञानिक के द्वारा ऐसा कार्य सत्य के सही परिप्रेक्ष्य को उद्घाटित करता। उदाहरण के तौर पर एक बात की चर्चा करना व्यर्थ न होगा। भारतीय एवं पूर्वीय विचारों में हिरण्यगर्भ एक ऐसा आदिअण्ड (जिसे 'यूरोबोरस भी कहते हैं) जो काल के एक विशेष बिन्दु पर अतीत में विस्फोटित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता है, और उसी से क्रमशः काल पुरुष (ब्रह्माण्ड रचना) और इतिहास–पुरुष (मानवीय धरती का इतिहास) का प्रादुर्भाव और विकास होता है। क्या इस तथ्य को हम नितान्त कल्पना कह सकते हैं? विज्ञान में बृहद् विस्फोट (पुस्तक का द्वितीय प्रकरण) का सिद्धान्त मान्य है, जिसका संकेत भारतीय ज्योतिष और तत्त्वमीमांसीय ग्रन्थों में सुरक्षित है। अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना कालपुरुष का रूप है और ब्रह्माण्ड की जैव–सृष्टि इतिहास–पुरुष की क्रिया है। एक अन्य आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि कहीं–कहीं पर आज की कालगणना वैदिक काल-गणना के इतनी निकट है कि आश्चर्य होता है कि ऋषि–प्रज्ञा की अन्तर्दृष्टि क्या थी जब कि उस समय आज के उपकरणों का अभाव था। उदाहरण स्वरूप आदि अण्ड (हिरण्यगर्भ) का रचना काल १०–१२ अरब वर्ष माना गया है जो आधुनिक वैज्ञानिक गणना (१० अरब) के काफी निकट है। इसी प्रकार सूर्य का जन्म छः अरब सत्ताईस करोड़ वर्ष के पूर्व माना गया था जो आधुनिक गणित के अनुसार ६–७ अरब वर्ष के मध्य में स्वीकार किया गया है। यहाँ पर मैं इन तथ्यों को श्री. वासुदेव पोद्दार के द्वारा लिखी महत्वपूर्ण पुस्तक काल–यात्रा से दे रहा हूँ जो ऋषि–प्रज्ञा के विज्ञान–घन–चिन्तन की परिचायक है। कहने का तात्पर्य है कि डॉ. धनराज चौधरी यदि इन स्रोतों का भी उपयोग करते तो पुस्तक अधिक उपयुक्त और ज्ञानवेधक होती। यह एक सुझाव मात्र है; कह नहीं सकता कि लेखक इसे किस रूप में ग्रहण करेंगे।

इस पुस्तक में मुझे तीन अध्याय विशेष महत्त्व के लगे। वे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और संरचना–घटकों की विस्तृत जानकारी देते हैं। 'बृहद् विस्फोट' और 'मन्दाकिनियाँ' नामक अध्यायों में क्वासर का सुन्दर विवेचन है और साथ ही मन्दाकिनियों के स्वरूप और प्रकारों (सर्पाकार और दीर्घवृत्ताकार) का भी। लेखक ने क्वासर के केन्द्र में बृहद् कृष्णविवर के होने की सम्भावना को माना है जो ऊर्जास्रोत है – करोडों सूर्यों के द्रव्यमान से भी अधिक (पृ. २३)। एक आश्चर्यजनक जानकारी यह भी है कि मन्दाकिनियों में १० प्रतिशत पदार्थ अदीप्त प्रकार का है। अर्थात्, दिक् में अधिकांश पदार्थ अदृश्य प्रकार का है। आकाश-गंगा एक पतली वृत्ताकार सी चकती है। इसी संदर्भ में 'तारे' नामक अध्याय भी महत्त्वपूर्ण है जिसके अन्तर्गत सूर्य (तारा), भीमकाय तारे (सुपर जैंट, लाल सुपर जैंट, श्वेत बौने तारे;) तारकीय ऊर्जा, न्यूट्रान तारे, पल्सार और कृष्णविवर का विवेचन इस प्रकार किया गया है कि इन भिन्न तारों की स्वरूप–भिन्नता पाठक को स्पष्ट हो जाती है। यहाँ पर मैंने मात्र संकेत किया है जो यह स्पष्ट करता है कि पुस्तक ब्रह्माण्ड की संरचना को बखूबी प्रस्तुत करती है।

समग्र रूप में, डॉ. धनराज चौधरी की यह पुस्तक हिन्दी में एक ऐसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुस्तक है जिसे पेपरबैक में निकालना चाहिये जिससे वह अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँच सके। मुझे आशा है डॉ चौधरी आगे ऐसे ही विषयों पर लिख कर हमारे ज्ञान का विस्तार करेंगे। पंचशील प्रकाशन ने ऐसी पुस्तक का प्रकाशन कर हिन्दी जगत् की एक बड़ी सेवा की है, और मुझे आशा है कि वह आगे भी ऐसे वैज्ञानिक प्रकाशनों में पहल करता रहेगा।

५ झ। १५ जवाहर नगर
जयपुर-३०२००४
(राजस्थान)

वीरेन्द्र सिंह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

मधु कपूर	अर्थ-एकवाक्यता-व्युत्पत्तिवाद के परिप्रेक्ष्य में	१
मो. प्र. मराठे	अनुसन्धान की दिशाएँ : जैन-विद्या के सन्दर्भ में	२५
हरिहरप्रसाद गुप्त	षड्ऋतु-वर्णन-(पद्मावत) के दो छन्द : काव्यमर्म	३५
राममूर्ति त्रिपाठी	काव्य में धर्मि-धर्म-भाव का विचार	४५
प्रभा शर्मा	सौन्दरनन्द महाकाव्य में विभावों की अभिव्यक्ति	५०
बलिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१७) विषयता (iii)	५५
	प्रतिक्रिया	६४
	ग्रन्थ-समीक्षा	९८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिंदी)

खण्ड ११ अंक ४

सितम्बर, १९९० / भाद्रपद-आश्विन, २०४६

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे | राजेन्द्र प्रसाद

आनन्दप्रकाश दीक्षित | मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

□ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका
□ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक सुरेन्द्र बार्लिंगे □ राजेन्द्र प्रसाद □ आनन्दप्रकाश दीक्षित
□ मो. प्र. मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :
धर्मेंद्र गोयल □ रमाकान्त सिनारी □ विजयकुमार भारद्वाज □ शारदा जैन संगमलाल पांडे □ आर्. बालसुब्रमणियम् □ अशोक रा. केळकर □ के. जे. शहा □ नारायणशास्त्री द्राविड़ □ के. सच्चिदानंद मूर्ति □ जी. सी. नायक □ ग. ना. जोशी □ मोहनलाल मेहता □ जे. फार्ईस □ सुमन गुप्ता □ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर □ सु. ए. भेलके □ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें, संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ४०–००
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ३०–००
(३) छात्रों के लिए	रु. २०–००
एक प्रति	रु. ८–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १२५०–००
व्यक्तियों के लिए रु. ३००–००

□ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अलख को लख, अगम को गम बनाने वाला रामानन्दी कबीर

अलख

अलख– गुजराती, मराठी, हिंदी तीनों में, मध्यकालीन संत साहित्य में अलख का प्रयोग मिलता है। अलक्ष्य महाभारत में 'जो दिखाई न पड़े' के आशय में है। मराठी व्युत्पत्ति कोश में अलख की व्युत्पत्ति 'अलक्ष्य' से स्वीकारने में संदेह किया गया है, किन्तु महाभारत के आधार पर अलख की परंपरा 'अलक्ष्य' से सिध्द है। अलख संत साहित्य में ब्रह्म का पर्याय है, अतः यह पारिभाषिक शब्द के रूप में विकसित हुआ।

अलेख भी अलख के आशय में है– 'लेख समाना अलेख मैं, यों आप महँ आप।' तथा 'भरमकरम सब हरि करि, सबही माँहि अलेख।' (कबीर) 'अलेख' इस संदर्भ में 'लिख' धातु से विकसित नहीं है यह लक्ष् (लक्ष्य) = निशाना से ही संबंधित है।

अलख का प्रयोग जायसी कृत पद्मावत में है। 'अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सो सब ओहिं सौ बरता।' ६

चाँदायन – (राऊद कृत) में 'अलख' – और 'निरंजन' का संयुक्त प्रयोग है।

'अलख निरंजन जाहि जियावइ।' ३१२

कबीर ने भी अलख निरंजन का एक–साथ प्रयोग किया है।

अलख निरंजन लखै न कोई, जेहि बंधे बंधा सब कोई ॥

निरंजन (निर्+अंजन) अरूप के आशय में है। अंज् धातु आँजने, मलहम या लेप या नेत्रों में काजल लगाने के आशय में है। निरंजन अर्थात् जो सजाया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न गया हो–निर्लेप अथवा अरूप अवर्ण। आपटे ने निरंजन का प्रयोग परब्रह्म के आशय में दिया है पर यह प्रयोग किस ग्रंथ में है यह संकेत नहीं दिया है।[१]

प्राकृत में णिरंजण प्रयुक्त है।

अलख का प्रयोग रामचरितमानस में भी है – 'जो अज अगुन अलख गति सोई।' १.१०८.४; 'व्यापक ब्रह्म अलख अविनासी।' १.३४१.३.

समूचे भारतीय वाङ्मय में ब्रह्म के प्रति आस्था है। तुलसीदास भले ही अवतारी राम के उपासक हों पर निर्गुण, अगुण, अरूप को रूप में वे भी स्वीकारते हैं। हिंदी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल) के कारण पाठक को यह भ्रम होता है कि कबीर शुद्ध निर्गुणवादी थे और तुलसी शुद्ध सगुणवादी। सत्य यह है कि कबीर भी राम के भक्तवत्सल, दयालु, शरणागत उद्धारक रूप के प्रति तुलसी से कम सश्रद्ध नहीं हैं (द्रष्टव्य, लेखक की कृति वैष्णव कबीर)। जो दृष्टि से परे है ऐसे परतत्त्व को सांसारिक अथवा इंन्द्रिय संबंधी ज्ञात से परे बताने के लिए विशेषणों के पूर्व 'अ', नकारदर्शक अव्यय, का प्रयोग रूढ़ हो गया था। यथा, अगम, अगोचर, अदृष्ट, अव्यय आदि।

अगोचर

यह मराठी–हिंदी में अदृष्ट, अदृश्य के आशय में परब्रह्म के लिए ही है। सूर का प्रयोग है 'मन बानी कौं अगम अगोचर जो जानै सो पावै / ' १।२ तथा ' निगमनि हूँ मन–बचन अगोचर।' ८/३ (संस्कृत में यही इस प्रकार कहा गया है – 'वाचामगोचरांहर्षावस्थामस्पृशत्।') कबीर का प्रयोग है – 'अँधियारे दीपक चहिए, तब वस्तु अगोचर लहिए।' तथा 'अगम अगोचर गमि नहीं, जहां जगमगै जोति।' मानस में है : ' मन बुध्दि बर बानी अगोचर प्रगट कवि कैसे करे।' १.३२३ संस्कृत 'गो' इंन्द्रियवाचक है।

अगम–

यह संस्कृत 'अगम्य' से विकसित है। अदृश्य, अदर्शनीय, अगोचर समानार्थी हैं। भक्ति-साहित्य में अगम का प्रचुर प्रयोग है – सूर कहते हैं 'हरि अगम–अगोचर लीलाधारी।' सूर के कृष्ण अगम्य भी हैं और लीलाधारी भी हैं। यह विरोधाभास भक्ति-साहित्य की देन है। सगुणोपासक सूर यहाँ कबीर के निकट हैं। कबीर कहते हैं 'कहै कबीर गुंनी अरु पंडित मिलि लीला जस गावे।' ३३ (रामकली (कबीर ग्रन्थावली, डॉ. माता प्रसाद गुप्त)।) कबीर राम-कृष्ण के लीला-यश के गायन की महिमा पर बल देते हैं – जो अगम्य है उसकी लीला ही भक्त को सुलभ है। लीला के माध्यम से वह उसे जान पाता है। दृश्य से अदृश्य की ओर जाना मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक है। भक्ति साहित्य इस दृष्टि से अद्भुत है। कबीर कहते हैं– ' एक नाम है अगम गंभीरा, तहवां स्थिर दास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कबीरा।' तथा 'अगम दुर्गम गढ़ रचिओ बास, जामहि जोति करै परगास।' कबीर ने अपनी भक्ति से अगम्य को गम्य बना लिया—'कहै कबीर अगम किया गम, राम रंग रँगी।' अथवा 'अगम काटि गम कियहु हो रमैया राम।' अगम-अगोचर को गम्य और दृश्य बताने वाला दार्शनिक वैष्णव कबीर संपूर्ण भक्ति-वाङ्मय में अद्वितीय है। 'सेस गनेस गिरा गमु नाहीं।' (मानस २.३२५) को प्राप्त कर लिया कबीर मनस्वी ने। ऐसे ही ज्ञानी-योगी को लक्ष्य कर के संभवतः मानसकार ने कहा है 'योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारं।' सचाई तो यह है कि 'योगिनामप्यगम्यम्' को गम्य-सुगम बनाने वाला साधक कबीर असाधारण है। अनुभूति में कितनी सचाई और प्रभविष्णुता है। कबीर का अनुभव परोक्ष नहीं प्रत्यक्ष है—आत्माराम की सतत अनुभूति है, यह तर्कगम्य नहीं। कबीर ने अगम्य को गम्य किया न मुसलमानों की पद्धति से और न शास्त्रज्ञ पंडितों की पद्धति से। उनका पंथ समता—समदृष्टि का था जिसकी उस समय अत्यंत अपेक्षा थी। कबीर किसी भी संप्रदाय अथवा लोक-रीति में बंधे नहीं। वे 'लोक-वेद' से अमर थे। सामाजिक समानता उस समय की प्रबल समस्या थी—उसी के लिए कबीर का अवतार हुआ था। कबीर की भाषा का चमत्कार उनकी संवेदना और प्रत्यक्ष अनुभूति में है—जो गुरु भी लोगों को अगम्य-दुर्गम-असंभव था उसे कबीर की वाणी ने संभव बना दिया। इसीलिए उनके विरोधी भी उनके अनुयायी हो गए। कबीर की भाषा-शैली मात्र 'सधुक्कडी' से व्यंजित नहीं हो सकती। वह ऊटपटांग नहीं, वह किसी 'लापरवाह' की भी भाषा नहीं। वह एक दार्शनिक भक्त की आत्मानुभूति है। कबीर न 'देहरा' के भक्त थे और न 'मसीद' के पावंद। वे नामदेव के पथ के अनुगामी थे :—

हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोई—सेविया जहँ देहरा न मसीद॥

कबीर के अनुगामी 'दादू' का भी यही समता— पंथ था—

'भाई रे ऐसा पंथ हमारा
दोह पथ रहित पंथ गहि पूरा अवरन एक अधारा॥ टेक॥
वाद विवाद काहू सौं नाहीं माहि जगत थैं न्यारा।
सम दृष्टि सुभाइ सहज मैं, आपही आप बिचारा॥ १॥
मैं तो मेरी यहु मत नाहीं, त्रिबेरी त्रिकारा।
पूरण सबै देषि आपा पर निरालंब निरधारा॥ २॥[२]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'पूरन ब्रह्म' के पुजारी ये संत बाह्य भेद को मिटाने में सहायक हुए-मन्दिर–मसजिद की उपासना की अस्वीकृति से ही यह संभव था। उन्होंने अगम्य को गम्य बनाया–मर्यादा से ऊपर उठ कर, कुल की परंपरा तोड़ कर।

भाषा साहित्य संस्थान
१४७, त्रिवेणी रोड
उत्तम सिनेमा के पास
इलाहाबाद–२११००३.
(उ. प्रदेश)

हरिहर प्रसाद गुप्त

टिप्पणियाँ

१) यद्यपि लेखक महोदय ने इस प्रकार के सन्दर्भ नहीं दिये हैं तथापि पाठकों की सुविधा के लिये एक–दो उचित सन्दर्भ दिये जा रहे हैं। आशा है पाठक उनसे लाभान्वित होंगे–

(अ) तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनं परमं
साम्यमुपैति। मुण्डक उपनिषद्, ३.१.३

(ब) द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते......निष्कलं,
निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं, निरञ्जनम्।......
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, १.१.१२ आनन्दमयाधिकरणस्य उपोद्घाते।

—सम्पादक

२) दादू दयाल, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. २०२३, पृ. ३३०, पद ६३.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यूनानी नीतिशास्त्र (२)
सोफिस्ट और सुकरात

पिछले लेख में हमने सुकरात-पूर्व दार्शनिकों के नीति-चिंतन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। पाइथागोरस, हेराक्लाइटस और डेमोक्रिटस – इन तीनों ही दार्शनिकों की नीतिशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिकाएँ हैं क्योंकि ये तीनों उत्तर-सुकरात काल में विकसित हुए तीन नीतिशास्त्रीय सिध्दान्तों के पूर्वगामी कहे जा सकते हैं – ये सिध्दान्त क्रमश: प्लेटोवाद, स्टोइकवाद और एपीक्यूरसवाद हैं। किन्तु सुकरात-पूर्व दार्शनिकों को नीतिशास्त्रीयों के वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि (१) उनके नीतिकथन अधिक से अधिक किन्हीं उच्च नैतिक स्थायी भावों की सहज अभिव्यक्तियां मात्र हैं। वे तर्कसंगत नैतिक पध्दतियां नही हैं। और (२) उनकी मुख्य अभिरुचि तत्त्वमीमांसा में है, न कि नीतिशास्त्र में। उन्होंने मानव-आचरण के संबंध में सुसंगत रूप से विचार नहीं किया है और उनके दर्शन का केन्द्र 'मनुष्य' है भी नहीं।

किसी भी नैतिक पध्दति का सफलतापूर्वक निर्माण करने के लिए मनुष्य मात्र के सामान्य नैतिक मतों के संदर्भ में उनकी अस्पष्टता और असंगतता पर विचार करना आवश्यक है। जब तक हम ऐसा नहीं करते, दार्शनिकों की नैतिक शिक्षाऐं – जन साधारण के नैतिक आचरण की वे फिर कितनी ही चिंता क्यों न करती हों – हमें कोई नैतिक-दर्शन नहीं दे सकती। इसके लिए यह आवश्यक है कि कोई प्रतिभा-संपन्न चिंतक व्यावहारिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करे। सुकरात में हम प्रथम बार एक दार्शनिक के दर्शन करते हैं जिसकी अभिरुचि न केवल मानव-आचरण की समीक्षा में थी बल्कि जो ज्ञान-पिपासु भी था। अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के भौतिक और तत्त्वमीमांसक सिध्दान्तों ने उसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पूरी तरह निराश किया था क्योंकि ये सिद्धान्त इतने अतिशयोक्तिपूर्ण और एक दूसरे के विरोधी थे कि सुकरात को ऐसा प्रतीत होता था कि मानों वे 'पागलों की तरह विवाद कर रहे हों।'[१]

किन्तु अच्छे आचरण के लिये एक विवेकयुक्त सिद्धान्त की मांग मूलत: केवल सुकरात ने ही उठाई हो, ऐसा नहीं था – हालांकि इस संबंध में उसका चिंतन सर्वोच्च कहा जा सकता है (सुकरात की ही तरह अपने समय की सत्ता-मीमांसा पर नकारात्मक दृष्टि अपनाने के साथ जिस एक संप्रदाय ने सुकरात से पहले ही मानव-आचरण का अध्ययन करना आरंभ कर दिया था, वह सोफिस्टों का समूह था। इसीलिए सुकरात से पहले सोफिस्ट दार्शनिकों की विवेचना करना सुकरात के दर्शन को समझने के लिए, साथ ऐतिहासिक निरंतरता की दृष्टि से भी, अत्यन्त आवश्यक है)

सोफिस्ट-युग (लगभग ४५० से ४०० ई. पू.)

सोफिस्ट यूनानी दार्शनिकों का पहला ऐसा समूह था जिसका उद्देश्य काफी हद तक व्यावहारिक था। इससे पहले के सभी दार्शनिक विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक रहे हैं,[२] किन्तु सोफिस्टों का ध्येय ऐथिंस के युवकों को कुशल नागरिकों की तरह प्रशिक्षित करना था। नागरिकता के कर्तव्यों में प्रशिक्षित करने के लिए उन्हें यह आवश्यक लगा कि राजनैतिक उत्तरदायित्व और सामान्यत: सामाजिक नैतिकता की समीक्षा करें। यह काम उन्होंने, ऐसा प्रतीत होता है, बहुत गंभीरता से और खुले दिल से किया। इस दार्शनिक अन्वेषण से, स्वाभाविक ही, पुराने नैतिक मापदंड कमजोर पड़ते गए और साथ ही समकालीन रूढ़िवादी शक्तियां काफी संकट में पड़ गईं।

इस संकट की अभिव्यक्ति एरिस्टोफेनीज[३] के व्यंग्यात्मक नाटकों में बहुत स्पष्ट रूप से हुई। सोफिस्टों के शिक्षण के प्रतिकूल इस तरह एक वातावरण बन गया। प्लेटो भी इससे अछूता नहीं रहा। और इसी कारण सोफिस्टों की काफी बदनामी हो गई। शायद यह बदनामी बहुत न्यायसंगत नहीं थी। सोफिस्ट एक व्यापक अर्थ में अपने समय के बहुत जागरूक चिंतक रहे हैं। उन्होंने अपने नगर के बौद्धिक-जीवन में नव जागृति पैदा की।[४]

यूनानी दर्शन के प्रथम काल की दार्शनिक समस्या यदि विश्व के मूल की व्याख्या और भाव और संभवन के स्वरूप को जानना था तो उसका अगला खंड सोफिस्टों से आरंभ होता है, जिनकी समस्या विश्व में मनुष्य के स्थान को समझना था। पूर्व दार्शनिकों की शिक्षा मुख्यत: विश्वविज्ञान संबंधी थी, जबकि सोफिस्ट अनन्य रूप से मानववादी थे।[५] सोफिस्ट-युग सर्वोपरि विज्ञान के विरुद्ध प्रतिक्रिया का युग है।[६] सुकरात-पूर्व दार्शनिकों ने (सोफिस्टों को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छोड़ कर) जिस प्रकार प्रकृति–मीमांसा की; उससे सोफिस्ट बिल्कुल संतुष्ट नहीं थे, क्योंकि उस विवेचना में मनुष्य और उसकी अस्मिता पूरी तरह नष्ट हो गई थी। सोफिस्टों का विचार–केंद्र इसलिए 'भौतिक जगत्' न होकर 'मनुष्य' हुआ। और उनका समस्त दर्शन इस प्रकार मानव–केन्द्रित हो गया।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सोफिस्टों का कोई व्यक्त उद्देश्य धर्म या नैतिकता को बचाना था। सोफिस्टों के आने तक यूनान के प्रत्येक राज्य में प्रजातंत्र अपनी धाक जमा चुका था। हर जगह जनता और कुलीन वर्ग के संघर्ष में प्रजातंत्र विजयी हुआ था। किन्तु यह ध्यातव्य है कि यूनानी प्रजातंत्र का अर्थ आज के हमारे प्रजातंत्र से बहुत भिन्न था। वह प्रतिनिधानात्मक प्रजातंत्र नहीं था, जिसमें जनता के चुने हुए प्रतिनिधि राजनैतिक निर्णय लेते हों। यूनान के सभी नगर स्वतंत्र "राज्य" थे और वे इतने छोटे थे कि वहां सभी 'नागरिक' एक ही स्थान पर इकट्ठे हो कर जन समस्याओं को निबटा देते थे। फलस्वरूप इस पद्धति ने सभी "नागरिकों" को प्रत्यक्षत: विधायक ही बना दिया था। ऐसी स्थिति में लोगों की पक्षपाती भावनाएँ; लालच, उच्चाकांक्षाएँ, उनके असंयमित अहम् टकराते थे। लोग नागरिकों के रूप में सिर्फ स्वार्थ–सिद्धि में लगे रहते थे और जनता राज्य का हित भूल गई थी।

दूसरी ओर दार्शनिक क्षेत्र में सभी चीजों का 'प्राकृतिक कारण' ढूंढा जाने लगा था। किन्हीं दैवी शक्तियों से प्राकृतिक घटनाओं को व्याख्यायित किया जाना दार्शनिक रूप से पिछड़ेपन की निशानी हो गई थी। सभी दार्शनिक अंदर ही अदर, और अक्सर खुले रूप से भी, जनसाधारण की धार्मिक आस्थाओं के विरोधी थे। विरोध का यह शंखनाद जीनोफेनीज ने किया था। हेराक्लाइटस ने इसको आगे बढ़ाया और अंत में डेमाक्रिटस ने तो यहां तक कह डाला कि आम लोगों में देवताओं से भय खाने का कारण भयंकर प्राकृतिक घटनाएँ ही होती हैं। ऐसे में हर शिक्षित व्यक्ति दैवी शक्तियों और चमत्कारों आदि में अविश्वास करने लगा। तर्कबुद्धिवाद और संदेहवाद की लहरों में सभी यूनानवासी बह गए। पूरा का पूरा युग नकारात्मक, आलोचनात्मक और विध्वंसकारी विचारों से ओतप्रोत हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ प्रजातंत्र ने प्रतिष्ठित अभिजात्य संस्थानों के महत्त्व को बिल्कुल नजर–अंदाज कर दिया, वहीं समकालीन विज्ञान (प्रकृति–दर्शन) ने धार्मिक रूढ़िवादिता पर अपना प्रहार किया। फलस्वरूप इन दो प्रतिष्ठित स्तंभों के धराशायी हो जाने से शेष सब कुछ भी नष्ट हो गया। सभी नैतिकता, रीतिरिवाज, प्रभुत्व और परंपरा आलोचना की वस्तु हो गई और इन्हें अस्वीकृत कर दिया गया। जिन चीजों को अभी तक सम्मान और भय से देखा जाता था वे हास्य और व्यंग्य की वस्तुएँ बन गईं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपने समय की इन सभी वृत्तियों को सोफिस्टों ने केवल सैद्धान्तिक जामा पहनाया। सोफिस्ट अपने युग की संतान थे और अपने समय के व्याख्याकार थे। उन्होंने समयानुसार ही अपने चिंतन को ढ़ाला।

सोफिस्ट सद्‌गुणों के, मानवी उत्कृष्टता के शिक्षक थे। और ये सभी व्यावसायिक रूप से शिक्षक थे। इनका मौलिक विचार था कि सद्‌गुणों की व्याख्यानों द्वारा शिक्षा दी जा सकती है। फिर भी सोफिस्टों की शिक्षा किसी दार्शनिक पद्धति पर आधारित नहीं थी। वस्तुतः वह गुणात्मक रूप से इतनी लोक–प्रचलित थी कि उससे हम अधिक दार्शनिक महत्त्व की अपेक्षा भी नहीं कर सकते।

जैसा हम बता ही चुके हैं कि सोफिस्टों का प्रादुर्भाव एक ऐसे सामाजिक परिवेश में हुआ था जिसमें एक सफल सामाजिक जीविका के लिए नगर (राज्य) के सार्वजनिक मंचों पर, अदालतों और सभाओं में सफल होना पूर्वमान्यता थी। ऐसी जन–सभाओं में सफल होने के लिए यह जरूरी था कि लोगों को प्रसन्न किया जाए और उन्हें अपनी बात का यकीन दिलाया जाए। लेकिन जो बात एक 'नगर' में लोगों को प्रसन्न करती थी, दूसरी जगह वह असफल हो सकती थी। इस समस्या से जूझने के लिए सभी सोफिस्टों के–प्रोटागोरस और गोर्जियस जैसे शिक्षकों और उनके शिष्यों के–अपने अपने सिद्धान्त थे। फिर भी इन सिद्धान्तों का समान आशय कुछ इस प्रकार था।

मनुष्य का सद्‌गुण मनुष्य की तरह उसके काम करने में है। एक यूनानी 'नगर–राज्य' में मनुष्य की तरह ठीक से काम किया जा सके इसके लिए जरूरी था कि मनुष्य एक सफल 'नागरिक' हो और एक सफल नागरिक होने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायालयों और सभाओं में वह अपना प्रभाव जमा सके। इसके लिए जरूरी यह है कि नगर के न्याय और औचित्य संबंधी मान्य रीतिरिवाजों का वह अनुसरण करे। न्याय और औचित्य संबंधी हर राज्य के अपने–अपने रीति–रिवाज थे। अतः जरूरत इस बात की थी कि इन प्रचलित रीतियों का अध्ययन किया जाए और उनसे समायोजन करना सीखा जाए। तभी अपने श्रोताओं को सफलतापूर्वक प्रभावित किया जा सकता था। यही कौशल और शिल्प सद्‌गुणों के रूप में सोफिस्टों ने सिखाना चाहा।

उनकी शिक्षा की यह पूर्व–मान्यता थी कि सफलता के अतिरिक्त सद्‌गुणों का अपने आप में कोई मापदंड नहीं होता। इसी तरह न्याय का भी, प्रत्येक नगर में प्रमुख रूप से प्रचलित उसकी अपनी रीति के अतिरिक्त, अन्य कोई मापदंड नहीं होता। इस तरह हम कह सकते हैं कि न्याय के संबंध में हर राज्य का अपना अपना मापदंड है। एक राज्य में जो भी न्यायपूर्ण और प्रशंसनीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समझा जाता है, वही न्यायपूर्ण और प्रशंसनीय है, जब तक कि उसे ऐसा समझा जाता है।[९]

सोफिस्ट दर्शन का यही नैतिक सापेक्षवाद है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न राज्यों के न्याय के मापदंड एक दूसरे से अनिवार्यतः भिन्न होने ही चाहिए। बल्कि प्रोटागोरस नामक संवाद में प्लेटो प्रोटागोरस के मुंह से यह तक कहलाता है कि 'नगर' के सामाजिक जीवन की निरंतरता के लिए कुछ गुण तो अनिवार्य होते हैं। इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। यह मत नैतिक सापेक्षवाद के विरुद्ध नहीं जाता कि नगर के रीतिरिवाजों से स्वतंत्र न्याय और अन्याय के कोई आत्मनिर्भर मापदंड नहीं होते।[१०]

सोफिस्टों ने इस प्रकार जो भी विभिन्न राज्यों में न्यायपूर्ण माना गया; उसी की शिक्षा दी। यहां आप यह प्रश्न नहीं पूछ सकते कि न्याय क्या है? आप सिर्फ यह पूछ सकते हैं कि एथिंस में न्याय किसे कहते हैं, कोरिंथ में न्याय क्या है। इसका परिणाम दूरगामी पड़ा। क्योंकि इस दृष्टिकोण ने समय से चले आ रहे 'रीति' (कन्वेन्शन) और 'प्रकृति' के दार्शनिक अंतर विवाद को पुष्ट किया।

यदि किसी व्यक्ति को केवल विभिन्न राज्यों के न्याय संबंधी मापदंडों को बता दिया जाए तो स्पष्ट ही उसके समक्ष न्याय का कोई (एक) मापदंड प्रस्तुत नहीं किया गया है। वह ऐसी दशा में यह नहीं समझ सकता कि वह क्या करे, कैसे और कहां अपना जीवन-यापन करे। उसे ऐसी स्थिति में विभिन्न राज्यों के विभिन्न मापदंडों में से किसी एक को चुनना होगा। लेकिन यह चुनाव किस मापदंड के हिसाब से किया जाए?

यह प्रश्न सोफिस्टों के नैतिक-सापेक्षवाद के बाहर है। उनके लिए यह प्रश्न 'नैतिक' रहेगा ही नहीं, यह एक निर्नैतिक प्रश्न बन जायगा और यही वह बिंदु है जहां 'रीति' और 'प्रकृति' के अंतर को सोफिस्ट-दर्शन में पुनर्बल मिला है।

एक मनुष्य, जो एक खास राज्य में रहता है, और उसके निर्धारित मापदंडों के अनुरूप आचरण को अपनाता है वह रीति-सम्मत व्यक्ति है तथा वह मनुष्य जो अपने निजी और व्यक्तिगत उद्देश्यों के अनुरूप हर राज्य में रह सकता है, या, किसी राज्य में नहीं रह सकता, प्रकृति-सम्मत व्यक्ति है। अतः नैतिक दृष्टिकोण से रीति और प्रकृति का आशय यह हुआ कि नैतिकता नीति में है और प्रकृति निर्नैतिक है।

प्राकृतिक मनुष्य नगर की रीति से बंधा नहीं होता। वह स्वार्थी और आक्रमणशील होता है। उसका मनोविज्ञान सहज है। वह जिसकी इच्छा करता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है उसे प्राप्त करना चाहता है। शक्ति और सुख-प्राप्ति उसके ऐकांतिक प्रयोजन होते हैं। लेकिन इन्हें प्राप्त करने के लिए उसे प्रचलित रीति और नैतिकता का चोगा पहनना पड़ता है। उसे स्वयं को रीति-सम्मत बताना पड़ता है।

हर रीति-सम्मत व्यक्ति में इस प्रकार एक प्रकृति-सम्मत (मन) भी छिपा हुआ है। अत: ऐसे व्यक्ति का सद्गुण यही है कि वह लोगों को प्रमाणित करने और अपने हक में उन्हें मोड़ने के लिए वाग्मिता का कौशल प्राप्त करे। यही कौशल सिखाने का काम सोफिस्टों ने व्यावसायिक रूप से अपनाया था और इसी अर्थ में वे सद्गुणों के व्यापारी थे।[११]

सोफिस्ट समुदाय द्वारा स्वीकृत नैतिक-सापेक्षवाद (या कहें, सांस्कृतिक सापेक्षवाद) और रीति-प्रकृति द्वैत, दोनों ही सिद्धान्तों की अपनी सीमाएं हैं; यद्यपि दोनों के ही ऐतिहासिक महत्त्व से मना नहीं किया जा सकता। नैतिक सापेक्षवाद को यदि हम उसके तार्किक निष्कर्ष तक पहुंचाएं तो सहज ही हम नैतिक संदेहवाद की स्थिति पर पहुंच जाएंगे। विभिन्न राज्यों की रीति नीति की विविधता और भिन्नता नैतिक आचरण के लिए किसी एक निरपेक्ष वस्तुनिष्ठ मापदंड के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोडती और हमें नैतिक-संदेह करने के लिए विवश करती है, क्योंकि स्पष्ट ही एक-दूसरे को काटती हुई सभी रीति-नीतियों को तो नैतिक माना नहीं जा सकता।

इसी प्रकार सोफिस्ट दार्शनिकों द्वारा खड़ा किया गया रीति-प्रकृति का द्वैत भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, जिसमें रीति को नैतिकता और प्रकृति को निर्नैतिक या आदि-नैतिक (non-moral or pre-moral) तत्त्वों से अभिन्न मान लिया गया है। यहां सोफिस्ट दार्शनिक यह देख पाने में पूर्णत: असफल रहे कि वह व्यक्ति जो एक विशेष सामाजिक व्यवस्था (नगर-राज्य) से बाहर है, वह अनिवार्यत: सामाजिक जीवन से बाहर नहीं होता। वह पूरी तरह "प्राकृतिक" नहीं है। वस्तुत: तथाकथित 'प्राकृतिक' मनुष्य को 'स्वार्थी' या 'आक्रमणकारी' आदि कहना भी तभी संभव हो पाता है जब हम उसे किसी एक विशेष नैतिक-मापदंड से देख रहे हों। तथाकथित पूर्णत: प्राकृतिक (या प्रकृति-सम्मत) मनुष्य की कल्पना मात्र कोरी कल्पना ही है।[१२]

सोफिस्ट संप्रदाय में दो नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं-प्रोटागोरस और गोर्जियस। अब्डेरा के निवासी प्रोटागोरस सोफिस्ट-दर्शन के मानात्मक और रचनात्मक पक्ष का तथा लियोण्टिनी के गोर्जियस उसके निषेधात्मक और समीक्षात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। गोर्जियस की अभिरुचि नीतिशास्त्र में नहीं थी। उन्होंने सद्गुणों की शिक्षा देने का कभी भी दावा नहीं किया। बल्कि जो सोफिस्ट सद्गुण के शिक्षक होने का दावा करते थे उनकी वे हंसी उड़ाते थे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किन्तु प्रोटागोरस के सिद्धान्तों का नीतिशास्त्र से गहरा संबंध है। अतः अब हम प्रोटागोरस के मानव-केन्द्रित दर्शन की विवेचना करेंगे।

प्रोटागोरस (लगभग ४२१ ई. पू.-४६०) सोफिस्ट संप्रदाय के सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रारंभिक चिंतकों में से एक थे। वे शायद पहले शिक्षक थे, जिन्होंने अपने को स्पष्ट रूप से एक पेशेवर सोफिस्ट घोषित किया। यूनान में वे नगर नगर घूमे और राजनीति की कला में युवकों को "शिक्षित" किया। उनके धार्मिक विचार इतने क्रांतिकारी थे कि उन पर अपवित्रता का आरोप लगाया गया और इस आधार पर उन्हें एथेंस से निष्कासित कर दिया गया। इतना ही नहीं, जीवन के अंतिम दिनों में उनकी एक पुस्तक को सार्वजनिक रूप से आग लगा दी गई। आज प्रोटागोरस की कोई कृति हमारे पास उपलब्ध नहीं है और इसलिए उनके विचारों को जानने के लिए हमें लगभग पूरी तरह से प्लेटो और अरस्तू के कथनों पर निर्भर करना पड़ता है।

प्रोटागोरस का विख्यात कथन-"मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदंड है।" नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

प्रोटाग्रोरस से पहले दार्शनिक जगत् में इन्द्रियजन्य ज्ञान और बुद्धि में भेद किया गया था और कहा गया था कि वास्तव में बुद्धि ही ज्ञान दे सकती है। एक समद्विबाहु त्रिभुज को लें। कहा जाता हैं इसके दो कोण बरावर हैं। हम जरा हट कर एक नये कोण से इसे देखें। हमें वे दोनों कोण बराबर नहीं दिखेंगे। हमारी स्थिति हमारे बोध को बदल देती है, किन्तु बुद्धि हमें बताती है कि ऐसे त्रिभुज में दो कोणों का होना अनिवार्य है। जो कुछ सत्य है, वह सबके लिए सत्य है, और उसे जानना बुद्धि का काम है।

प्रोटागोरस ने इस दावे को अस्वीकार किया। उन्होंने इन्द्रियजन्य ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के ज्ञान को नहीं माना। हम सत्य और असत्य की बाबत व्यर्थ में झगड़ते हैं, यहां मतभेद का अवकाश ही नहीं। जो कुछ मुझे प्रतीत होता है, वह मेरे लिए सत्य है, जो मेरे साथी को प्रतीत होता है, वह उसके लिए सत्य है। मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं।

इसी तरह जीवन व्यवहार में हम भले-बुरे का भेद करते हैं। हम समझते हैं जो काम आदर्श के अनुकूल है, वह अच्छा है, जो काम आदर्श के प्रतिकूल है, वह बुरा है, और आदर्श सबके लिए एक ही है। प्रोटागोरस कहते हैं कि आदर्श हमारे बाहर नहीं, हमारे अन्दर है। जो कुछ मुझे शुभ लगता है, मेरे लिए शुभ है, जो मेरे साथी को शुभ लगता है, वह उसके लिए शुभ है। ऐसे शुभ की खोज करना जो सबके लिए शुभ है, समय खाना है। ऐसे शुभ का कोई अस्तित्व नहीं। इस तरह तत्त्वज्ञान और नीति में प्रोटागोरस ने व्यक्तिवाद को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मौलिक प्रत्यय बनाया। सर्वव्यापी सत्य और सर्वव्यापी-शुभ का कोई अस्तित्व नहीं है।[१४]

स्पष्ट ही प्रोटागोरस के सूत्र—मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदंड है—में 'मनुष्य' का अर्थ मनुष्य मात्र से न होकर व्यक्ति से है। यह बात प्लेटो के थीटिटस में सुस्पष्ट कर दी गयी है। इस कथन को जब हम आचरण के संदर्भ में प्रयुक्त करते हैं तो इसका अर्थ होता है कि शुभ वह है जो शुभ प्रतीत होता है, अर्थात् शुभ पूरी तरह से आत्मनिष्ठ है। स्पष्ट है कि यह सिध्दान्त नैतिकता के वस्तुनिष्ठ तत्त्व की अवहेलना करता है। यदि शुभ का अस्तित्व केवल उसका अनुभव कर रहे व्यक्ति में ही है तो वस्तु-निष्ठ सामाजिक शुभ हो ही नहीं सकता। लेकिन यह सूत्र एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करता है-कि व्यावहारिक दर्शन द्वारा तलाश किया जाने वाला शुभ व्यक्तिगत होता है – कि उसे किसी एक या एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा अनुभव किया जाना अन्ततः जरूरी है, अन्यथा वह अपनी अर्थवत्ता खो बैठेगा। यहां स्पष्ट ही शुभ का अनुभव मनुष्य का सामूहिक अनुभव हो सकता है, न कि किसी एक अकेले व्यक्ति का। इस प्रकार यह सिद्धान्त हमारी यह सामान्य मान्यता कि सामाजिक शुभ किसी एक व्यक्ति के शुभ से उच्चतर होता है, इसके विपरीत भी नहीं जाता। शुभ व्यक्तिगत बने रहते हुए भी वस्तुनिष्ठ हो सकता है। बेशक यह सिद्धान्त नीतिशास्त्र में आत्मनिष्ठता के नियम को अभिव्यक्ति देता है, किंतु प्रोटागोरस शायद यह भी रेखांकित करने की कोशिश करते हैं कि न केवल प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए शुभ के संबंध में स्वतंत्र निर्णय करने का अधिकार है, बल्कि विभिन्न राज्यों और समुदायों के भी—और कदाचित् इतिहास के बिभिन्न कालों के भी,—बिभिन्न नैतिक नियम हो सकते हैं जो सर्वव्यापक रूप से बाध्य नहीं हों। प्रत्येक सामाजिक समूह को यह अधिकार है कि वह एक ऐसी नैतिक नियमावली का निर्माण करे जो उसके हित में सर्वोत्तम हो। इस दृष्टिकोण से प्रोटागोरस का सिध्दान्त नीतिशास्त्र में सापेक्षता के नियम की अभिव्यक्ति है। इसका आशय है कि सामाजिक नैतिकता में भिन्नता और परिवर्तन संभव है—स्पष्ट ही, मनमाना नहीं, बल्कि सामाजिक अवस्थाओं और व्यक्तिनिष्ठ परिस्थितियों से निर्धारित परिवर्तन।

प्लेटो में हम आदर्श गणराज्य के लिए जो आग्रह पाते हैं वह अंशतः इसी सिध्दान्त को खंडित करने के आशय से है। प्लेटो के अनुसार राजनैतिक व्यवस्था की केवल एक ही आदर्श पद्धति है और शेष सभी पध्दतियां उसी के मापदंड से नापी जानी चाहिए। किन्तु यहां यह ध्यातव्य है कि जब हम आचरण संबंधी कुछ विशेष प्रकरणों पर प्रोटागोरस के सिद्धान्त को प्रयुक्त करते हैं तो सापेक्षता का नियम खरा उतरता है। इसका अर्थ यही होता है यदि एकाधिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकरण महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर वास्तव में भिन्न हैं, तो उन पर अलग तरह से ही विचार करना चाहिए। एक आदर्श गणराज्य में भी यह सिद्धान्त पूरी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। किंतु इसका दुरुपयोग भी संभव है। बाद के सोफिस्ट दार्शनिकों ने यही किया। उन्होंने प्रोटागोरस के सूत्र को एक अराजक सिद्धान्त में बदल दिया। व्यक्ति दूसरे के हित की परवाह किए बिना, चाहे जो कुछ – जो भी उसे पसंद आए – करे। शुभ और अशुभ में कोई वस्तुनिष्ठ अन्तर है ही नहीं।

प्रोटागोरस का दर्शन यह दिखा पाने में कि शुभ किस प्रकार एक साथ ही व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ, दोनों ही हो सकता है – समर्थ नहीं था। इसीलिए गोर्जियस ने आत्मनिष्ठता के नियम को एक नकारात्मक अर्थ में ग्रहण किया, कि सत्य और शुभ पूर्णतः आत्मनिष्ठ हैं। इसकी परिणति निरपेक्ष संदेहवाद में हुई। सही अर्थों में ज्ञान हो ही नहीं सकता। वह केवल किसी एक व्यक्ति के मन की विशेष भावना मात्र है। इसी प्रकार शुभ। वह भी किसी एक व्यक्ति की संतुष्टि या उसके अनुमोदन की क्षणिक भावना है। परिणामतः सामाजिक शुभ की वस्तुनिष्ठ धारणा व्यावहारिक दृष्टिकोण से भ्रमात्मक हो गई, क्योंकि किसी दूसरे का शुभ मेरे कार्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। अतः यह बिल्कुल आश्चर्य-जनक नहीं है कि गोर्जियस के बाद का पूरा सोफिस्ट समुदाय शुद्धतः स्वार्थवादी; अथवा कहें, 'स्वहितवादी' हो गया।[15]

नीतिशास्त्र के इतिहास में सोफिस्ट आंदोलन कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। बेशक, प्लेटो और अरस्तू ने सोफिस्ट विचारकों की कडी आलोचना की, और यह आलोचना इतनी प्रभावशाली थी कि बाद में वर्षों तक सोफिस्ट दर्शन का सम्यक् मूल्यांकन भी न हो सका। फिर हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उनकी वैचारिक क्रान्ति के कारण ही सुकरात की नैतिक शिक्षा हमारे सामने आयी और प्लेटो और अरस्तू के प्रौढ़ दर्शनों की सृष्टि हुई। सोफिस्टों के बिना हम सुकरात की कल्पना ही नहीं कर सकते। वस्तुतः कई विचारकों ने सुकरात को भी सोफिस्ट परम्परा से अलग माना हीं नहीं है। सद्गुण की शिक्षा के लिए वे (सुकरात) केवल कोई शुल्क नहीं वसूलते थे। सुकरात भी सोफिस्ट दार्शनिकों की भांति ही सद्गुणों के शिक्षक ही हैं। पुनः सोफिस्ट प्रथम ऐसे चिंतक थे जिन्होंने परम्परागत ज्ञान और नैतिकता के सिद्धान्तों की समीक्षा करने की राह दिखाई, परम्परा की मनमानी शक्तियों को चुनौती दी और इस तरह सच्चे अर्थ में नीति–दर्शन के विकास की भूमिका का निर्वाह किया। सोफिस्ट संप्रदाय ने पहली बार नीतिशास्त्र को सर्वोच्च मानव शुभ की विधिवत् तलाश के रूप में, अन्य शास्त्रों से अलग एक स्वतंत्र पहचान दी। इस काम को बाद में अरस्तू ने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पूरा किया। माना कि सोफिस्ट दर्शन अपने अंतिम समय में इस कदर आत्म-निष्ठ हो गया कि नैतिक-संदेहवाद और अहंमात्रवाद में इसकी परिणति हुई, किन्तु यह भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि सोफिस्ट नीतिदर्शन का व्यक्तिवाद एक महत्त्वपूर्ण सत्य की ओर संकेत करता है – और जिसे बाद की कोई भी नैतिक पध्दति अस्वीकार नहीं कर सकी। यह, वह सत्य है जिसके अनुसार समाज जिन व्यक्तियों से बना है उनके शुभ से स्वतन्त्र समाज का कोई अमूर्त शुभ नहीं हो सकता। और अन्त में हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक मानववाद पूरी तरह से प्रोटागोरस के सूत्र की विवेचना पर आधारित है। इतना ही नहीं, प्रोटागोरस का नैतिक क्षेत्र में सांस्कृतिक सापेक्षवाद भी हमारे समय की उस नीतिशास्त्रीय धारा का पूर्वानुमान है जो समाजशास्त्रियों ने विभिन्न संस्कृतियों के अध्ययन द्वारा प्रस्तुत की है और जो बडी महत्त्वपूर्ण मानी गई है।

सुकरात का नीति-शास्त्र

सुकरात (लगभग ४७० – ३६६ ई. पू.) यूनान का वह प्रथम दर्शनिक था जिसने न केवल अच्छे आचरण के लिए एक युक्तिसंगत सिध्दान्त की कमी महसूस की बल्कि ऐसा एक सिध्दान्त प्रस्तुत भी किया। सोफिस्ट दार्शनिकों ने जहां दार्शनिक चिंतन को मानवोन्मुख किया, सुकरात ने इसी मानव आचरण की तर्कसंगत विवेचना करके नैतिक सिद्धान्तों के लिए भूमि तैयार की।

सुकरात प्रमुख रूप से एक नैतिक चिंतक ही थे। किन्तु उन्होंने नीतिशास्त्र पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा। वस्तुतः उनकी सारी शिक्षाएं मौखिक रहीं जो उन्होंने अपने संवादियों से वार्तालाप करते हुए प्रस्तुत कीं। उनकी नैतिक और अन्य शिक्षाएँ इसलिए हमें उसके शिष्यों, मित्रों और आलोचकों की कृतियों में मिलती हैं। प्लेटो, जो उसका सर्वाधिक प्रिय शिष्य था, ने अपने सभी संवादों में सुकरात को अपना प्रवक्ता बनाया है और उनमें यह तय कर पाना बडा मुश्किल है कि प्लेटो कब अपना मत और कब सुकरात का मत प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसे प्रायः यह मान लिया गया है कि प्लेटो के आरंभिक संवादों में सुकरात के मुंह से उसके ही विचार व्यक्त किए गये हैं, जबकि बाद के संवादों में यह चरित्र प्लेटो का विचार, जो सुकरात के ही विचार का विकसित रूप है, प्रस्तुत करता है। प्लेटो के संवादों के अलावा सुकरात जीनोफन की कृतियों में भी प्रस्तुत किया गया है – विशेषकर इस संबंध में उसकी मेमौरेबिलिया महत्त्वपूर्ण है जिसमें, कहा जाता है, उसे जीनोफन ने पांचवी शताब्दी के डॉ. जानसन्[१६] की तरह चित्रित किया है। एरिस्टोफेनीज ने अपनी कृति द क्लाउड्स में उन्हें एक व्यंग्यात्मक (किसी कदर हास्यास्पद) रूप में एक सोफिस्ट की शक्ल में पेश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया है। इन सबसे अलग सुकरात की प्रस्तुति अरस्तू के मेटाफिजिक्स में भी हुई। यह प्रस्तुति अलग इसलिए है कि यह एक अधिक वस्तुनिष्ठ प्रस्तुति है। प्लेटो, जीनोफन और एरिस्टोफेनीज – सुकरात से किसी न किसी रूप में भावात्मक रूप से जुडे थे और इसलिए ये लोग उन्हें निस्संग रूप से प्रस्तुत नहीं कर सके।

सोफिस्ट दार्शनिकों से सुकरात की एक ऐतिहासिक और वैचारिक निरंतरता है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। बेशक, सुकरात एक सोफिस्ट नहीं थे। एक पेशेवर शिक्षक नहीं थे। उन्होंने कभी किसी से ज्ञान के लिए पैसा नहीं लिया। फिर भी, सोफिस्ट और सुकरात दोनों ही यह मानते थे कि सद्गुणों में शिक्षित किया जा सकता है। लेकिन यह एक विरोधाभास है कि सुकरात के अनुसार सद्गुणों को सिखाने वाले शिक्षक होते ही नहीं। इन विरोधी कथनों का समाधान यह है कि सुकरात के अनुसार ज्ञान वस्तुतः हम सबमें पहले से ही विद्यमान है। उसे केवल उजागर कर किया जाना चाहिये। अतः ज्ञान को प्रकट करने के लिए किसी शिक्षक की आवश्यकता नहीं है जो ज्ञान 'दे' सके, बल्कि एक दार्शनिक दाय की जरूरत है जो निहित ज्ञान को 'प्रकट' करवा सके। सुकरात ने जीवन भर बस ऐसी ही एक दार्शनिक दाई की भूमिका निभाई।[१७] हो सकता है यह कथन थोड़ा अतिशयोक्तिपूर्ण हो, लेकिन इतना तो मानना ही होगा कि सुकरात सोफिस्टों की तरह नैतिकता के व्यापारी नहीं थे और न ही शिक्षक होने का उन्होंने कभी दावा किया। वे तो जीवन भर नैतिक शास्त्र के एक विद्यार्थी बने रहे और इसी में उनकी महानता थी।

कहते हैं, जब डेल्फाई के मंदिर में देववाणी ने यह स्पष्ट संकेत दिया कि एथिंस का सर्वश्रेष्ठ प्रज्ञानवान् व्यक्ति सुकरात हैं तो स्वयं सुकरात को यह बड़ा अटपटा लगा। इस पर उनकी प्रतिक्रिया थी कि वे केवल इस अर्थ में ज्ञानवान् हो सकते हैं कि उन्हें अपने अज्ञान का ज्ञान है। शेष तथाकथित ज्ञानवानों को तो यह भी पता नहीं है कि वे वास्तव में अज्ञानी हैं। सुकरात की यह प्रतिक्रिया उनकी विनम्रता की ओर ही संकेत नहीं करती, वरन् ज्ञान के प्रति उनकी ललक को भी प्रदर्शित करती है। उनका यह मानना था कि ज्ञान के उद्घाटन के लिए आरंभिक बिन्दु सर्वप्रथम अपने अज्ञान के प्रति सचेत होना है।

नैतिक वार्ताओं में सुकरात का सबसे बड़ा योगदान यही था कि उन्होंने लोगों को उनकी असंगत नैतिक विवेचना और अज्ञान के प्रति जागरूक किया। उन्होंने सोफिस्ट दार्शनिकों पर यह दोष लगाया कि वे न्याय, संयमन और नियमों के बारे में बात तो करत हैं लेकिन वे खुद ही नहीं जानते कि ये चीजें हैं क्या। जब उनसे इन की व्याख्या कराई जाती है तो उन्हें अंततः यह मानना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पड़ता है कि ये विवेचनाएँ न्याय और नियमों के उनके ही द्वारा दिए गए उदाहरणों से मेल नहीं खाती। सुकरात ने अपने समकालीनों में इसी अज्ञान को खोज निकाला।

लेकिन अज्ञान को उद्घाटित करने का नकारात्मक कार्य ही सुकरात का इष्ट नहीं था। सुकरात की शिक्षा में 'ज्ञान' संबंधी भावात्मक तत्त्व है ही नहीं यह सोचना गलत होगा। सर्वप्रथम तो इस संदर्भ में हमारा ध्यान उनके विख्यात 'द्वन्द्व न्याय' (डाइलेक्टिक) की ओर जाता है। इसी के द्वारा उन्होंने अपने संवादियों के 'अज्ञान' का उद्घाटन किया और ऐसा करके साथ ही सामान्य अवधारणाओं (जैसे न्याय, शुभ, साहस आदि) की सुनिश्चित परिभाषाओं की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने बताया कि इन परिभाषाओं को हम संबंधित उदाहरणों की सावधानी पूर्वक तुलना करके प्राप्त कर सकते हैं। अरस्तू, सुकरात को दर्शनशास्त्र में आगमन और परिभाषाओं के प्रवेश के लिए श्रेय देता है, और यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अरस्तू का मत है कि सुकरात ने प्रत्ययों या परिभाषाओं को अलग से नहीं देखा, जैसा कि प्लेटो के दर्शन में हुआ है। अरस्तू की शब्दावली में उन्होंने 'सर्वव्यापी परिभाषाओं' और 'आगमनमूलक तर्कों' पर एक साथ विचार किया। सुकरात का उद्देश्य चरित्र की उत्कृष्टताओं को समझना था और इस संबंध में उन्होंने पहली बार सर्वव्यापी परिभाषाओं की समस्या को उठाया। सुकरात यदि परिभाषाओं की तलाश में पूर्णतः ग्रस्त रहे तो उसका कारण यह नहीं था कि वे परिभाषाओं से उदाहरणों को निर्गमित करना चाहते थे, बल्कि उन्होंने उदाहरणों को इकठ्ठा कर के, उनकी तुलना कर के, परिभाषाओं को प्राप्त करना चाहा था।[१९]

कहना चाहिए कि सुकरात अपने द्वन्द्व–न्याय से सामान्य परिभाषाओं को प्राप्त करना चाहते थे–ऐसा केवल आभास होता है। निश्चित रूप से ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि हम यह स्पष्ट देख पाते हैं कि सुकरात ने किसी भी अवधारणा को निश्चित रूप से परिभाषित करने में पूरी दिलचस्पी कभी नहीं ली। सुकरात बार बार (जैसा कि प्लेटो के आरंभिक संवादों से स्पष्ट है) न्याय क्या है? धर्मनिष्ठा क्या है? साहस क्या है आदि, जैसे सवाल अपने संवादियों से पूछते हैं और अंततः उनके 'अज्ञान' को उजागर करते हैं; किन्तु उन्हें यह कभी नहीं बताते कि इन प्रश्नों का सही उत्तर है क्या। वस्तुतः कभी कभी तो सुकरात अपने संवादियों को झुंझलाहट और क्रोध की स्थिति में ला देते हैं। स्पष्ट ही यह कोई नैतिक शिक्षा देने का तरीका नहीं है। इसका अर्थ केवल यही है कि लोग नैतिक समस्याओं पर दार्शनिक चिंतन के लिए बाध्य हो सकें। अतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सुकरात की दार्शनिक विधि के संबंध में यह शिकायत करना कि वह केवल उदाहरणों और स्थितियों को केन्द्रित करती है, निरर्थक है। उनकी दार्शनिक विधि का मुख्य मुद्दा ही यह है।[२०]

फिर भी, सिद्धान्तों के रूप में ग्रहण किए जा सकने वाले सुकरात के तीन कथन नीतिशास्त्र के क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये हैं– (१) सद्गुण ज्ञान है। (२) सद्गुण एक है और (३) जानबूझ कर कोई भूल नहीं करता। अब हम इनकी विवेचना करेंगे।

(१) 'सद्गुण ज्ञान है।' (वर्चू इज नॉलेज) : जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में बताया जा चुका है सुकरात का कार्य अपने श्रोताओं को दार्शनिक चिंतन के लिए उक्साना था या फिर एक दार्शनिक धाय की तरह उनके विचार – शिशुओं को प्रकट करवाना था। वस्तुतः इसी प्रक्रिया में सुकरात के नैतिक सूत्र 'सद्गुण ज्ञान है' को जन्म मिला। सुकरात का कहना था कि किसी भी व्यक्ति की सफल जीवनचर्या के आधार अस्पष्ट, विसंगतिपूर्ण और अस्थिर मत नहीं हो सकते, लेकिन दुर्भाग्य से केवल जन–सामान्य के ही नहीं बल्कि प्रतिष्ठित लोगों के भी नैतिक मतों में यही अस्पष्टता दिखाई देती है। नैतिक जीवन की सामान्य रूप से स्वीकृत विवेचनाएं बडी असंतोषप्रद हैं और उन्हें एक अधिक वैज्ञानिक व्याख्या की जरूरत है। केवल नैतिक जिज्ञासा को शांत करने के लिए ही नहीं, बल्कि स्वयं व्यावहारिक नैतिकता के लिए भी यह आवश्यक है। सुकरात ने इसीलिए सद्गुण को ज्ञान (अर्थात् विज्ञान) कहा। इसका आशय मुख्य रूप से यही प्रदर्शित करना है कि सद्गुण और मानव–कल्याण अपरिवर्तनीय नियमों पर आधारित हैं, न कि व्यक्तियों के स्वेच्छापूर्ण और पल–पल बदलते रहने वाले चुनावों पर।

सुकरात, इस प्रकार, प्रमुख रूप से, अपने इस सूत्र द्वारा कि सद्गुण ज्ञान है, गोर्जियस के नैतिक संदेहवाद के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया दर्ज करता है, वहीं दूसरी ओर नीतिशास्त्र के सर्जनात्मक विकास की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम भी है।

यहां एक बात और भी ध्यान में रखने की है। वह यह की सद्गुण और ज्ञान का समीकरण सुकरात पूरी तरह से एक मौलिक विचार भी नहीं है। यह सामान्यतः यूनानी नैतिक मान्यताओं से सहज रूप में विकसित हुआ है। यूनानी भाषा का शब्द, जिसे हम प्रायः 'शुभ' या 'श्रेय' कहते हैं, यूनानी दर्शन का प्रमुख नैतिक संप्रत्यय है और इस संप्रत्यय में वह जो हम चाहते हैं, जिसकी इच्छा करते हैं, जो हमारा प्राप्य या इष्ट है, ध्वनित होता है। बेशक बहुत सी चीजें ऐसी हैं जिनकी अनेक लोग अनेक देशों और कालों में इच्छा करते रहे हैं और वे श्रेय या शुभ नहीं कही जा सकती, लेकिन यह कहना भी उतना ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असंगत प्रतीत होता है कि हम किसी विषय को श्रेय या शुभ तो कहें किन्तु उसे एषणीय न मानें, अपनी चाहत और इच्छा का विषय न समझें। अतः यदि हम इस मान्यता को स्वीकार करते हैं कि शुभ अथवा श्रेय में किसी अर्थ में वह विषय जिसकी हम इच्छा करते हैं, निहित है तो सहज ही हमें यह भी स्वीकार करना पडेगा कि शुभ, जो हमारा इच्छित विषय है, उसके बारे में ज्ञान हो कि वह है क्या ? अर्थात् इस सीमित अर्थ में श्रेय स्वयं ज्ञान हो जाता है।

यही बात सद्गुण के लिए भी लागू होती है। यूनानी भाषा में जिसे हम 'सदगुण' कहते हैं उसके लिए कदाचित् 'शुभ' एक बेहतर शब्द है। सद्गुण का यूनानी भाषा में अर्थविस्तार नकारात्मक (सद्गुणी वह है जो बुराइयों से बचता है) न हो कर सकारात्मक है। सद्गुण एक भावात्मक योग्यता या क्षमता है किसी काम को कर पाने की। यही कारण है कि सुकरात बडी सहजता से यह कह पाते हैं कि न्याय सदाचारित या एक कला है, अन्य कला-कौशलों की तरह सीखने योग्य एक कौशल है। स्पष्ट ही नैतिक शुभ को इस प्रकार एक कला और कौशल के रूप में स्वीकार करना उसे सहज ही ज्ञान और शिक्षा का विषय बना देना है। सुकरात का सूत्र, सद्गुण ज्ञान है, का भी यही अर्थ है।[२१]

किन्तु स्पष्ट ही इसका अर्थ यह नहीं है कि हर कौशल शुभ या सद्गुण है। वास्तव में किसी भी कौशल का सदुपयोग या दुरुपयोग दोनों ही किया जा सकता है। लेकिन सद्गुण का शुभ ऐसा नहीं होता कि उसका दुरुपयोग किया जा सके। शुभ सम्यक् अर्थों में ज्ञान है, न कि एक बाह्य निपुणता, जिसका मन माना उपयोग किया जा सके।[२२] सारांश यह है कि हमें कौशल के रूप में शुभ और 'शुभ' में भेद करना चाहिए। किसी व्यक्ति के लिए शुभ क्या है और शुभ अपने आप में क्या है, ये दोनों अलग अलग बातें हैं। सोफिस्ट दार्शनिकों कि गलती यह थी कि उन्होंने केवल व्यक्ति के शुभ को ही शुभ समझा। पुनः हमें इसमें भी भेद करना होगा कि व्यक्ति क्या चाहता है और उसका वास्तविक शुभ क्या है। व्यक्ति जो चाहता है वह अनिवार्यतः उसका शुभ नहीं होता। लाइसिस में सुकरात इस बात की ओर संकेत करता है कि किसी बच्चे को जो वह चाहता है, दिया जाना, उसे उसके वास्तविक शुभ प्रदान करने से भिन्न है।[२३] संक्षेप में, शुभ या सद्गुण बेशक कौशल है और कौशल के रूप में वह ज्ञान का विषय है, लेकिन हर कौशल सद्गुण नहीं है तथा हमें, यदि हम भारतीय दर्शन की शब्दावली का प्रयोग करें तो श्रेय और प्रेय में भी भेद करना होगा। प्रेय-जिसकी इच्छा की जाती है-आवश्यक रूप से श्रेय नहीं होता। श्रेय का ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। प्रेय इन्द्रियानुभूति पर आधारित है। श्रेय के लिए वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा है। सद्गुण इसी अर्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में ज्ञान है। सुकरात ने ज्ञान का अर्थ एकरूप और निश्चित नियमों से लगाया है न कि किसी एक व्यक्ति की ऐसी भावनाओं से जो पूरी तरह आत्मनिष्ठ हैं। निस्संदेह, प्रोटागोरस के सिध्दान्त में निहित यह आशय स्वीकार्य है कि हम जिस शुभ की तलाश करते हैं वह मानव कल्याण है और इसे व्यक्तियों में ही उपलब्ध किया जा सकता है। लेकिन सिर्फ इस वजह से ही वह आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता। सामान्य अवधारणाओं के जरिये इसको समझा जा सकना इसे वस्तुनिष्ठ सिध्द करता है।[२४]

स्पष्ट ही सुकरात ने शुभ और ज्ञान के तादात्म्य में इस बात पर बल दिया है कि नैतिक समस्या प्रमुख रूप से अभिज्ञान की समस्या ही है। हम यदि शुभ का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो हम बिना उसे (शुभ) को प्राप्त किए, बिना उसका अनुगमन किए, रह नहीं सकते। मानवात्मा पर शुभ के ज्ञान की इस कदर जबरदस्त जकड़ है कि मनुष्य को उसके अनुसार आचरण करने के लिए बस शुभ का अभिज्ञान भर होना चाहिए। सुकरात मानते हैं कि मनुष्य जिसे शुभ समझते हैं, उसी के अनुरूप वे कार्य करते हैं। वे इसके लिए मजबूर हैं क्योंकि उनकी संरचना ही इस प्रकार की है। ऐसे उदाहरण कि जिनमें मनुष्य शुभ का आगमन करने में असफल रहता है, सदैव शुभ के गलत अनुमान की वजह से संभव होते हैं। इन प्रकरणों में व्यक्ति किसी उस विषय को, जो वस्तुत: शुभ नहीं है शुभ समझ बैठता है। ऐसा समझ बैठना ही पाप है, बुराई है। पाप, इस प्रकार, शुभ का गलत अनुमान है। इसे एक प्रकार की बौद्धिक दुर्बलता कहा जा सकता है।

सुकरात ने इस प्रकार शुभ (या अशुभ) आचरण को पूरी तरह से उसके ज्ञान (या अज्ञान) पर निर्भर बना दिया है। लेकिन हमारे पास ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि शुभ का कदाचित् वास्तविक ज्ञान होने के बावजूद लोग उसके अनुरूप आचरण नहीं करते। सुकरात ऐसे उदाहरणों की पूरी और सही व्याख्या करने में सदैव असफल रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सुकरात पर टिप्पणी करते हुए अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि नैतिक सद्‌गुण (या शुभ) के मासले में महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि हम यह जानें कि वह क्या है, बल्कि यह है कि उसका उदय कैसे हुआ। हम साहस क्या है, यह जानना नहीं चाहते, साहसी होना चाहते हैं।[२५]

सुकरात सद्‌गुण और ज्ञान को पूरी तरह से अभिन्न बनाने पर क्यों तुले हुए थे, ठीक से इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु उसके समर्थन में इतना जरूर कहा जा सकता है कि सामान्यत: मनुष्य के नैतिक विश्वास, उसके कार्यों में प्रकट होते हैं। यदि कोई मनुष्य यह कहता है कि उसका यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्वास है कि उसे यह करना चाहिए और अवसर आने पर न तो वह उसे करता है और न ही इसके लिए उसे कोई पश्चात्ताप होता है तो स्पष्ट ही निष्कर्ष यही निकाला जाएगा कि उसे अपने कहे पर विश्वास नहीं है। वह केवल बकवास करता है। (या शायद तब तक उसने अपना मन ही बदल लिया हो)। लेकिन इसके बाद भी एक ऐसे प्रकरण में, जहां मनुष्य अपने व्यक्त नैतिक विश्वास के अनुरूप कभी काम नहीं करता, और एक ऐसे उदाहरण में जहां मनुष्य अपने व्यक्त विश्वास के अनुरूप कभी-कभी कार्य कर लेता है-हमें भेद करना ही पड़ेगा। सुकरात ने इस अंतर को बिल्कुल नजरअन्दाज किया है। वे अपने इस मत पर दृढ बने रहे हैं कि (नैतिक) ज्ञान के अतिरिक्त भला और कौन सी शक्ति इतनी महान् हो सकती है जो मनुष्य को, जो उसे करना चाहिए; उससे रोक सके। कम से कम प्रोटागोरस में सुकरात का तर्क कुछ इसी प्रकार का है।[२६]

सद्गुण ज्ञान है यह सूत्र, यह समझ लेना बहुत आवश्यक है, सद्गुण की परिभाषा नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना भर है कि सद्गुण ज्ञान का विषय है, या, सद्गुण एक ऐसा कौशल है जिसे सिखाया जा सकता है, आदि। किन्तु यह सूत्र यह नहीं बताता कि सद्गुण है क्या, अथवा शुभ कहते किसे हैं। गोर्जियस में, उदाहरणार्थ, केवल चर्चा के उद्देश्य से सुकरात इस विचार को प्रस्तुत करता है कि 'सुख' शुभ है लेकिन अंततः इसे वह निरस्त कर देता है। प्लेटो के प्रोटागोरस नामक संवाद में भी उन्होंने यही सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। जिनोफान के मेमोरेबिलिया में भी हमें यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। लेकिन फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि सुकरात ने इस संबंध में कोई स्पष्ट रूप से सुसंगत सिद्धान्त प्रतिपादित किया हो। हालांकि इस मुद्दे को लेकर विद्वानों में जबरदस्त मत-भेद है और कुछ विद्वान् सुकरात के मतानुसार सुख को ही शुभ मानते हैं। जो भी हो, यह कभी भी स्पष्ट और निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि सुकरात ने सुख को ही शुभ माना है। वह अपने 'श्रोताओं' तथा पाठकों को अपनी निश्चित दार्शनिक स्थिति से कभी अवगत नहीं करता।

और इसे हम सुकरात के व्यक्तित्व का मात्र एक व्यक्तिगत व्यवहार-वैचित्र्य नहीं कह सकते। सुकरात ने नीतिशास्त्र में दार्शनिक प्रश्नों को उठाया है। अपने समय की स्वीकृत अवधारणाओं के प्रति संदेह प्रदर्शित किया है। उनके लिए सही मापदण्डों की तलाश पर बल दिया है। उदाहरणों की तुलना करके उनकी असंगतता पर प्रकाश डाला है। और यह सब उन्होंने सिर्फ इसलिए किया है कि वे अपने समकालीन यूनानी जीवन के समस्याग्रस्त नैतिक जीवन को उद्घाटित कर सकें। उनका उद्देश्य केवल नैतिक जीवन के प्रति एक दार्शनिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिज्ञासा पैदा करना था। और अपने इस कार्य में वे पूर्णतः सफल रहे। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि सुकरात ने जो अपनी चर्चाओं में विचार-संकेत दिए थे—उन्हें बाद के दार्शनिकों ने परिपक्व नैतिक सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया।

(२) सदगुण एक हैं – (वर्चू इज वन) : जैसा कि हम देख चुके हैं प्लेटो के आरंभिक सवादों में सुकरात की मुख्य खोज विभिन्न पदों की निश्चित परिभाषा प्राप्त करना था। आचरण संबंधी प्रश्नों की चर्चा में किसी एक सामान्य पद,—जैसे, साहस, आत्मनियंत्रण, मित्रता, धर्मनिष्ठा, आदि को एक विशेष संवाद का विषय बनाया गया है और इस एक पद की निश्चित परिभाषा तय करने की कोशिश की गई है। लेकिन यहां यह भी उतना ही ध्यातव्य है कि हम किसी भी संवाद में यह नहीं पाते कि उस पद की, कि जिसकी चर्चा उसमें की गई है, कोई निश्चित परिभाषा वास्तव में उभर सकी हो। ऐसा क्यों हुआ है? जब भी किसी विशेष सद्‌गुण को परिभाषित करने के लिए जैसे जैसे चर्चा बढी है, उसे अन्य सद्‌गुणों से अलग किया गया है। अन्य से उसकी भिन्नता और अंतर को बताया गया है, और बाद में यह देखा गया है कि वह विशेष सद्‌गुण, सद्‌गुण की सामान्य अवधारणा से अभिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए हम 'साहस' को ही लें। साहस क्या है? कहा जा सकता है कि यह खतरे की अवहेलना करना है। लेकिन विचारोपरांत हम पाते हैं कि कई स्थितियां ऐसी आती हैं जब खतरे की अवहेलना नहीं की जा सकती; ऐसा करना गलत होगा। जाहिर है, जो गलत है उसे करना, सद्‌गुण नहीं हो सकता। साहस इसलिए खतरे की अवहेलना नहीं है, बल्कि जब खतरे की अवहेलना करना ही शुभ हो तभी उसे साहस कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन खतरे की अवहेलना करना शुभ हो तभी उसे साहस कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन खतरे की अवहेलना करना शुभ कब होगा? इसके लिए हमें यह जानना आवश्यक हो जाता है कि शुभ क्या है? यही तर्क अन्य सद्‌गुणों पर भी लागू किया जा सकता है। परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि सभी तथाकथित स्वतंत्र सद्‌गुण शुभ की परिभाषा पर निर्भर हैं। या यों कहें, उनकी परिभाषाएं शुभ की परिभाषा में विलीन हो जाती हैं। शुभ का ज्ञान और किसी एक सद्‌गुण का ज्ञान अलग अलग नहीं होता। सभी सद्‌गुण एक शुभ की सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं। सद्‌गुण एक है।[२८]

'सद्‌गुण ज्ञान है' और 'सद्‌गुण एक है' इन दोनों कथनों को अलग अलग नहीं देखा जा सकता, क्योंकि यदि हमें सामान्य रूप से सद्‌गुण (या कहें शुभ) का ज्ञान है तो सभी सद्‌गुणों की समझ अपने आप ही आ जाएगी। सभी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशिष्ट सद्‌गुण सामान्य सद्‌गुण से ही मानों अपना प्रकाश ग्रहण करते हैं। हम अनेक सद्‌गुणों के बारे में बात जरूर करते हैं, जैसे संयमन, दूरदृष्टि, विवेक, करुणा, दया, आदि; लेकिन इन सबका स्त्रोत एक ही है, और वह है ज्ञान। अत: ज्ञान, जो स्वयं ही सद्‌गुण है, अन्य सभी सद्‌गुणों को अपने में सम्मिलित कर लेता है।

स्पष्ट ही सुकरात का यह सूत्र कि सद्‌गुण एक है, यूनान में उनके समय में व्याप्त नैतिक अराजकता के प्रति उनका विरोध था जिसने सारी नैतिकता को ही एक निजी सनक बना कर रख दिया था। सुकरात का आशय यही था कि सभी सद्‌गुण अंतत: स्वयं नैतिकता पर आधारित है और इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। विरोध तभी परिलक्षित होता है जब वे अपना आधार, जो वास्तव में 'शुभ' 'सद्‌गुण' या 'नैतिक्ता' है, को छोड़ देते हैं। सभी सद्‌गुण अपने परम साध्य से एक ही प्रकार का संबंध रखते हैं– यह संबंध है उन सब का उस साध्य के लिए साधन होना।

मनुष्य के कार्यों का परम साध्य क्या है, यह ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही हमें सद्‌गुणों के संबंध में भी उनका प्रयोग कैसे किया जाए, आदि बातों का ज्ञान स्वत: प्राप्त हो जाता है। विविध सद्‌गुणों की परिभाषा परम शुभ की परिभाषा का एक विशिष्ट वर्णन मात्र है।

(३)–'जानबूझ कर कोई भूल नहीं करता' (नो वन अर्स विलिंगली)– सुकरात का यह कथन 'सद्‌गुण ज्ञान है' कथन के समानान्तर है। यदि सभी नैतिक सद्‌गुण ज्ञान से कुछ इस तरह संबंधित हैं कि यदि, उदाहरणार्थ, हमें पता हो कि न्याय क्या है तो फलस्वरूप हम न्यायशील होंगे ही। इसी तरह हम कह सकते हैं कि कोई जानबूझ कर गलती नहीं करता, क्योंकि कोई भी अपने शुभ के अतिरिक्त जानबूझ कर कुछ और (अशुभ) नहीं चुनता। जिस प्रकार अच्छा कार्य करते समय व्यक्ति यह सोचता है कि वह अच्छा कार्य है और इसे करने में ही उसका शुभ है, ठीक इसी तरह बुरा कार्य करते समय भी मनुष्य यही सोचता है कि वह कार्य बुरा नहीं है, अच्छा ही है और इसी में उसका कल्याण है, ऐसा सुकरात का मत है। ऐसा इसलिए होता है कि वास्तविक शुभ क्या है, लोग उसके स्वभाव से अनभिज्ञ हैं। मनुष्य कभी भी, किसी भी परिस्थिति में, यह नहीं चाहता कि उसका कल्याण न हो, वह सदैव शुभ ही शुभ चाहता है; ऐसी स्थिति में स्पष्ट ही वह कोई ऐसी गलती नहीं करेगा जिससे उसके शुभ में हानि हो। यह बात दूसरी है कि उसे अपने शुभ का ही ठीक ठीक अभिज्ञान न हो और जिसे वह शुभ समझता हो, वह वस्तुत: उसके लिए अशुभ हो। अत: बुरे कार्यों का संपादन शुभ के मिथ्या मूल्यांकन पर आधारित है। उसे इसका भान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही नहीं होता कि इन कार्यों को करने से उसकी आत्मा को जो पाप लगेगा वह कई गुना उसके लिए अशुभ होगा। वस्तुतः कोई भी स्वेच्छा से पाप की ओर अग्रसर नहीं होता। बुराई अज्ञान है और एक विषयासक्त व्यक्ति (जो अपने) वास्तविक कल्याण को नहीं समझता और इंद्रिय माँगों को ही शुभ जान बैठा है 'बैल की तरह जडबुद्धि होता है'।[२०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुतः सुकरात के तीनों ही उपरोक्त कथन लगभग एक ही बात पर बल देते हैं कि मनुष्य को जब तक सद्‌गुण का ज्ञान नहीं होता वह सद्‌गुणी नहीं बन सकता, नैतिक भूलें सहज ही कर सकता है और तमाम सद्‌गुणों को एक दूसरे से स्वतंत्र मान कर परम साध्य को अनदेखा कर सकता है।

सुकरात का चिंतन मूलतः उसके नैतिक सोच का परिणाम है। वह अपने देशवासियों के नैतिक पतन के प्रति बहुत चिंतित था। उसके समय की नैतिक मान्यताएँ बहुत अस्पष्ट और अयुक्तिसंगत हो गई थीं। यूनानी जीवन के इसी समस्याग्रस्त नैतिक चरित्र की ओर वह अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहता था। इसीलिए वह अपने संवादों के माध्यम से लोगों को बार बार यह अहसास कराता था कि उनकी मान्यताएँ असंगत हैं, उनके कार्यों में नैतिकता का अभाव है। वे जानते ही नहीं कि उनका वास्तविक शुभ क्या है, उनका कल्याण किस बात में है।

सुकरात के सोच का यह नकारात्मक पक्ष अवश्य है; किन्तु यह एक बहुत सशक्त आयाम है क्योंकि इससे पहली बार यूनानी दर्शन में मनुष्य को केन्द्र में रख कर 'दार्शनिक-चिंतन' को बल मिला। मनुष्य को केंद्र में तो सोफिस्ट दार्शनिकों ने भी रखा था; लेकिन उन्होंने, बजाय इसके कि वे दार्शनिक चिंतन को बल देते, अपने समय की वृत्तियों को ज्यों का त्यों अपनाया और उनके अनुरूप ही लोगों को शिक्षित किया। सुकरात ने पहली बार इस नैतिक अराजकता और स्वेच्छाचारिता पर प्रश्नचिन्ह लगाया।

जहां तक सुकरात के नैतिक-दर्शन के भावात्मक पक्ष का प्रश्न है, वह हमें कोई सुनिश्चित नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करता। उनका विख्यात सूत्र 'सद्‌गुण ज्ञान है' भी सद्‌गुण की कोई परिभाषा नहीं है। लेकिन इस कथन में उनकी यह मान्यता कि हम सही जीवन पद्धति को ज्ञान से ही प्राप्त कर सकते हैं और यह ज्ञान उचित शिक्षा द्वारा योग्य व्यक्तियों को प्रदान किया जा सकता है—बाद में विकसित हुए सभी यूनानी दार्शनिक संप्रदायों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार की गई है। केवल नैतिक क्षेत्र में ही नहीं, ज्ञान के इस सर्वोच्च महत्त्व को प्लेटो की तरह सुकरात ने राजनीति के क्षेत्र में भी बिना किसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समझोते के स्वीकार किया। 'एक अच्छा सेना-नायक वह है जो युद्धनीति की कला जानता हो' ऐसा प्लेटो मानते थे। हम उसे चुनें या न चुनें, लेकिन सभी मनुष्यों के मत भी एक अज्ञानी मनुष्य को वास्तविक अर्थों में सेनानायक नहीं बना सकते। प्लेटो ने जब यह आवाहन किया कि एक आदर्श राज्य का नियंत्रण दार्शनिकों के हाथों में दिया जाए तो स्पष्ट ही यह उसकी केवल कल्पना की उड़ान मात्र नहीं थी। उसका सोच वस्तुतः उसके गुरु सुकरात के इस सिद्धान्त का ही प्रतिफल था कि वे लोग जो मनुष्य के कल्याण या अंतिम साध्य को नहीं जानते वे मनुष्यों पर शासन करने के योग्य नहीं है।[30]

सुकरात के तुरंत बाद कम-से-कम चार दार्शनिक संप्रदायों ने अपनी पहचान बनाई। ये चारों सुकरात के दार्शनिक प्रभा-मंडल से अलग नहीं थे; इसलिए इन्हें सोक्रेटिक - संप्रदायों के नाम से जाना जाता है। प्लेटो को यदि छोड़ दिया जाए (क्योंकि प्लेटो का नीति-दर्शन सबसे महत्त्वपूर्ण है और एक स्वतंत्र विवेचना की मांग करता है) तो शेष तीन संप्रदाय हैं - सिनिक, सोरेनायक और मेगारिक। इन तीनों को कभी कभी 'अर्द्ध-सुकराती' संप्रदाय भी कहा गया है। इनमें जबरदस्त भिन्नताएं होते हुए भी, इन सबका स्त्रोत सुकरात का दर्शन ही है। ये सभी इस बात पर सुकरात से सहमत प्रतीत होते हैं कि मनुष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण संपत्ति उसका ज्ञान या प्रज्ञान है और सबसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान शुभ का ज्ञान होता है। किन्तु इनकी सहमति यहीं समाप्त हो जाती है और ये संप्रदाय अलग अलग मार्ग अपना लेते हैं।

मेगारी, सिनिक और सिरेनाइक संप्रदाय

सुकरात के जीवन और शिक्षा का सार संक्षेप में यह था कि जीवन का एकमात्र लक्ष्य सद्‌गुण है। इसके अतिरिक्त और सब कुछ, सुख-सुविधा, धन, विद्या आदि, अपेक्षाकृत निरर्थक हैं। अतः अर्ध-सुकराती संप्रदायों में एक समान बात हम यही पाते हैं कि उन्होंने सुकरात की तरह ही जीवन के अंतिम लक्ष्य को सद्‌गुण के रूप में ही स्वीकार किया। अब हम यह देखेंगे कि उनका वैभिन्न्य किन किन बातों में है।

यदि जीवन का एक मात्र लक्ष्य सद्‌गुण है तो सद्‌गुण ठीक ठीक है क्या? सुकरात ने इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। सद्‌गुण की एक मात्र परिभाषा उनकी यही थी कि सद्‌गुण ज्ञान है, किन्तु ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट है कि यह वस्तुतः परिभाषा है ही नहीं। सद्‌गुण ज्ञान है किन्तु किसका ज्ञान? यह सितारों का, गणित का या भौतिक पदार्थ का ज्ञान तो है नहीं। यह नैतिक ज्ञान है, अर्थात् सद्‌गुण का ज्ञान है। सद्‌गुण को ऐसा परिभाषित करना कि वह सद्‌गुण का ज्ञान है हमें सद्‌गुण के बारे में कुछ नहीं बताता। सुकरात ने जब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सद्गुण को ज्ञान बताया तो वे स्पष्ट ही सद्गुण को परिभाषित नहीं कर रहे थे; भले ही कथन का रूप कुछ ऐसा ही क्यों न हो। वे वस्तुतः यह कहना चाहते थे कि सद्गुण ज्ञान पर निर्भर करता है, याने कि ज्ञान सद्गुण की पहली शर्त है। अगर सिर्फ यह ज्ञान हो जाए कि सद्गुण क्या है तो व्यक्ति सद्गुणी बनेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुकरात नें सद्गुण क्या है, इस प्रश्न को अनुत्तरित ही छोड़ दिया।

इसका कारण अंशतः सुकरात द्वारा अपनाई वार्ता–शैली थी जिसके माध्यम से सुकरात ने दार्शनिक सोच का विकास किया। सामान्य बातचीत के जरिए हम किसी वैचारिक पद्धति को विकसित नहीं कर सकते। किन्तु अंशतः इसका कारण सुकरात की असामान्य प्रतिभा भी थी। वे कदाचित् सद्गुण को किसी एक सूत्र में बांधना नहीं चाहते थे। वे स्पष्टतः यह देख सके थे कि सद्गुण को किसी एक अवधारणा में सीमित नहीं किया जा सकता। विभिन्न परिस्थितियों में इसके प्रयोग की असीमित संभावनाऐं हो सकती हैं। सुकरात के बाद के दार्शनिक संप्रदायों ने इसीलिए शुभ को भिन्न भिन्न प्रकार से परिभाषित करने का प्रयत्न किया।

१) मेगारी संप्रदाय – मेगारी संप्रदाय का संस्थापक युक्लिडीस स्वयं मेगारा के निवासी थे। उन्होंने शुभ को सुकरात के चिंतन के बाद भी एक ऐसा विषय माना जिसके स्वभाव की खोज अभी पूरी नहीं हो सकी है। और इसके संबंध में उन्होंने नए सिरे से विचार करना आरंभ किया। उन्होंने इसका तादात्म्य विश्व के गूढ़ रहस्य से किया। सद्गुण निःसदेह ज्ञान है, लेकिन किसका ज्ञान ? यह ज्ञान केवल भाव (बीईंग)का ही हो सकता है। सुकरात की 'शुभ' को अवधारणा को उन्होंने इस प्रकार पारमेनिडीस की 'भाव' की अवधारणा से संयुक्त किया। भाव, ईश्वर, एक, देवत्व–ये सभी एक ही वस्तु के नाम हैं। संभवन (बिकमिंग), अनेक, पाप–ये विरोधी तत्त्व हैं, अभाव (नॉट–बीईंग) हैं। वास्तविक भाव केवल शुभ है। बस वही है। विभिन्न सद्गुण – जैसे उदारता; संयमन, धर्म–परायणता आदि एक ही सद्गुण के भाव के ज्ञान के – केवल विभिन्न नाम हैं। मेगारी संप्रदाय ने इसीलिए सद्गुण को दार्शनिक चिंतन–मनन में; भाव के ज्ञान में, पाया और इस तरह ये सभी दार्शनिक. नीतिशास्त्र से तत्त्व-मीमांसा की ओर अग्रसर हो गए।

२) सिनिक[३१] संप्रदाय : जहां मेगारी संप्रदाय ने सद्गुण को एक चिंतन–मनन–प्रधान जीवन में पाया, वहीं सिनिक संप्रदाय ने इसे वैराग्य में फलीभूत देखा।

सिनिक संप्रदाय के प्रणेता एण्टिस्थेनीज[३२] (लगभग ४४४–३६५ ई. पू.) थे। वे सुकरात की इस धारण से सहमत थे कि सद्गुण का आधार ज्ञान है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसे सिखाया जा सकता है तथा सद्गुण एक है। लेकिन सिनिक चिंतकों ने सुकरात की प्रशंसा विशेष कर उनके दृढ और स्वतंत्र चरित्र तथा उनकी जीवन-चर्या के लिए की है न कि उनकी प्रखर बुद्धि के लिए। दूसरों के मत से पूरी तरह उदासीन रह कर, सुकरात ने एक मुक्त जीवन जिया। उन्होंने न निंदा की, और न ही प्रशंसा की परवाह की। धन और संपत्ति उनके लिए बेमानी थे।

सुकरात की इस जीवन-पद्धति को आदर्श मान कर सिनिक संप्रदाय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि व्यक्ति को सांसारिक सुख-संपत्ति से मुक्त होना चाहिए। पूर्ण वैराग्य, कठिन आत्मनियन्त्रण और यतित्व ही जीवन का उद्देश्य है, और यही सद्गुण है। एण्टिस्थेनीज का कहना था, 'सुख के लिये सद्गुण पर्याप्त है और सद्गुण के लिए एक सुकरात के (आत्म) बल के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। इस बल का संबंध कार्य से है; कितने शब्दों और कितनी ही शिक्षा से इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता'।[33]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिनिक दार्शनिकों ने प्रज्ञान का तादात्म्य व्यावहारिक सद्गुण से किया। केवल सैद्धान्तिक ज्ञान सद्गुण का स्त्रोत नहीं हो सकता। 'शुभ' या सद्गुण के लिए किसी वैचारिक शोध की आवश्यकता नहीं है। सिनिक दार्शनिकों का यह मानना है कि सुकरात ने सद्गुण की कौशल-पूर्ण खोज करने की बजाय, सुख के प्रति एक बौद्धिक उदासीनता का भाव अपनाया क्योंकि उन्हें सामान्य जन की इच्छाओं आदि की निरर्थकता का स्पष्ट बोध था। एण्टिस्थेनीस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सुख को एक बुराई समझा। उनका कहना था, 'सुख से वशीभूत होने से तो पागलपन अच्छा है।[34]

स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता सर्वोच्च मूल्य हैं। परिस्थितिजन्य हानियों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम पूरी तरह से परिस्थिति (के प्रभाव) से मुक्त रहें। एण्टिस्थेनीस ने इच्छाओं की संतुष्टि करनेवाले सभी विषय - यहां तक कि धन और सम्मान भी-अस्वीकार कर दिए। इच्छाओं के अभाव में ही सद्गुणों का निवास है और सुख के लिए यह अपने आप में काफी है। पूर्णतः निष्काम होने के अर्थ में जो मनुष्य सद्गुणी होता है उसके पास डरने या खो जाने के लिए लिए कुछ नहीं रहता। उसको तो दासता भी हानि नहीं पहुंचा सकती।[35] वस्तुतः यदि कोई गुलाम भी सद्गुण संपन्न है तो वह स्वतः स्वतंत्र है और एक जन्मजात शासक है।

एण्टिस्थेनीज का शिष्य डियोजेनीस तो यहां तक कहता है कि वह एक ऐसे व्यक्ति के हाथ बिकना चाहेगा जिसे एक स्वामी की आवश्यकता हो। डीयोजेनीस के लिए सद्गुण का अर्थ सभी शारीरिक सुखों से बचना था। उसके अनुसार भूख

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और पीड़ा शुभ की खोज में सकारात्मक रूप से सहायक हो सकते हैं। नैतिकता-सहजता और प्रकृति की ओर वापसी में निहित है।[३६]

इसमें कोई संदेह नहीं कि सुकरात ने अपनी जीवन पद्धति में एक प्रकार की निस्पृहता को अवश्य अपनाया, किन्तु यह उनका नैतिक साध्य कभी नहीं रहा। सिनिक संप्रदाय ने इसे एक नैतिक साध्य के रूप में स्वीकार कर लिया और वह यह मान बैठा कि सांसारिक सुखों और उपलब्धियों की अपेक्षा विरक्ति ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य है। सिनिक संप्रदाय का यह नैतिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो पूर्णतः निषेधमूलक है। यह हमें पीडा को वहन करने और सुख के प्रति एक तिरस्कार-भाव विकसित करने के लिए प्रेरित करता है। और यह सब यदि सुख-प्राप्ति के लिए हो किया जाता है (क्योंकि सिनिक दार्शनिक ने सद्गुण को सुख के लिए पर्याप्त बताया है) तो वस्तुतः सुखवाद का तथाकथित विरोध भी केवल दिखावटी रह जाता है।

पुनः सिनिक नीतिशास्त्र विशुद्धतः स्वार्थवाद का ही एक प्रकार है। इसका नैतिक उद्देश्य सामाजिक सुख न होकर, व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाना है। और इस वैयक्तिक स्वतंत्रता को सिनिक विचार ने इस कदर खींचा है कि इसमें दूसरों के उत्कृष्ट गुणों के लिए भी एक तिरस्कार का भाव घर कर गया है।

सिनिक दर्शन की इन्हीं सीमाओं ने उसे दो विपरीत दिशाओं में मोड दिया। एक विचारधारा नितांत स्वार्थवाद की ओर चली गई और दूसरी स्टोइक नीतिशास्त्र की ओर मुड गई, जो शायद सिनिक संप्रदाय का अधिक सहज विकास था। इन दो धाराओं में बट जाने का मुख्य कारण 'आत्मा' की अवधारणा के बारे में सिनिक दार्शनिकों की अस्पष्टता थी। जिन लोगों ने बाद में आत्मा को एक अलग-थलग इकाई माना उन्होंने समाज के प्रति एक तिरस्कार का भाव विकसित करके नितांत स्वार्थवादी दृष्टिकोण अपना लिया। किन्तु स्टोईक दर्शन ने आत्मा को अनिवार्यतः उसके सामाजिक आयाम में देखा और इस प्रकार आत्मनिर्भरता का अर्थ समाज और समस्त विश्व में व्यक्ति के स्थान के अनुरूप उसके कर्तव्यों के निर्वाह से लगाया।[३७]

३. सिरेनाइक संप्रदाय- यदि सिनिक संप्रदाय के लिए नैतिक जीवन मुख्य रूप से सुख के प्रति विरक्ति में था तो ठीक इसके विपरीत सिरेनाइक संप्रदाय ने सद्गुण और सुख में से, सुख को नैतिक जीवन का लक्ष्य बनाया, और सद्गुण को सुख से ही परिभाषित किया। सुकरात ने अक्सर सद्गुण की अनुशंसा यह कह कर की थी कि उससे व्यक्ति लाभान्वित होता है। सद्गुण सुख का एक मात्र मार्ग है ऐसा उसका मत था। किन्तु स्पष्ट ही इसका यह अर्थ नहीं था कि मनुष्य अपने कर्तव्य को सिर्फ तभी निभाए कि जब इससे उसे 'लाभ' होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो। उचित कार्य तो केवल इसलिए किया जाता है कि वह उचित है–सुकरात ने इसे कभी नहीं नकारा। किन्तु सुकरात ने नैतिकता का कोई निश्चित आधार भी नहीं बताया। परन्तु सुकरात को कभी कभी सुख का पक्ष लेते हुए देख; एरिस्टिप्पस [३८] ने सुख को ही समस्त नैतिकता का आधार मान लिया। बेशक सद्‌गुण ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। किन्तु सद्‌गुण का एकमात्र लक्ष्य स्वयं का लाभ ही है, अर्थात् सुख है। अत: बिना लाग–लपेट यह भी कहा जा सकता है कि सुख ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

एरिस्टिप्पस ने अपने सुखवादी निष्कर्ष के लिए प्रोटागोरस के दर्शन में एक तत्त्वमीमांसात्मक आधार भी प्राप्त कर लिया। प्रोटागोरस ने सत्य की वस्तुनिष्ठता को नकारा था। सोफिस्ट दार्शनिकों ने इसे नैतिकता पर लागू किया। और एरिस्टिप्पस ने इसे सुख पर आरोपित कर दिया। सुख बाहर की वस्तु न हो कर, मनुष्य का अपना निजी अनुभव है। इन्द्रियों की सुखद अनुभूति ही एकमात्र ऐसी अच्छाई है जिसका हमें संज्ञान है। चाहे फिर उसका स्त्रोत कुछ भी हो। इसी तरह दु:खद अनुभूति एकमात्र बुराई है। अत: विशुद्ध सुखवादी दृष्टि से (१) गत और आगत सुखों का कोई अस्तित्व नहीं है और (२) वर्तमान सुखों में कोई भी गुणात्मक भेद नहीं है। केवल तीव्रता का भेद है।

सुकरात ने बुद्धि के उच्चस्तरीय सुखों की बात कही थी। लेकिन सिरेनाइक दार्शनिकों ने सुखों में किसी भी प्रकार के गुणात्मक भेद की प्रामाणिकता को अमान्य कर दिया। उनके अनुसार केवल शारीरिक सुख ही अधिक सहज और तीव्र होते हैं और उन्हें ही इसलिए वरीयता देनी चाहिए। क्षणिक सुख; और वह भी दैहिक, मनुष्य के लिए एकमात्र शुभ है। फिर भी एरिस्टिप्पस को यह तो मानना ही पड़ा कि कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनमें तत्काल सुख प्राप्ति के समतुल्य दु:ख अधिक होता है। उनके अनुसार परंपरागत उचित-अनुचित के भेद का आधार यही है और नियम और रीति–रिवाज इसी अर्थ में एरिस्टिप्पस को स्वीकार्य हैं।

सिरेनाइक दार्शनिकों के सुखवाद में इस स्वीकृति से व्यावहारिक महत्त्व का एक नया मुद्दा विकसित हुआ। एरिस्टिप्पस ने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही इस बात पर बल दिया कि सच्चा सुख वही प्राप्त कर सकता है जो आत्मनियंत्रित हो और अपने आप पर शासन कर सके। एक सच्चे सुखी व्यक्ति में सावधानी और विवेक की आवश्यकता होती है जो उसे भावावेश का शिकार होने से बचा सके।

इस प्रकार अंततः हम कह पाते हैं कि जिस एरिस्टिप्पस को नीतिशास्त्रीय इतिहास में शुध्दत: सुखवादी दर्शन के प्रणेता के रूप में जाना जाता है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह कालान्तर में सिनिक दृष्टिकोण के बहुत निकट आ जाता है। साथ ही वह एपीक्यूरस और आधुनिक परिष्कृत सुखवादी विचारकों के समीप हो गया है। थ्योडोरस ने तो और अधिक बलपूर्वक यह स्वीकार किया कि क्षणिक सुख भ्रमात्मक हो सकते हैं और व्यवहार का लक्ष्य स्थाई शांति है। हेगेसियस ने तो सच्चे सुख की पूरी संभावनाओं को ही नकार दिया और दुख से मुक्ति के लिए आत्महत्या तक की वकालत की।[४०] संभवतः इस संप्रदाय का शिखर–बिन्दु गिने जाने वाले एनिसैरीज ने तो यहां तक कह डाला कि सच्चा सुख कभी कभी आत्म-बलिदान में होता है और आनंद का वास्तविक स्त्रोत सहानुभूति में है।[४१]

सिनिक और सिरेनाइक दार्शनिकों के विचार ऐतिहासिक दृष्टि से स्टोइक और एपीक्यूरस के नीतिशास्त्र के पूर्वगामी माने जा सकते हैं, जिनकी चर्चा हम यथास्थान पर करेंगे। किन्तु यहां केवल इतना कहा जा सकता है कि इन दार्शनिकों ने जिस समस्या को रेखांकित किया वह विशेष रूप से सद्‌गुण और सुख के परस्पर संबंध की समस्या थी। जब तक सद्‌गुण किसी न किसी रूप में हमें सुख नहीं देता, वह निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार जब तक सुख सद्‌गुण के अभ्यास से जुड़ नहीं जाता तब तक वह नैतिक मनुष्य के स्वभाव को, जैसा कि वह है, संतुष्ट नहीं कर सकता। सुख और सद्‌गुण न तो एक दूसरे से अभिन्न हैं और न ही एक दूसरे से पूरी तरह स्वतंत्र हैं। लेकिन सिनिक और सिरेनाइक दार्शनिकों की वृत्ति इनमें से किसी एक को दूसरे में विलीन कर देने की है और इस प्रकार या तो केवल सद्‌गुण अथवा केवल सुख को नैतिकता का परिचालक मानने की है। ऐसी स्थिति में सुख और सद्‌गुण दोनों की ही उपस्थिति तो बनी रहती है, लेकिन किसी न किसी एक अवधारणा की हानि भी होती है। वह दुर्बल हो जाती है और किसी हद तक अपना अर्थ ही खो बैठती है।

शासकीय महाविद्यालय, – सुरेन्द्र वर्मा
नीमच ४५८४४१
(म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. देखें, सिजविक, हेन्री; आउट लाइन्स आफ दि हिस्ट्री आफ एथिक्स, पृष्ठ १७.

२. इसमें एक अपवाद शायद पाइथागोरस था जो न केवल सैद्धान्तिक रूप से ही प्रखर था बल्कि जिसके नाम से पूरी एक जीवन–पद्धति जानी जाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. एरिस्टोफेनीज (४४८-३८० ई. पू.) यूनान का एक हास्य नाटककार और सामाजिक व्यंग्यकार था। वह जन-नेताओं, जन-संस्थाओं और यहां तक कि समकालीन देवताओं तक की खिल्ली उड़ाता था। अपने एक नाटक द क्लाउड्स में उसने सुकरात तक को नहीं बक्शा। उसमें सुकरात को उसने एक तथाकथित सोफिस्ट की तरह चित्रित किया है जो अपने कुतर्क द्वारा चतुराई से दूसरों को धोखा देता है। जाहिर है, यह स्पष्ट ही उचित और न्यायसंगत नहीं था। अपने विचारों में एरिस्टोफेनीज रूढ़िवादी था।

४. देखें, मेकैंजी, जॉन, ए मेन्युअल ऑफ एथिक्स, पृ. १२०-१२१.

५. देखें, स्टेस डब्ल्यू टी; ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी; पृ. १०६.

६. देखें, दुबे, श्रीप्रकाश (अनुवाद) ग्रीक दर्शन (जॉन बर्नेट कृत) पृ. ११५.

७. देखें, स्टेस (उपरोक्त) पृ. १०७-१०८.

८. यूनानी शब्द जिसका अनुवाद 'सद्गुण' किया गया है। वस्तुतः वह तकनीकी उपलब्धि है जिससे एक अच्छा नागरिक बना जा सकता है। यह ऐसा ही है जैसे अच्छी तरह से बांसुरी बजाने के लिए हम बांसुरी बजाने की तकनीक प्राप्त करें और वह बांसुरी बजाने का सद्गुण कहा जाए।

९. थीएटीटस, १६७ सी.

१०. देखें मेकिण्टायर, अलास्डेयर: ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ एथिक्स, लंदन; लंदन, १९६७ पृ. १५-१६.

११. वही - पृष्ठ १६ - १७.

१२ वही, पृष्ठ - १८.

१३. पूरा सूत्र इस प्रकार है - मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है। जो वस्तुएं हैं उनके अस्तित्व के संबंध में, और जो नहीं हैं उनके अनस्तित्व के संबंध में वही निश्चय करता है - (मन इज द मेजर आव आल् थीङ्ग्ज, आल द थीङ्ग्ज देट आर, देट दे आर, आव द थीङ्ग्ज देट दे आर नाट दे आर नाट)
थीटिटस १५२ ए। यद्यपि प्रोटागोरस के शब्द अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं, किंतु प्लेटो के वर्णन से ऐसा लगता है कि उसके शब्दों को मूल रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

१४. देखे, दीवान चन्द, डॉक्टर: पश्चिमी दर्शन-ऐतिहासिक निरूपण· प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९५७.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१५. प्रोटागोरस के सूत्र की नीतिशास्त्रीय विवेचना के लिए देखें, रोजर्स; आर. ए. पी. पृष्ठ—३१–३३

१६. डॉ. जानसन् (१७०६–१७८३), अंग्रेज कोषकार, निबंधकार, कवि और नैतिकतावादी थे। सुकरात से उनकी साम्यता विशेषकर उनके एक अच्छे वार्ताकार होने से की जा सकती है। दोनों का ही व्यवहार विषम और रूखा था, उनकी जीवन-शैली अजीब थी, लेकिन दोनों ही, फिर भी, उदार और दयावान् और सामाजिक थे। प्रकांड पंडित तो थे ही।

१७. कहा जाता है कि सुकरात की माता फीनारीट धाय का ही काम करती थी। सुकरात ने आध्यात्मिक स्तर पर यही काम किया।

१८. देखिए, सिजविक, हेनरी (उपरोक्त) पृ.—२३

१९. देखें, मेकिंटायर, एलास्डेयर: (उपरोक्त) पृ.—१९

२० वही, पृ.—२०

२१. यूनानी भाषा में 'शुभ' और 'सद्गुण' के निहितार्थ देखने के लिए देखें, फील्ड, जी. सी; दी फिलासफी आफ प्लेटो, आक्सफोर्ड, १९४६, पृ. १८–१६

२२. देखें, बर्नेट, जान (ग्रीक दर्शन,) पृ. १८६–१८६

२३. देखें, मेकिंटायर (उपरोक्त) पृ. २२

२४. रोजर्स, आर. ए. पी., (उपरोक्त), पृ. ३५

२५ यूडेमियन एथिक्स. १२१। ६ बी

२६. देखिए, मेकिंटायर (उपरोव) पृ. २३

२७. देखिए, मैकिंजी (उपरोक्त) पृ. १२९ तथा मेकिंटायर (उपरोक्त) पृ. २४

२८. देखें, फील्ड, जी. सी., : द फिलासफी आफ प्लेटो : (अंग्रेजी) आक्सफोर्ड, १९४६, पृ. १६–१७

२९. देखें, रोजर्स, आर. ए. पी. (उपरोक्त) पृ. ३६

३०. सिजविक (उपरोक्त) पृ. २६

३१. सिनिक नाम संभवतः एथिंस के सिनोसर्जीस नामक भवन से लिया गया है जो इस संप्रदाय का आरंभिक स्थल था। कभी-कभी यह भी कहा गया है कि इसकी व्युत्पत्ति उस यूनानी शब्द से है जिसका अर्थ 'कुत्ता' है। यह सिनिक संप्रदाय के लोगों के असभ्य और आक्रमक रवैये की ओर संकेत करता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि स्वयं सिनिक चिंतकों ने अपना समान प्रतीक-चिन्ह कुत्ते को ही माना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

था। इन लोगों में मनुष्य की अच्छाई में अविश्वास की वृत्ति और एक तिरस्कारपूर्ण दंभ पाया जाता था। आज भी इस तरह के व्यक्ति को सिनिक कहा जाता है।

३२. एण्टिस्थेनीस सुकरात के भक्त शिष्य थे। उन्होंने अपने सहज जीवन और शिक्षा से गरीब तबके के लोगों को खास आकर्षित किया था। इनके शिष्य डियोजेनीस कहते हैं कि उन्होंने दसेक कृतियाँ लिखीं थीं, किन्तु अब उनके कुछ अवशेष ही प्राप्त हैं। अरस्तू के अनुसार एण्टिस्थेनीज एक अशिक्षित और सरल हृदय के व्यक्ति थे। प्लेटो ने उन्हें बेकार ही तर्क से उलझते हुए पाया है।

३४. सिजविक (उपरोक्त) पृ. ३३–३४

३५. मेकिंटायर (उपरोक्त) पृ. १०१

३६. डियोजेनीस, एण्टिस्थेनीज की वैराग्य की शिक्षा से बहुत आकर्षित था। और उसका शिष्य बन गया था। वह शीघ्र ही प्रसिद्धि और तपश्चर्या में अपने गुरु से भी आगे निकल गया। कहते हैं उसकी भेंट सिकन्दर महान् से हुई थी और सिकन्दर ने कहा था "यदि मैं सिकन्दर न होता तो डियोजेनीस हो गया होता"।

३७. रोजर्स (उपरोक्त) पृ. ३८–३९

३८. एरिस्टिप्पस (लगभग ४३५–३५६ ई. पू.) अपनी कम आयु में ही सुकरात के शिष्य बन गए थे और अपने नगर सिरेन से एथिंस चले आए थे। उन्होंने कई यूनानी नगरों का भ्रमण किया लेकिन अंत में अपने संप्रदाय का केन्द्र सिरेन को ही बनाया—अतः सिरेनाइक संप्रदाय। अधिक से अधिक सुख उनके जीवन का लक्ष्य रहा और इसी सिद्धान्त के अनुसार एक अत्यन्त विलासितापूर्ण जीवन बिताया। उनकी मृत्यु के बाद उनके संप्रदाय को उनकी पुत्री, अरेन्त और उसके (अरेन्त के) पुत्र एरिस्टिप्पस (शब्दशः 'अपनी माँ का शिष्य') ने इस संप्रदाय को जीवित रखा।

३९. तुलना करें, भारतीय दर्शन के चार्वाक संप्रदाय के नैतिक विचार से। वह भी इन दोनों ही बातों को स्वीकार करता है।

४०. कहते हैं, जब हेरोसियस एलेक्जेंड्रिया में भाषण देता था तो बहुतेरे श्रोता उससे प्रभावित होकर आत्महत्या कर डालते थे। अंत में उसे व्याख्यान देने की अनुमति नहीं दी गई।

४१. देखिए, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खंड–६, पृ. ६३७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय दर्शन में कर्मवाद (१)
पूर्वपीठिका

भारतवर्ष को कर्मभूमि कहा जाता है और परम्परा से यह मान्यता रही है कि कर्मों के फल–भोगार्थ पुनर्जन्म ग्रहण करना होता है। इस विषय में वेदों तथा उपनिषदों के अनेक प्रमाण जुटाये जा सकते हैं जिनमें कर्मों और कर्मफलों के साथ भोगार्थ विविध योनियों में जन्म लेने की व्यवस्था बतायी गयी है। पुराणों में इस विषय का स्पष्ट प्रतिपादन मिलता है। पुनर्जन्म एक ऐसा सिद्धान्त है कि उससे भोगों की विविधता की व्याख्या होती है। अनादि वासनाओं पर आश्रित अनादि कर्मों तथा भोगों की व्यवस्था चार्वाकों को छोड़ कर सभी भारतीय दर्शनों में की गई। शास्त्रीय व्यवस्थाओं में जो वैमत्य पाये जाते हैं उनका कारण दार्शनिक तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा की विविधता है। जैसे, बौद्धों के मत से नित्य आत्मा नहीं; अतः भोक्ता का अनित्य स्वरूप कल्पित किया जाता है। बौद्धों के क्षणभङ्गवाद में भी एक प्रकार की सापेक्ष नित्यता या प्रवाह–नित्यता रहती है, जिसके अनुसार कर्मभोगों की व्याख्या की जाती है।

एक शरीर के अन्त और दूसरे शरीर की प्राप्ति के अन्तराल में प्रेतात्मा की मान्यता किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों की सम्पत्ति है। प्रेतयोनि भी दो जीवनों के मध्य आती है, जिसे बौद्धों के मत में प्रतिसन्धि कहा जाता है। इस प्रतिसन्धि को प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करेंगे परन्तु नामकरण बदल सकता है।

अनीश्वरवादी दर्शनों में यह प्रश्न आता है कि कर्मों के फलों का भोग देने वाला कौन है ? इस विषय में जैनों ने जीवों को परिणामी मानते हुए व्याख्या की है। सांख्यों ने भोग देनेवाली प्रकृति को नित्य स्वीकार किया है, तदनुसार भोक्ता पुरुष है और कर्त्री प्रकृति। भोगसामग्री जुटाने का कार्य भी प्रकृति ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करती है । जैमिनीय मीमांसा में अपूर्व या अदृष्ट ही पर्याप्त माना गया है; तदनुसार कर्मों से अपूर्व निर्मित होता है और वह फलभोग को उत्पन्न कर के स्वयं नष्ट हो जाता है – कर्म और फल के मध्य में अपूर्व की स्थिति रहती है।

ईश्वरवादी दर्शन यह स्थापित करते हैं कि सभी जीवों के कर्मों का फलभोग देनेवाला सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि चेतन कर्ता के बिना जीवजगत् की व्याख्या नहीं हो सकती । इन वैमत्यों के रहते हुए भी पुनर्जन्म को लेकर जो मतैक्य देखा जाता है उसके विरोध में केवल एक दर्शन प्रतिष्ठा पाता है जिसे लोकायत दर्शन या चार्वाक दर्शन कहते हैं।

चार्वाक दर्शन में कर्म–व्यवस्था –

चार्वाक दर्शन, लोकायत दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है । कुछ उपनिषदों में भी इस दर्शन के संकेत मिलते हैं । यह ऐसा दर्शन है जो परलोक को अमान्य करते हुए इहलोक के सुखों को सर्वस्व मानता है ।[1]

मैत्रायणी उपनिषद् (७.९) में आया है कि बृहस्पति ने शुक्र का रूप धारण कर के असुरों के विनाश के हेतु लोकायत दर्शन की शिक्षा दी । रामायण के अयोध्याकाण्ड में चित्रकूट प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें जाबालि ने राम को अयोध्या लौटाने के हेतु लोकायत मत का उपदेश किया है ।[2]

अर्थात, जो लोग अर्थ को काम से न जोड़ कर धर्मपरायण होते हैं, उनकी अवस्था शोचनीय है क्योंकि वे इस जीवन में दुःख पाते हैं और मरने के पश्चात् तो उनका विनाश अवश्यम्भावी है ।

इस प्रकार इस दर्शन का मूल सिद्धान्त उच्छेदवाद है, जिसका तात्पर्य है कि मरने के पश्चात् कुछ नहीं रह जाता । पृथिवी, जल, तेज और वायु चतुर्भूत ही मान्य हैं । उन्हीं के विशेष मिश्रण से चेतना आ जाती है जिसे जीवन कहते हैं । ऐहिकतावाद और सुखवाद ही इस दर्शन का प्रतिपाद्य है । प्रत्यक्षही एकमात्र प्रमाण माना गया है । परलोक जैसा कुछ होता ही नहीं । रामायण के उक्त सन्दर्भ में पुनः आया है –

स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुद्धि महामते ।
प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥

(२/१०८/१७)

विष्णुपुराण में इस मत की उपस्थापना करते हुए कहा गया है कि यज्ञादि धर्म–कार्य व्यर्थ हैं । यज्ञ करने वालों की अपेक्षा घास खानें वाले पशु अच्छे हैं। यदि यज्ञ में पशु मारने से स्वर्ग मिलता है तो यजमान को चाहिए कि अपने पिता का वध कर दे । यदि श्राद्ध–भोजन कराने से परलोक में प्रेतात्मा को कुछ मिलता हो तो प्रवासी के लिये पाथेय का बोझ अनावश्यक है क्योंकि श्राद्ध करने से प्रवास में उसे तृप्ति मिल जाएगी ।[3]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्य दर्शनों में भी पूर्वपक्ष के रूप में चार्वाक-दर्शन को लाया है। इसको बृहस्पति का दर्शन भी कहा जाता है। मीमांसादर्शन में संक्षेपतः इसका परिचय देते हुए आचार्य प्रभाकर ने कहा है कि वेदों में व्यवहारमात्र का उपदेश है। बुद्धिमानों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने लिये यज्ञ आदि की व्यवस्था बना दी है। यह सन्दर्भ बृहती (१/१/१३) में आया है। उसकी ऋजुविमला टीका में शालिकनाथ मिश्र ने एक उद्धरण दे कर आस्तिकों के कर्मवाद को मिथ्या बताया है—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥

देखा जा चुका है कि चार्वाकों ने देहनाश के पश्चात् पूर्ण उच्छेद मान्य किया है। देखा जाता है कि कुछ प्राणी सुखी हैं, दूसरे लोग दुःखी हैं। इनके भोग के साथ कर्मों का कोई सम्बन्ध नहीं। बौद्धों ने भी पूर्वपक्ष के रूप में चार्वाकदर्शन की उपस्थापना की है—

स चेदात्मा परं मरणात् स्यादकृताभ्यागमदोषः कर्मणा भवेत्।
स चेदात्मा सर्वेण सर्वं न स्यात्, तेनोपभोगोऽपि कर्मफलानां
न भवेत्। उभयथाप्ययुज्यमानतां पश्यन्नेवंदृष्टिर्भवत्येवंवादी,
आत्मोच्छिद्यते, विनश्यति, न भवति परं मरणादिति। तद्
यथा कपालानि भिन्नान्यप्रतिसन्धिकानि भवन्ति, अश्मा
वा भिन्नोऽप्रतिसन्धिको भवति। तद्वदत्रापि नयो द्रष्टव्यः।

(योगाचारभूमि, पृ. १५१)

अर्थात्, उच्छेदवाद के अनुसार मरण के पश्चात् यदि आत्मा की सत्ता मानी जाए तो कर्मों का अकृताभ्यागम दोष आता है, क्योंकि प्राणियों को बिना किये हुए कर्मों के सुख-दुःख का भोग करना होगा। इसके अतिरिक्त वह आत्मा यदि समस्त शरीर से सम्पूर्ण न हो तो कर्मों के फलों का उपभोग भी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त शरीर की ही भोग-साधना पायी जाती है। इस प्रकार उभयथा आत्मा की सत्ता अनुपपन्न है-शरीर से पृथक् मानने पर अकृताभ्यागम तथा शरीरव्यापी शरीरेतर मानने पर भोग की अव्यवस्था फलित होती है। अतः यह दृष्टि बनती है कि मरण द्वारा आत्मा का उच्छेदरूप विनाश हो जाता है और वह मरण के पश्चात् नहीं रहता। जिस प्रकार घट के कपाल फूट कर पुनः नहीं जुड़ते अथवा खण्डित प्रस्तरखण्ड का प्रतिसन्धान नहीं होता, उसी प्रकार देहात्मा उच्छिन्न होकर पुनः नहीं रहता।

सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाकमत की उपस्थापना में बृहस्पति का सिद्धान्त दिया गया है। तदनुसार पुनर्जन्म एवं परलोक अमान्य किये गये हैं।[४]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात, बृहस्पति ने सभी तथ्य स्पष्ट कह दिये हैं कि स्वर्ग, अपवर्ग, तथा परलोकगामी आत्मा का अस्तित्व नहीं है और वर्णों तथा आश्रमों की क्रियाएं कोई फल नहीं देती। अग्निहोत्र, त्रिवेद, त्रिदण्ड एवं भस्मधारण उन लोगों की जीविका है जिनमें अर्जन की बुद्धि एवं शक्ति नहीं होती। कर्मकाण्डियों की स्थापना है कि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जाता है। यदि ऐसा है तो यजमान अपने पिता की हिंसा ज्योतिष्टोम में क्यों नहीं करता? श्राद्ध यदि मृतकों की तृप्ति का कारण है तो ऐसा क्यों नहीं होता कि बुझते हुए प्रदीप का तैल ज्वाला संवर्धित कर दे? श्राद्ध से तृप्ति का सिद्धान्त मानने पर प्रवासयात्रियों के लिये पाथेय कल्पना व्यर्थ है क्योंकि जो घर में रह जाये उसे चाहिये कि प्रवासी के लिये श्राद्ध कर दे तो मार्ग में उसकी तृप्ति अनिवार्य होगी। यदि इस लोग में दान करने से परलोक में तृप्ति प्राप्त होती है तो अटाले के ऊपर स्थित लोगों के लिये भूतलस्थित लोग दान ही क्यों नहीं कर देते? अतः लोकायत सिद्धान्त यही है कि जब तक जीवित रहें तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करें और ऋण करके भी घृतपान करता रहें, क्योंकि भस्मीभूत शरीर का पुनरागमन कहाँ से होगा? यदि देह से निकल कर कोई आत्मा परलोक जाता है तो बन्धुओं के स्नेह से व्याकुल होकर वह पुनः क्यों नहीं लौट आता?

चार्वाक–दर्शन स्वर्ग, नरक आदि को ऐहिक मान लेता है जिसमें कर्मजन्य वासना इत्यादि का कोई योग नहीं होता। चतुर्भूत–संघात बनता है, फिर मिट जाता है। इन्हीं को क्रमशः जन्म एवं मरण की संज्ञा दी गई हैं। इस दर्शन का सारांश सर्वदर्शन संग्रह में दिया है।[५]

अर्थात, अङ्गना के आलिङ्गन से जन्य सुख ही पुरुषार्थ है और कण्टकादि व्यथा से जन्य दुःख को नरक कहा गया है। लोक–सिद्ध राजा परमेश्वर है, अन्य कोई ईश्वर नहीं है। देह का नाश ही मुक्ति है, किन्तु ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। इस दर्शन के अनुसार चार ही भूत हैं–पृथिवी, जल, तेज एवं वायु। जिस प्रकार वृक्षरसादि के समुदाय से मदशक्ति की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार चार समुदित भूतों से चैतन्य को उत्पत्ति मानी गयी है। स्थूलता एवं कृशता का योग शरीर में ही पाया जाता है और मनुष्य अपने को सामानाधिकरण्यपूर्वक स्थूल एवं कृश मानता है। अतः देह ही आत्मा है, किन्तु देहेतर आत्मा असिद्ध है। 'मेरा शरीर' इत्यादि प्रयोग औपचारिक हैं।

चार्वाकों को सभी दर्शनों ने पूर्वपक्ष के रूप में लेकर प्रत्याख्यान का विषय बनाया है। परन्तु कर्मवाद को समझने के लिए इस दर्शन का प्रस्थान बिन्दु बताया जाता है। अनात्मवादी दर्शनों में बौद्ध–दर्शन पुनर्जन्मवादी, परलोकवादी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथा कर्मविपाकवादी दर्शन है। आगे उसी का निरूपण किया जाएगा। चार्वाकों का सिद्धान्त पञ्चकारणी के अनुसार युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता। बौद्धों की पञ्चकारणी इस प्रकार है—

क— उत्पत्ति से पूर्व कार्य की अनुपलब्धि।
ख— कार्य की अनुपलब्धि में कारण की अनुपलब्धि।
ग— कारण की उपलब्धि में कार्य की उपलब्धि।
घ— कारण की उपलब्धि में कार्य की अनुपलब्धि।
(जहाँ कारण के रहते भी कार्योत्पाद न हो)
ङ— कारण की अनुपलब्धि में कार्य की अनुपलब्धि।

इससे सिद्ध होता है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में जीवों के सुखभोग एवं दुःखभोग भी कार्य हैं। अतः उनकी उत्पत्ति भी आकस्मिक या अकारण नहीं हो सकती। कारण की खोज की जाए तो पुराकृत कर्म ही सामने आते हैं। अतः कर्मसिद्धान्त अविचल है। उसके बिना किसी जीवनदर्शन की समीक्षा नहीं की जा सकती।

आचार्य कुल,
कालिदास अकादेमी
उज्जैन (म. प्र.)

बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

टिप्पणियाँ

१. न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अय लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

कठोपनिषद, २.६

२. वाल्मीकी रामायण, २.१०८.३०
३. विष्णुराण, ४.१८.८४–८५
४. माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन प्रकरणे।
५. तत्रैव,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चेतना की द्वन्द्वात्मकता का वाहक-'बुद्धिजीवी'

बुद्धिजीवी की भूमिका को लेकर अनेक प्रकार के प्रश्न समय-समय पर उठाए गए हैं कि समाज से, व्यक्ति से, ब्रह्मांड से तथा अस्तित्व के प्रश्नों से उसका क्या सम्बंध है? यदि है तो वह सम्बंध किस प्रकार का है? ऐसे कुछ प्रश्न हैं जिनको 'केन्द्र' में रख कर मैं बुद्दिजीवी की भूमिका और उसके दायित्व को एक ऐसा परिदृश्य देना चाहूँगा जिसमें स्वयं उसका अपना अस्तित्व एक 'अर्थ' प्राप्त कर सके।

यहाँ पर मैं 'बुद्धिजीवी' शब्द को एक व्यापक अर्थ में ले रहा हूँ जिसमें दार्शनिक, रचनाकार, कलाकार, समाज़शास्त्री, वैज्ञानिक, भाषाविद्, इतिहासकार तथा धर्मवेत्ता आदि सभी का समावेश है, जो किसी न किसी रूप में समाज, व्यक्ति, प्रकृति और ब्रह्मांड के प्रश्नों से जूझते हैं और क्रमशः विचारदर्शन की प्रस्तावना करते हैं। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि ये 'विचार' शून्य में नहीं उपजते हैं, वरन् उनका कोई न कोई आधार इस प्रदत्त दिक्-काल के संसार में होता है, जहाँ से वह वस्तुओं और चीजों को ग्रहण करता है, और उन्हें 'प्रतीक' के रूप में रूपांतरित एवं विवेचित कर नए अर्थ-संदर्भों की सृष्टि करता है। यह प्रक्रिया 'ज्ञान' और अनुभव की प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध बुद्दिजीवी से है। इस प्रकार बुद्दिजीवी किसी न किसी रूप में 'ज्ञान' का अन्वेषी है जिसका सम्बंध जगत्, जीवन, ब्रह्मांड और मनुष्य से है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि बुद्दिजीवी जागतिक दिक्काल और पराजागतिक दिक्काल (अनंत) के दो स्तरों से टकराता है जो एक दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य की चेतना की बनावट कुछ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार की है कि उसमें आगे जाने की या 'संभावना' को साकार करने की इच्छा और उसकी 'उन्मुखता' एक ऐसी नियति है जो 'चेतना' द्वंद्वात्मक गति की परिचायक है। इस जागतिक और पराजागतिक (अनंत संभविता) व्यवस्था में जागतिक दिक्काल का अपना विशिष्ट स्थान है, क्योंकि इसी वर्तमान 'प्रतीति बिंदु' से वह अतीत और भविष्य या संभावना को पकड़ने का प्रयत्न करता है। इसी संदर्भ में एक बात यह उल्लेखनीय है कि जागतिक दिक्काल की वस्तुओं और प्रक्रियाओं के द्वारा ही वह अनन्त या सम्भावना को संकेतित करता है। घट, पिण्ड, सागर, लहर, बून्द, चातक आदि जागतिक दिक्काल के शब्द हैं जिनके द्वारा रचनाकार और विचारक बृहद् संदर्भों जैसे (ब्रह्मांड, परमात्मा) अनंत, ईश्वर आदि) की व्यंजना करता है। दूसरे शब्दों में, वह पिंड या लघु; (माइक्रोकाज्म) से ब्रह्मांड या विराट् (मैक्रोकाज्म) की व्यंजना करता है। इस तथ्य के द्वारा मैं जिस बात को स्पष्ट करना चाहता हूँ, वह यह है कि बुध्दिजीवी; चाहे वह किसी क्षेत्र से सम्बंधित क्यों न हो, वह किसी न किसी स्तर पर दिक्-काल को उपर्युक्त दो व्यवस्थाओं से न्यूनाधिक रूप से टकराता अवश्य है और साथ ही, अपने 'समय' के वर्तमान 'बिंदु' से जुडे वगैर वह इतिहास और काल की गति को पकडने में असमर्थ रहेगा। अत: बुध्दिजीवी के पाँव अपने समय के गहरे यथार्थ से 'नालबध्द' जुडे रहते हैं, क्योंकि इसी स्तर से वह अतीत और संभावना का क्रमश: पुनर्विवेचन और अनुमान कर सकता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट होता है कि बुध्दिजीवी अपने समय और इतिहास की एक ऐसी 'उपज' है जो अतीत के प्रति विवेकपूर्ण दृष्टि रखता है, वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से टकराता है तथा भविष्य या संभावना का सांकेतिक प्रक्षेपण करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बुध्दिजीवी जहाँ एक और अपने समय के सरोकारों और ज्ञान–संवेदन के भिन्न आभासों से टकराता है, वहीं दूसरी ओर वह ब्रह्मांड और अस्तित्व के प्रश्नों से भी जूझता है, क्योंकि उसकी चेतना की संरचना इन दोनों क्षेत्रों को किसी न किसी रूप में ग्रहण करती है। इसी संदर्भ में एक बात यह भी है जो अक्सर कुछ लोगों के द्वारा उठायी गयी है कि बुध्दिजीवी का कार्य मात्र 'विचार' करना है, उसे कर्म से क्या लेना देना ? मेरे विचार से विचार–प्रक्रिया भी एक 'कर्म' है जो हवा में उत्पन्न नहीं होती है, वरन्, उसकी जडें अस्तित्व और जागतिक काल से गहरी जुडी होती हैं। यह ज्ञान या विचार–प्रक्रिया समाज में दो प्रकार से कार्य करती है–एक प्रत्यक्ष और दूसरे परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रकार में ज्ञान का सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है और इसमें विचारक या बुध्दिजीवी अपने विचारों को स्वयं कर्मरूप में परिणत करने का प्रयत्न करता है जैसे: गांधी, विवेकानंद;

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मँडेला, आदि। परोक्ष प्रकार में बुध्दिजीवी या विचारक समाज को विचार देता है जिसे वह स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं करता है, वरन्, वह विचार या दर्शन क्रमशः काल के दीर्घ आयाम में अन्य लोगों एवं वर्गों के द्वारा प्रचारित एवं कार्यान्वित किया जाता है। ऐसे विचारों का प्रभाव अपेक्षाकृत दूरगामी होता है। मार्क्स, आईस्टीन, कांट, शंकराचार्य आदि इसी कोटि के बुध्दिजीवी एवं चिंतक थे। इन दोनों प्रकार के बुध्दिजीवियों में 'विचार' का द्वन्द्वात्मक रूप प्राप्त होता है और इस दृष्टि से, विचार या ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से कर्मस्वरूप है, अधिक से अधिक उनमें गुणात्मक अन्तर माना जा सकता है। इससे एक तथ्य यह भी प्रकट होता है कि ज्ञान और कर्म का सापेक्ष सम्बंध है, इस सत्य के साथ कि कहीं वह प्रत्यक्ष है तो कहीं वह परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रकार की 'गतिशीलता' और परोक्ष प्रकार की 'गतिशीलता' में भी गुणात्मक अन्तर है, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि एक उच्चकोटि का है और दूसरा अपेक्षाकृत निम्नकोटि का, क्योंकि बुध्दिजीवी भी एक मानव है, अपनी सीमाओं और अभिवृत्तियों के साथ।

ज्ञान और कर्म के उपर्युक्त सापेक्ष सम्बंध से एक बात यह सामने आती है कि 'ज्ञान' का महत्त्व मानव एवं समाजकल्याण-सापेक्ष है, और इस दृष्टि से ज्ञान की एक एवं समाज विशिष्ट भूमिका 'परिवर्तन' को गति देने में है। यह परिवर्तन जहाँ एक ओर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन से जुड़ा हुआ है, वहाँ दूसरी ओर वह किसी न किसी मूल्यों और प्रत्ययों के विकास से भी जुड़ा हुआ है, जो किसी न किसी रूप में परिवर्तन को गति देते हैं। यह परिवर्तन गत्यात्मक एवं समय-अनूकूलित विचारों के द्वारा ही घटित होता है। पुराने विचार भी नए हो जाते हैं, जब वे समय-संदर्भ की आवश्यकता को किसी न किसी सीमा तक पूरा करते हैं। यदि गहराई से देखा जाए तो बुद्धिजीवी की जीवंतता और गतिशीलता मानव-विकास और परिवर्तन को गति देने में है।

अब प्रश्न यह है कि यह प्रगति और परिवर्तन कैसे घटित होता है? मेरे विचार से इस परिवर्तन के दो घटक हैं, जिनका गहरा आपसी रिश्ता है। एक 'इलीट' (विशिष्ट बुद्धिजीवी समूह) और दूसरा जनमानस या जन समूह। इन दोनों के मध्य एक द्वन्द्वात्मक सम्बंध रहता है और दोनों किसी न किसी स्तर पर एक दूसरे को प्रभावित और प्रेरित करते हैं। राजतंत्रीय और सामंतीय व्यवस्था में यह सम्बंध परोक्ष रहता है, जिसे मैनहाइम ऊर्ध्वमुखी (वर्टिकल) कहता है। यहाँ पर 'इलीट' जनमानस से ऊर्ध्वमुखी 'दूरी' पर होता है और सामान्यतः व्यवस्था का अंग होता है। इस स्थिती में वह अभिजात-मूल्यों एवं संस्कारों की रक्षा करता है। यह एक सामान्य स्थिति है, यद्यपि उसमें अपवाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो सकते हैं। दूसरी ओर लोकतांत्रिक व्यवस्था में 'इलीट' और जन का सम्बन्ध अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष होता है और यह सम्बंध बहुत सीमा तक समानांतर रहता है। यही कारण है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में 'इलीट' जनचेतना से प्रेरणा ही नहीं लेता है वरन् उसके विकास में भी सहायक होता है। रचनाकार और विचारक न्यूनाधिक रूप से अपनी वैचारिकता और सृजनात्मकता को वहीं से अनुप्रेरित करते हैं। यही कारण है कि बुद्धिजीवी का एक बहुत बड़ा तबका जन–चेतना और जन–आंदोलनों से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा रहता है; और इसी ध्यातव्य से वह राजनीति और अर्थनीति को भी प्रभावित करता है। आज के संदर्भ में यह जनतांत्रिक चेतना का एक अपना आंतरराष्ट्रीय तेवर नजर आ रहा है और यह तेवर साम्यवादी खेमें में भी एक नयी ऊष्मा लेकर उपस्थित हो रहा है। इस विचार–दर्शन को मैं जन–संस्कृति का मिथक कहता हूँ जिससे विचारक एवं रचनाकार लगातार प्रेरणा और ऊर्जा ग्रहण करते रहे हैं। मार्क्सवाद और गांधीवाद ने इस जन–संस्कृति के मिथक को इस प्रकार निर्मित किया है कि उनके द्वारा एक ऐसी जन–चेतना का विकास हुआ है जिसने शोषण; साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ जन–चेतना को आमने सामने लाकर खड़ा कर दिया है।

इसी संदर्भ में एक बात और है। जन–संस्कृति का 'मिथक' एक ऐतिहासिक परिवर्तन की सूचना देता है और साथ ही इतिहास के अर्थ को भी नया आयाम देता है। मध्यकालीन दैवी शक्ति का स्थान अब इतिहास ने ले लिया है और इसी के साथ इतिहास अब मात्र राजाओं और अभिजनों का ही नहीं है, वरन्, अब इतिहास की जनवादी व्याख्या सामने आयी है। इतिहास जहाँ एक ओर विचारों का इतिहास होता है, वहीं वह जनसामान्य की आकांक्षाओं; संघर्षों और उनके दमन–शोषण का भी इतिहास होता है। जब हम यह कहते हैं कि ''इतिहास' ही बताएगा या 'इतिहास' साक्षी है' तो हम एक प्रकार से 'मूल्य कथन' कर रहे होते हैं। इतिहास के प्रति यह परिवर्तित दृष्टिकोण 'जनवादी मिथक' की ही देन है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आधुनिक मिथकों का भी लगातार सृजन हो रहा है, जिनमें 'इतिवृत्त' का हल्का पुट रहता है (प्राचीन मिथकों में अधिक) और वैचारिकता का अधिक प्रभाव, जिसके कारण आज के 'मिथक' सघनीकृत अधिक होते हैं। उसे और अधिक व्यापक अर्थ में कहें तो संस्कृति का जनतांत्रीकरण अपनी तीव्र प्रक्रिया में है जो न्यूनाधिक रूप से विश्व–फलक पर घटित हो रहा है। यह सारा परिवर्तन भिन्न क्षेत्रों के बुद्धिजीवी के द्वारा ही क्रमशः घटित हुआ है।

उपर्युक्त विवेचना से एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि विचार की गतिशीलता ही परिवर्तन को गति देती है जो जगत्; प्रकृति, व्यक्ति; ब्रह्मांड

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदि क्षेत्रों के रहस्यों का उद्घाटन करती है। मेरे विचार से बुद्धिजीवी यहाँ पर कोई 'वर्ग' नहीं है, क्योंकि विचारक वर्ग से ऊपर होता है। यह दूसरी बात है कि आगे चल कर उसे वर्ग या वाद में बांध दिया जाता है और इस स्थिति में विचार या प्रत्यय एक स्थिर रूप ग्रहण कर लेते हैं जिसकी विवेचना पुनर्विवेचना युगानुकूल होती रहती है। यह एक सतत चलनेवाली वैचारिक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया के केन्द्र में है 'बुद्धिजीवी'।*

५ झ, १५, जवाहर नगर
जयपुर–३०२००४
(राजस्थान)

वीरेन्द्र सिंह

टिप्पणी

* प्रस्तुत लेख प्रोफेसर दयाकृष्ण जी के द्वारा राजस्थान विश्वविद्यालय; जयपुर, में आयोजित एक संगोष्ठि में प्रस्तुत किया गया था। संयोजकों के द्वारा उक्त लेख प्रकाशित करने की अनुमति मिली है। हम संयोजकों के आभारी हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मंगल-फल-मीमांसा : न्याय-वैशेषिक के परिप्रेक्ष्य में

भारतीय समाज में प्रत्येक शुभ कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ईश्वरस्तुति की परम्परा प्रचलित है; क्योंकि जगत्कारणीभूत ईश्वर ही संसार के समस्त प्राणियों के क्रियाकलापों व प्रयत्नों का नियन्ता तथा संचालक है ऐसा स्वीकार किया जाता है। इसी कारण मनुष्य अपने द्वारा आरब्ध कार्य के निरापद रूप से सम्पन्न हो जाने की कामना से कार्यारम्भ से पूर्व ईश्वर की स्तुति करता है। ग्रंथ संरचना भी एक शुभ एवं महान् कार्य है, अतः उसके आरम्भ में भी ईश्वर स्तुति रूप मंगलाचरण प्रचलित है। यद्यपि ईश्वर-स्मरण मानसिक व्यापार है; परन्तु परम्परा की स्थापना तथा उसका निर्वाह इस को ध्यान में रख कर मंगल को अंकित कर दिया जाता है।

मंगल फलयुक्त होता है, इस विषय में आस्तिकों में कोई विवाद नहीं है। कारण, सदाचारयुक्त विद्वान् मंगल का आचरण करते हैं और उनका आचरण अनिन्दित समझा जाता है। अतः मंगल सफल होता है, यह निश्चित है। 'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनात् भूतितश्चेति '[1] इस सांख्य सूत्र से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। सप्त पदार्थी के मितभाषिणी टीकाकर माधवसरस्वती ने ऐसा ही विचार इन पंक्तियों में प्रकट किया है–' नमस्कारो वेदबोधितकर्तव्यताकः अलौकिकाविगीत शिष्टाचारविषयत्वात् दार्शाद्याचारवत् '[2] अर्थात्, नमस्कारादि रूप मंगलाचरण सफल होता है, क्योंकि वेद के द्वारा दर्शपूर्णमास के समान उसकी भी कर्तव्यता का कथन किया गया है और यह सदाचारयुक्त विद्वानों द्वारा आचरित भी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मंगल का फल क्या है ? इस विषय में प्राचीन एवं नव्य नैयायिकों में कुछ मतभेद पाया जाता है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार, मंगल विघ्नध्वंस के द्वारा कार्य की समाप्ति का कारण है। उदयनाचार्य[३] एवं शंकरमिश्र[४] आदि इसी मत के समर्थक हैं। प्राचीनमतानुयायी अपने पक्ष के समर्थन में यह तर्क देते हैं कि मंगल की कर्तव्यता को बतलाने वाला वेदवाक्य 'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' इस रूप में प्राप्त होता है। दूसरे, आरब्धं कर्म मे निर्विघ्नं परिसमाप्यताम्' इस कामना से ही मंगल की ओर प्रवृत्ति होती है। विघ्नध्वंस की इच्छा के अधीन इच्छा का विषय होने से स्वयं पुरुषार्थ नहीं है; अतः वह मुख्य फल नहीं है। ग्रन्थ की समाप्ति स्वयं सुख का साधन है, अतः अन्येच्छानधीनेच्छा (अन्य किसी की इच्छा के अधीन न होना) का विषय होने से मंगल का फल होता है। इस मत के विरुद्ध यह आक्षेप किया गया है कि मंगल एवं कार्य की समाप्ति के मध्य कारण-कार्य-भाव किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता। इनमें अन्वय व व्यतिरेक दोनों ही दृष्टि से व्यभिचार स्पष्ट है। क्योंकि जिनमें कार्य-कारण भाव होता है, उनमें कारण के होने पर कार्य का होना देखा जाता है और कारणाभाव होने पर कार्याभाव भी पाया जाता है। किन्तु हम देखते हैं कि बाण भट्ट की कादम्बरी में मंगल रूप कारण के होने पर भी उक्त ग्रन्थ की समाप्ति नहीं हुई है। इसके विपरीत नास्तिकों के ग्रन्थ मंगल से रहित होने पर भी पूर्ण हैं।[५] इस आक्षेप का परिहार करते हुए उदयनाचार्य किरणावली[६] में लिखते हैं कि मंगलाचरण होने पर भी ग्रन्थ की समाप्ति न होने में तीन प्रमुख कारण हैं– १) कर्तृवैगुण्य—मंगलकर्ता में पर्याप्त श्रद्धा का अभाव हो या मंगल पर्याप्त मात्रा में न किया गया हो। (२) कर्मवैगुण्य – मंगल उचित व शुद्ध रीति से न किया गया हो। (३) साधनवैगुण्य – जहाँ विघ्न का निवारण स्वसामर्थ्य के द्वारा असम्भावित हो। यदि ये वैगुण्य न हों तो भी विघ्न के अत्यधिक प्रबल होने पर फल-प्राप्ति नहीं होती। कुछ विचारकों के मत में ऐसे अपूर्ण ग्रन्थों में वाचिक नमस्कार होने पर भी मानसिक नमस्कार (श्रद्धायुक्त समर्पण) का अभाव मानना चाहिये।

जहाँ मंगल के न होने पर भी कार्य की समाप्ति देखते हैं, वहाँ जन्मान्तरीय मंगल की कल्पना कर लेनी चाहिये। दूसरा तर्क यह भी दिया गया है कि ऐसे ग्रन्थों में वाचिक नमस्कार न होने पर भी मानसिक नमस्कार निश्चित रूप से किया गया होगा। इस प्रकार प्राचीन मतानुयायियों ने विविध तर्कों के आधार पर कार्य–समाप्ति को मंगल के फल के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

नवीन नैयायिक कार्य की समाप्ति में बाधा–कारक विघ्नों के ध्वंस (नाश) को ही मंगल का फल मानते हैं। तत्त्वचिन्तामणिकार गंगेश उपाध्याय[७] एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

माधव सरस्वती ने इसी मत की प्रतिष्ठापना की है। उनका विचार है कि मंगल कार्य–सिध्दि में आने वाले प्रतिबन्धकों का विध्वंसक है। विघ्नध्वंस हो जाने पर बुध्दि, प्रतिभादि कारणों के द्वारा समाप्ति स्वयमेव हो जाती है। इस प्रकार समाप्ति में विघ्नध्वंस भी एक कारण है और विघ्नध्वंस का कारण मंगल है। (इसका मतलब यह हुआ कि न्याय की पारिभाषिक शब्दावली में मंगल कार्य सिध्दि का व्यापार है।) चिन्तामणिकार का विचार है कि आरब्ध कर्म की समाप्ति में मंगल न तो आंगिक कारण है और न प्रधान ही। पापविध्वंस करने वाले प्रायश्चित्त के सदृश विघ्नध्वंस ही मंगल का फल है। मंगल के द्वारा विघ्नों का नाश निश्चित रूप से होता है, जिस प्रकार प्रायश्चित्त के द्वारा पाप का नाश होता है। इसी सन्दर्भ मे नवीन मत में दोष दिखलाते हुए प्राचीन मतानुयायी शंकरमिश्र वैशेषिक सूत्रभाष्य 'उपस्कार' [८] में लिखते हैं कि पाप भी विघ्नरूप ही है और उसका विनाश प्रायश्चित्त से हो जाता है और वह मगलजन्य नहीं है। अतः नवीन मत में व्यभिचार स्पष्ट है।

नव्य नैयायिक इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार पाप से विघ्न उत्पन्न होते हैं, पाप स्वयं विघ्नरूप नहीं है और कृतपापस्वीकारोक्ति (प्रायश्चित्त) से पापक्षय होता है, यह सर्वाभिमत है। दूसरे, प्राचीनों का 'विघ्नरहित समाप्ति' रूप फल विशिष्ट फल है और 'नागृहीत विशेषणाविशिष्टे बुद्धिः' (याने, किसी भी विशिष्ट का हमें होनेवाला बोध विशेषण–विरहित कदापि नहीं हो सकता।) इस न्याय से विशिष्ट की सिद्धि विशेषण–सिद्धि के बिना संभव नहीं है। प्रस्तुत स्थल में 'निर्विघ्न'–पदवाच्य विघ्नाभाव ही विशेषण है और जब तक विघ्न का अभाव नहीं होगा, तब तक निर्विघ्न समाप्ति कैसे संभव होगी? विघ्नाभाव की उपस्थिति प्रथमतः होती है, अतः उसी का अन्वय मंगल के साथ हो जाता है और मंगल के आकांक्षारहित हो जाने से उसके साथ समाप्ति के अन्वित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त मंगलमात्र ही समाप्ति का कारण नहीं माना जा सकता। मंगल करने पर भी यदि बुध्दि, प्रतिभादि का अभाव हो तो कार्य-सिध्दि (समाप्ति) कथमपि संभव नहीं है। वस्तुतः मंगल के द्वारा मात्र विघ्नध्वंस होता है और तत्पश्चात् अन्य कारणों के सहयोग से समाप्ति होती है–ऐसा नव्यनैयायिकों ने प्रतिपादित किया है।

मंगल को विघ्नध्वंस का कारण मानने पर यह आशंका होती है कि जहाँ अत्यधिक पुण्य के फलस्वरूप विघ्न का अत्यन्ताभाव हो, वहाँ मनुष्य के द्वारा किया गया मंगल क्या निष्प्रयोजन होगा? इसका समाधान नव्यनैयायिकों ने यह दिया है कि ऐसे स्थल पर भी मंगल का निष्फल होना हमें अभीष्ट नहीं है। वस्तुतः ऐसे स्थल पर भी मंगल की अनुपादेयता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विघ्नों के अतीन्द्रिय होने से जिस प्रकार उसके भाव का निश्चय नहीं हो सकता, उसी प्रकार उसके अभाव का निश्चय भी असम्भव ही मानना पड़ेगा। विघ्न का संशय होने पर मंगल करना न्यायसंगत ही माना जायेगा। इसलिये विघ्नध्वंस को मंगल का फल मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

आचार्य विश्वनाथ ने अपनी न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली [९] में प्राचीन एवं नवीन दोनों ही मतों की चर्चा की है, किन्तु उनका झुकाव नवीन मत की ओर ही प्रतीत होता है।

यदि हम तर्क-वितर्क को त्याग कर अनुभव को प्रमाण मानें तो मंगल का प्रयोजन 'विघ्नरहित कार्य-सिद्धि' ही है। किसी महान् कार्य को आरम्भ करने की इच्छा से युक्त व्यक्ति अपने इष्ट के प्रति इसी आशय से प्रार्थना करता है— "हे मालिक। मैंने आपकी ही प्रेरणा से इस कार्य को करने का संकल्प किया है; और आप की अनुकम्पा से यह निर्विघ्न रूप से पूर्ण हो सकेगा। अतः आप मेहर बनाये रखियेगा।" इस प्रार्थना में 'विघ्नरहित समाप्ति' की ही कामना पूर्णतया अभिव्यक्त है।

संस्कृत विभाग — उर्मिला आनन्द
डी. ई. आई, दयालबाग
आगरा-२८२००५, (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ :-

१. सांख्यसूत्र– ५।१
२. सप्तपदार्थी की मितभाषिणी टीका–पृ. ३
३. किरणावली (बड़ौदा संस्करण) पृ. ३
४. वैशेषिकसूत्र की उपस्कार टीका–पृ. १०
५. शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरम्भ में मंगल नहीं है।– सम्पादक
६. किरणावली–पृ. ३
७. तत्त्वचिन्तामणी–पृ. ५१
८. उपस्कार– पृ. ५
९. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली–पृ. १३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता का आदर्श : एक विवेचन

भारतीय सामाजिक जीवन में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की व्यावहारिक परिणति न हो पाने तथा साम्प्रदायिक तनावों और वैमनस्य की बढ़ती हुई जटिल समस्या का हल उनकी जनक स्थितियों तथा पोषक तत्त्वों की पहचान के माध्यम से ही संभव है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमें अनेक असुविधाजनक तथ्यों तथा अविश्वसनीय स्थितियों से साक्षात्कार की संभावना के लिए तैयार होना पड़ेगा। ऐसी तत्परता के अभाव में कारणों को पहचान कर उनका निदान करने की अपेक्षा उनके लक्षणों में ही उलझे रहने की सम्भावना अधिक रहती है। सर्व प्रथम हमें यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि धर्मनिरपेक्षता के सामाजिक आदर्श का भारतीय भूमि में प्रवेश पश्चिमी सभ्यता से आयातित समता तथा स्वतन्त्रता के आदर्शों के साथ औपनिवेशिक काल में ही हुआ। यद्यपि ऐसे दावे प्रायः किए जाते हैं कि धार्मिक सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का विशिष्ट तथा अभिन्न अंग है परन्तु ऐसे दावे करने वाले यह स्मरण रखने में संकोच करते हैं कि धार्मिक सहिष्णुता की भावना भारतीय सामाजिक परम्पराओं में इतनी गहरी और सशक्त नहीं रही जितनी समझने या मानने से हमें झूठे गौरव का अनुभव होता है। दक्षिणी भारत में शिव-भक्तों तथा विष्णु-भक्तों के शताब्दियों पुराने तनाव और संघर्ष, उत्तरी भारत में सनातन-धर्मियों के बौद्धों तथा जैनों के साथ पारस्परिक झगड़े तथा कलह भी भारतीय संस्कृति के इतिहास का ही अंग हैं। इसलिए यह प्रचार कि भारतीय समाज में धार्मिक कट्टरता तथा असहनशीलता का प्रवेश इस्लाम के आगमन के कारण हुआ इतिहास की विकृत और पाक्षिक समझ पर ही आधारित हो सकता है। यह भी ध्यान रहे कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धार्मिक सहिष्णुता की भावना धर्मनिरपेक्षता के लिए आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। धर्म के प्रति जिस प्रकार की उदासीनता तथा विरक्ति किसी धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति के लिए आवश्यक है वैसी उदासीनता भारतीय मानसिकता के लिए सामान्य नहीं है। अलौकिक सत्ता तथा दैविक शक्तियों में आस्था, धार्मिक अन्ध विश्वास तथा दुराग्रह भारतीय मानसिकता में इतने गहरे पैठे हैं कि जन्म से ले कर मरण तक हम धार्मिक कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठानों से मुक्त ही नहीं हो पाते। किसी भी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने से पहले हम अपने पुजारियों, ज्योतिषियों, तान्त्रिकों से परामर्श करना तथा धर्मगुरुओं से निर्देश और आशीर्वाद प्राप्त करना अपने सौभाग्य के लिए अनिवार्य समझते हैं। यह प्रवृत्ति जनसाधारण में तथा उच्चशिक्षा प्राप्त विद्वानों, वैज्ञानिकों, प्रशासकों, नेताओं, उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा अधिकारियों के व्यवहार में समान रूप से अभिव्यक्त होती है। विडम्बनीय स्थिति तो यह है कि अणु-अनुसन्धान केन्द्रों में कई वैज्ञानिक भी प्रयोगशालाओं के सक्रिय-आण्विक-क्षेत्रों में जाने से पूर्व हनुमान चालीसा का पाठ करते हुए सुरक्षित लौटने की प्रार्थना करते हैं। ऐसे व्यवहार को महज् व्यक्तिगत निष्ठा तथा धार्मिक आस्था का मामला कह कर विरोधाभासों से मुक्ति नहीं मिल सकती। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ऐसी मानसिकता तथा व्यवहार मूलतः धर्मनिरपेक्षता विरोधी हैं। इस कथन के विरोध में कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ अपनी धार्मिक आस्थाओं को तिलांजलि देना न होकर दूसरे धर्मों के प्रति समान आदर का भाव रखना है। भारतीय संविधान में भी धर्मनिरपेक्षता के आदर्श,को स्वीकार करते हुए सभी नागरिकों को अपनी धार्मिक आस्थाओं, परम्पराओं तथा प्रार्थना-विधियों का पालन करने तथा उनको प्रचारित प्रसारित करने का अधिकार भी दिया गया है। उपरोक्त विवाद अथवा असहमति का आधार धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी ऐसी विपरीत मान्यताए हैं; जिनसे उत्पन्न विरोधी अपेक्षाओं को पूरा करना कठिन हो जाता है। ऐसे विवादों; असहमतियों को समुचित रूप से समझने के लिए धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं, स्थापनाओं, सिद्धान्तों की सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना उपयोगी रहेगा।

भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता तथा साम्प्रदायिकता सम्बधी अधिकांश चर्चाओं में यही समझा जाता है कि हिन्दी भाषा में प्रचलित शब्द 'धर्मनिरपेक्ष' अंग्रेजी भाषा के 'सैक्युलर' (Secular) तथा 'सैक्युलरिज्म' (Secularism) शब्दों के पर्यायवाची शब्द ही हैं। परन्तु भारतीय संदर्भ में इन शब्दों के अर्थ वैसेही नहीं समझे जाते जैसे इन्हें पश्चिमी वैचारिक परम्परा में समझा गया है। अंग्रेजी भाषा में इन शब्दों का प्रयोग एक विशिष्ट धार्मिक तथा साँस्कृतिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिवेश में विकसित जीवनदृष्टि, राजनैतिक आंदोलनों तथा आर्थिक-प्रक्रियाओं से निष्पादित सामाजिक लक्ष्यों को इंगित करने के लिए होता है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता एक वैचारिक प्रत्यय होने के साथ ही साथ विवरणात्मक तथा मानक प्रत्यय भी है। यदि विवरणात्मक प्रत्यय के नाते धर्मनिरपेक्षता एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का परिचायक है तो एक प्रतिमान के तौर पर कुछ विशेष सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समुचित नीतियों को मान्यता भी देता है। चूंकि प्रत्येक वैचारिक धारणा का उदय किन्हीं विशिष्ट ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों में होता है तथा यह परिस्थितियाँ सतत परिवर्तनशील रहती हैं, इसलिये अलग अलग समय पर विभिन्न समाजों में धर्मनिरपेक्षता के दृष्टिकोण, प्रतिपादित लक्ष्यों तथा नीतियों को विविध अर्थों में समझा या स्वीकार किया गया है। इस विविधता से उत्पन्न वैभिन्य तथा उसकी महत्ता, प्रासंगिकता तथा विशिष्टता को समझने के लिए यह उपयुक्त रहेगा कि भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी विवादास्पद मान्यताओं का विश्लेषण करने से पूर्व पश्चिमी युरोपीय समाज में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श के उद्भव तथा विकास की ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त अवलोकन किया जाए।

युरोपीय समाज में धर्मनिरपेक्षता के विकास की यात्रा की बड़ी लम्बी कहानी है। शताब्दियों तक युरोप में संगठित ईसाई धर्म का प्रभुत्व था। सामन्तवादी राज्य-व्यवस्था तथा गिरिजे के धर्माधिकारी पारस्परिक रूप में इतने जुड़े हुए थे कि राजसत्ता की वैधता ही दैविक अधिकारों पर आधारित समझी जाती थी। ध्यान रहे कि युरोप की स्थिति भारतीय स्थिति से इस तरह बहुत भिन्न थी कि न तो भारत की तरह युरोप में धार्मिक-सम्प्रदायों की विविधता थी और न ही युरोप की भाँति भारत में एक संगठित शक्तिशाली धार्मिक गिरिजा है जिससे राज्य-व्यवस्था को अपनी वैधता की स्वीकृति लेनी पड़ती हो। इन बिन्दुओं को नज़र-अन्दाज करने से कई निरुत्तर कर देने वाले प्रश्नों से हम व्यर्थ में ही अपना सिर फोड़ने बैठ जाते हैं। १३ वीं शताब्दी में युरोप में नव जागरण (Renaissance) का आरम्भ हुआ। इस प्रक्रिया में परोक्ष रूप से यूनानी विवेकवाद का प्रभाव, आधुनिक विज्ञान का उद्भव तथा विकास; गिरिजे के धर्माधिकारियों तथा सामन्तों में होने वाले आपसी विरोधों तथा मानवतावादी दृष्टिकोण के उद्भव का महत्त्वपूर्ण योगदान मिला था। इस काल में गिरिजे तथा धर्माधिकारियों की प्रभुसत्ता पर प्रश्नचिन्ह लगा कर उन्हें राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में प्रभावहीन करने के प्रयास किए गए। तदोपरान्त, धार्मिक सुधार-आंदोलन (Reformation) के दौरान सामाजिक,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राजनैतिक तथा आर्थिक गतिविधियों को इह-लौकिक तथा सार्वजनिक समझते हुए उन्हें धार्मिक प्रभावों से सिर्फ मुक्त रखने पर ही बल नहीं दिया गया; बल्कि धार्मिक निष्ठाओं, आस्थाओं तथा अनुष्ठानों को पारलौकिक सत्ता से सम्बन्धित घोषित करते हुए सार्वजनिक क्षेत्र से उन्हें खदेड़ कर निजी व्यक्तिगत क्षेत्र में सीमित कर दिया गया। इसी काल में ईसाई मत के विभिन्न सम्प्रदायों में आपसी सहिष्णुता की भावना का भी विकास हुआ। राष्ट्र-राज्यों के उद्‌भव तथा विकास; वैज्ञानिक सिद्धान्तों, स्थापनाओं तथा मान्यताओं तथा धार्मिक निष्ठाओं के पारस्परिक संघर्ष में वैज्ञानिक विधि की उत्कर्षता की सिद्धि, लोकतान्त्रिक क्रान्तियों, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा औद्योगीकरण की आवश्यकताओं, तथा नियमानुसार वैधानिक शासन की व्यवस्था के परिणामस्वरूप युरोप में एक ऐसे नए जीवन-दर्शन का विकास हुआ जिसे धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार परम्परागत धार्मिक निष्ठाओं, आस्थाओं, मूल्यों की आलोचना तथा अस्वीकृति के परिणामस्वरूप ही धर्मनिरपेक्षता की भावना का विकास हुआ। पश्चिमी संस्कृति में पनपी इस आधुनिक जीवनदृष्टि के अनुसार सांसारिक अथवा सामाजिक गतिविधियों का संचालन अथवा नियन्त्रण किसी भी प्रकार की दैविक या पारलौकिक सत्ता के हाथ में न होकर मानव के ही वशमें है। सामाजिक व्यवहार में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, मानवीय समता तथा सामाजिक न्याय के आदर्शों की महत्ता स्वीकार करते हुए नागरिकों की धार्मिक निष्ठा को उनका निजी व्यक्तिगत मामला समझते हुए सामाजिक तथा राजनैतिक नीतियों के निर्धारण में उसे अप्रासंगिक तथा महत्त्वहीन माना गया। इसीलिए आधुनिक पश्चिमी समाजों में राज्य-प्रशासन द्वारा किसी भी नागरिक के साथ उसकी धार्मिक निष्ठाओं के कारण किसी भी प्रकार का भेदपूर्ण व्यवहार करना अनुचित माना जाता है।

पश्चिमी समाजों में धर्मनिरपेक्ष नीति का मुख्य लक्ष्य धर्म, राज्य तथा शिक्षा के क्षेत्रों में विभाजन-रेखा खींच कर उन में आपसी घुसपैठ अथवा हस्तक्षेप को रोकना है। यही समझा जाता है कि यदि किसी समाज में शिक्षा तथा शोध संस्थानों पर किसी प्रकार का धार्मिक दबाव अथवा नियन्त्रण नहीं है तथा कानून में सभी नागरिकों को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के समान अधिकार उपलब्ध हैं तो ऐसी सामाजिक व्यवस्था को धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था कहा जा सकता है। उपरोक्त अवलोकन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि युरोप में धर्मनिरपेक्षता के दृष्टिकोण के विकास में निम्न धारणाएं अथवा मान्यताएं निहित हैं :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१) धार्मिक निष्ठा अथवा आस्था की प्रभुसत्ता की समाप्ति तथा विवेक अथवा तर्क को विश्वासों तथा निर्णयों के मूल्यांकन की कसौटी के रूप में स्वीकार किया गया। नैतिक मूल्यांकन को धार्मिक निर्णयों, आस्थाओं से पृथक् करने का प्रयास किया गया।

२) इहलौकिक तथा पारलौकिक गतिविधियों तथा जीवन के सार्वजनिक (बाह्य) और व्यक्तिगत (निजी, आन्तरिक) क्षेत्रों में स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचने का प्रयास किया गया।

३) सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा कलाविषयक गतिविधियों में धार्मिक संस्थाओं (गिरिजों तथा धर्माधिकारियों) की प्रभुसत्ता तथा हस्तक्षेप को समाप्त करने का प्रयास किया गया।

४) धर्मनिरपेक्षता का मूल उद्देश्य, नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की महत्ता पहचानते हुए, धार्मिक आस्थाओं के चयन तथा पालन का अधिकार प्रदान करना ही नहीं बल्कि उन्हें किसी भी या सभी धर्मों के प्रभाव अथवा प्रतिबन्धों से मुक्ति दिलाना भी है।

५) सामाजिक जीवन की वास्तविक समस्याओं का हल किसी काल्पनिक पारलौकिक क्षेत्र में ढूंढने की अपेक्षा इसी वास्तविक ऐतिहासिक समाज में राजनैतिक, आर्थिक तथा नैतिक व्यवस्था की पुनर्रचना के प्रयासों में ही निहित है। इस लिए प्रचलित सामाजिक मूल्यों, आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्था के मूल्यांकन के लिए, धार्मिक निष्ठाओं की अपेक्षा मानवीय विवेक का उपयोग करना प्रोत्साहित किया गया।

६) धार्मिक विश्वासों, निष्ठाओं, अनुष्ठानों को सार्वजनिक सामाजिक जीवन के लिए अप्रासंगिक अथवा महत्त्वहीन समझते हुए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता; मानवीय समता तथा सामाजिक न्याय के आदर्शों पर आधारित नियमानुसार शासन की लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्रावधान किया गया। धर्मनिरपेक्षता केवल राज्य की प्रशासनिक, वैधानिक, न्यायिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक नीतियों तक ही सीमित न रहते हुए नागरिकों के आपसी सम्बन्धों तथा व्यवहार में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा मानवीय गरिमा के आदर की भावना में भी अभिव्यक्त हुई।

उपरोक्त मान्यताओं तथा धारणाओं के अवलोकन से धर्मनिरपेक्षता के आदर्श का बहुलक्षीय तथा बहुआयामी चरित्र स्पष्ट रूप से प्रस्तुत होता है। इन विविध आयामों तथा विभिन्न लक्ष्यों की सिद्धि एक साथ ही संभव न होने के कारण लक्ष्यों की वरीयता तथा आयामों की प्राथमिकता की समस्या उठ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

खड़ी होना स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थितियों में व्यावहारिक स्तर पर धर्म-निरपेक्षता के आदर्श से प्रतिबद्ध व्यक्तियों तथा समुदायों में भी आपसी तनाव तथा विरोध उत्पन्न हो सकते हैं। इसी विविधता, विभिन्नता, असहमतियों, विवादों, तनावों तथा विरोधों के परिणामस्वरूप पश्चिमी समाजों में भी धर्म-निरपेक्षता के आदर्श का व्यावहारिक रूप एक सा नहीं है। उदाहरणतया, ब्रिटेन में 'चर्च आफ इंग्लैंड' ही राज्य के द्वारा एकमात्र प्रतिष्ठित चर्च है जिसके धार्मिक मुखिया ब्रिटेन के राजा अथवा रानी ही हो सकते हैं। इस स्थिति से संकीर्णता तथा धार्मिक दुराग्रह के शिकार कई भारतीय यह निष्कर्ष निकालने में सन्तोष का अनुभव करते है कि धर्मनिरपेक्षता की नीतियों का पालन करने के लिए राज्य का सभी धर्मों से एक समान दूरी रखना आवश्यक नहीं है। परन्तु ऐसा निष्कर्ष निकालने वाले यह भूल जाते हैं कि ब्रिटेन में बड़ी देर से चली आ रही आयरिश समस्या की पृष्ठभूमि में भी कैथोलिक ईसाईयों तथा 'चर्च आफ इंग्लैंड' की प्रतिष्ठित स्थिति से उत्पन्न हुए साम्प्रदायिक वैमनस्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यह ब्रिटिश धर्मनिरपेक्षता के लिए कोई गौरव की बात नहीं कि व्यावहारिक स्तर पर धार्मिक निष्ठाओं के कारण नागरिकों के प्रति किसी भी प्रकार का भेदपूर्ण व्यवहार न होते हुए भी किसी कैथोलिक अथवा अन्य धार्मिक सम्प्रदाय के व्यक्ति के लिए ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चुने जाने की संभावना कोरी कल्पना ही है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका जैसे बहुजातीय, बहुधर्मीय धर्मनिरपेक्ष देश में भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा राजनैतिक निर्णयों को प्रभावित करने के प्रयास निरन्तर किए जाते हैं। मृत्युदण्ड, गर्भपात, समाधिमरण तथा कई अन्य विषयों पर विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों के अनुयाइयों द्वारा वैधानिक निर्णयों को प्रभावित करने के सक्रिय प्रयास किए जाते हैं। मतदान में भी धार्मिक तथा साम्प्रदायिक समर्थन और विरोध के उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि किसी गैर-ईसाई अथवा अश्वेत के लिए संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति पद का चुनाव जीत सकना निकट भविष्य में तो संभव नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यहूदियों पर किए गए अत्याचारों तथा नरसंहार से धार्मिक सहिष्णुता का सतही स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी युरोप तथा अमरीका में वर्तमान समस्या सिर्फ धार्मिक सहिष्णुता की ही नहीं बल्कि जातिवाद तथा वर्ण पर आधारित भेदभाव को समाप्त अथवा नियन्त्रित करने की भी है। पूर्वी युरोप के समाजवादी देशों तथा सोवियत संघ में नागरिकों को धार्मिक निष्ठा की स्वतन्त्रता का अधिकार संविधान के कागजों में तो प्रदान कर दिया गया था, परन्तु इन राज्यों द्वारा अपने नागरिकों की धार्मिक गतिविधियों में किए गए अनुचित हस्तक्षेप तथा अघोषित गुप्त प्रतिबन्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हाल ही में हुए राजनैतिक परिवर्तनों के उपरान्त तो सर्वविदित ही हुए हैं। इस प्रकार विविधता तथा विषमता की सूचक स्थितियों से इस निष्कर्ष के लिए कोई संदेह नहीं है कि शताब्दियों से चले आ रहे लम्बे राजनैतिक और वैचारिक आंदोलन तथा लोकतान्त्रिक व्यवस्था के बाद भी धर्मनिरपेक्षता के आदर्श तथा यथार्थ में अनिवार्य खाई कहीं अधिक गहरी और कहीं उथली है। इस खाई को भरना उन समुदायों तथा नागरिकों का दायित्व है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता; मानवीय समता तथा सामाजिक न्याय के आदर्शों का दम भरते हैं। पश्चिमी समाजों में इस संदर्भ में घटित हो रही प्रक्रियाओं, चल रहे आन्दोलनों, वृद्धिगत होती अपेक्षाओं तथा उद्भूत होने वाली आशंकाओं की चर्चा करने की अपेक्षा यह उपयुक्त रहेगा कि उपरोक्त अवलोकन के आधार पर हम भारतीय संदर्भ की विशिष्ट स्थितियों तथा समस्याओं की ओर ध्यान दें।

भारतीय संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यही है कि भारतीय धर्मनिरपेक्षता का उद्भव और विकास पश्चिमी समाज की भांति धार्मिक विश्वासों तथा आस्थाओं के प्रति किसी प्रकार के संदेह जगने या तार्किक प्रश्न उठने के कारण नहीं हुआ। हमारे यहाँ संगठित धार्मिक संस्थाओं की अनुपस्थिति के कारण धर्मसत्ता तथा राज्यसत्ता में कोई सीधा विरोध अथवा संघर्ष भी नहीं हुआ। संभवतया इसी लिए हमारी धर्मनिरपेक्षता न तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा मानवीय समता के लक्ष्यों को ही समर्पित है और न ही धार्मिक निष्ठाओं के प्रति किसी प्रकार के संदेहों अथवा अस्वीकृति पर आधारित है। हमारी धर्मनिरपेक्षता तो एक बहुसाम्प्रदायिक विषम समाज में विभिन्न समुदायों तथा व्यक्तियों द्वारा अपनी अपनी विशिष्ट धार्मिक अस्मिताओं को दूसरों के आक्रमण से सुरक्षित रखने के प्रयास का ही फल है। सुरक्षा के लिए किए जाने वाले ऐसे प्रयासों की पृष्ठभूमि में किसी न किसी प्रकार की आशंकाओं, भय, संदेहों तथा अविश्वास की सक्रिय भूमिका रहती है। यह एक विचारणीय तथ्य है कि भारतीय उपमहाद्वीप के सभी धार्मिक सम्प्रदायों में – चाहे वे सिक्ख, ईसाई, मुसलमान, हिन्दु कोई भी क्यों न हो – में आर्थिक स्थिति, खानपान, वेशभूषा, भाषा, जातीयता इत्यादि तत्त्वों की इतनी विविधता तथा विषमता है कि उनमें निष्ठाओं, कर्मकाण्ड तथा प्रार्थना–विधियों की समानताएँ भी एकात्मता या एकता की भावना को चिरस्थाई नहीं होने देतीं। इसलिए सभी सम्प्रदाय अपनी आन्तरिक विषमताओं से उत्पन्न तनावों के कारण कितने भी विभाजित तथा खण्डित क्यों न हों दूसरे सम्प्रदायों के मतावलम्बियों के लिए एक संगठित विरोधी का ही आभास देते हैं। इसी आभास के कारण वे एक दूसरे से आशंकित तथा भयभीत होते हुए पारस्परिक संदेहों तथा अविश्वास को और भी गहरा करते हैं। औपनिवेशिक काल में विदेशी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शासकों द्वारा किया गया दमन और शोषण विभिन्न समुदायों में संकट तथा असुरक्षा की भावना को तो जगाता ही था, अपने हितों की पूर्ति के लिए उनको एक दूसरे के विरुद्ध भड़काने में भी कोई संकोच नहीं किया गया।

औपनिवेशिक काल में भारतीय इतिहास के लेखन में भी विभिन्न कालों का विभाजन करते समय भी अंग्रेजी इतिहासकारों ने अपने हितों को दृष्टि से ओझल होने नहीं किया। यदि इस्लाम के आगमन से पूर्व–काल को हिन्दु सभ्यता का स्वर्णयुग घोषित किया गया तो इस्लाम के आगमन के बाद के काल को मुस्लिम अत्याचार तथा हिन्दु दासता के नारकीय काल के रूप में प्रस्तुत किया गया। परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास का अत्यन्त विकृत तथा पाक्षिक चित्र भारतीय मध्यमवर्ग में प्रचलित हुआ। मुसलमानों में भी यह भावना जागृत की गई कि अंग्रेजों के आगमन से पहले भारत का शासन उन के हाथ में था और अंग्रेजों के चले जाने के बाद अल्पसंख्यक होने के कारण उनकी सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति बहुसंख्यक हिन्दुओं की कृपा पर ही आश्रित होगी। इस प्रकार की भ्रामक धारणाओं का दुष्प्रभाव स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय आंदोलन पर पड़ना अनिवार्य ही था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित भारतीय मध्यमवर्ग में राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। इस भावना की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति तो कुछ समय पहले सीखी गई उस नई आधुनिक शब्दावली में हुई जिसमें राजनैतिक हितों तथा धार्मिक निष्ठाओं को एक दूसरे से अलग ही रखा जाता है। परन्तु यह विचारधारा पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित रही, क्योंकि जनसाधारण के लिए ऐसी नई जीवनदृष्टि बिलकुल ही अजनबी थी। भारतीय सामाजिक जीवन में पारलौकिक तथा इहलौकिक, सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत, धार्मिक तथा राजनैतिक के मध्य सीधी विभाजन–रेखा खींच कर राजनैतिक कार्यक्रमों को धार्मिक गतिविधियों से बिलकुल अलग तथा असम्बद्ध रखना सरल नहीं था। संभवतया इसी कारण राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने वालों के लिए साम्प्रदायिक आग्रहों से मुक्त हो पाना या उनसे ऊपर उठ सकना एक दुष्कर चुनौती था। भारतीय मध्यम वर्ग के लिए ऐसी अप्रत्याशित तथा कठिन स्थिति में दुर्गम मार्ग की अपेक्षा सुविधाजनक दिशा की ओर आकर्षित हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि कांग्रेस में यदि एक वर्ग राष्ट्रीय प्रश्नों को हिन्दु पुनर्जागरण की शब्दावली में उठाते हुए हिन्दु राष्ट्रवाद के प्रवक्ता के रूप में उभरने लगा तो मुस्लिम लीग की स्थापना के साथ मुसलमानों का अलग स्वर भी प्रखर होने लगा। अंग्रेजी प्रशासन के लिए यह अनिवार्य और स्वाभाविक ही था कि उभर रही राष्ट्रीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चेतना के विकल्प के रूप में साम्प्रदायिक विचारधारा को प्रोत्साहित किया जाए। ऐसी परिस्थितियों में भी कांग्रेस के कई नेताओं की मान्यता थी कि यदि विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्यों को समान समस्याओं तथा मांगों पर संगठित रखने का प्रयास जारी रहे तो यदि साम्प्रदायिक मतभेदों को समाप्त नहीं तो कम अवश्य किया जा सकता है। परन्तु हिन्दु राष्ट्रवाद तथा मुस्लिम राष्ट्रवाद का अलग अलग नारा बुलन्द करने वाले नेताओं की ऐसे दृष्टिकोण की ओर कोई विशेष सहानुभूति नहीं थी। वास्तव में दोनों सम्प्रदायों के उग्रपन्थी नेता अपनी स्थापनाओं के माध्यम से एक दूसरे की स्थितियों को ही सशक्त बनाने में सहायक सिद्ध हो रहे थे। जनसाधारण से कांग्रेस के इस धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को विशेष समर्थन या सहयोग न मिले पाने का एक मुख्य कारण कांग्रेसी नेताओं द्वारा सम्पन्न वर्ग तथा शोषित जनसाधारण के पारम्परिक विरोधों में सीधे और स्पष्ट रूप से जनसाधारण के साथ न जुड़कर मध्यमवर्गीय अपेक्षाओं को ही अपने कार्यक्रमों में केन्द्रीय महत्त्व देना भी था। राष्ट्रीय आंदोलन की ऐसी स्थिति में गांधीजी ने अफ्रीका से लौटने के पश्चात प्रवेश किया। जैन, वैष्णव तथा ईसाई धर्म की परम्पराओं तथा आस्थाओं से प्रभावित गांधीजी के लिए न तो सार्वजनिक बाह्य जीवन और व्यक्तिगत आंतरिक निष्ठाओं के मध्य खींची गई विभाजन रेखा ही उचित थी और न ही धर्म और राजनीति को एक दूसरे से अलग रखना ही मान्य था। गाँधीजी का विश्वास था कि सभी धर्मों का चरम लक्ष्य तथा मर्म एक ही होने के कारण किसी भी सच्चे धार्मिक व्यक्ति के लिए दूसरे धर्मों के प्रति आदर तथा सम्मान की भावना स्वाभाविक ही है। मूलभूत प्रश्नों पर धार्मिक असहमतियाँ तथा विवाद सिर्फ उथलेपन, अहंकार तथा भ्रामक धारणाओं का ही परिणाम थे। गाँधीजी का विश्वास था कि विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों में एक दूसरे के प्रति सहयोग तथा सहनशीलता की भावना विकसित की जाती है। गांधीजी के अनुसार एक धार्मिक व्यक्ति के लिए धर्मनिरपेक्ष होने का अर्थ ही "सर्वधर्मसमभाव" के दृष्टिकोण को अपने जीवन में व्यावहारिक रूप देना था। गाँधीजी की व्यक्तिगत निष्ठा तथा धार्मिक मान्यताओं के बारे में बिना कोई प्रश्न–चिन्ह लगाए भी "सर्वधर्म समभाव" के आदर्श की विवेचना की जा सकती है। परन्तु इस ओर ध्यान देने की अपेक्षा गाँधीजी द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन को दिए गए नेतृत्व तथा उनकी व्यावहारिक राजनीति के परिणामों को पहचानना अधिक प्रासंगिक रहेगा।

गांधीजी ने जनसाधारण की धार्मिक आस्थाओं तथा संवेदनाओं का उपयोग उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रेरक के रूप में किया। धार्मिक परम्पराओं से उपलब्ध शब्दावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने सत्याग्रह,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अहिंसा, रामराज्य, हरिजन, दरिद्रनारायण, अन्त्योदय इत्यादि के नए अर्थ राष्ट्रीय आंदोलन में जनसाधारण को सम्बोधित करते हुए दिये। गांधीजी का दृढ़ विश्वास था कि धार्मिक आस्था तथा प्रतिबद्धता पर आधारित जन-आंदोलनों में जो राष्ट्रीय भावना उभरेगी वह इतनी सशक्त होगी कि प्रचलित भ्रामक धारणाएं तथा साम्प्रदायिक मतभेद राष्ट्रीय संघर्ष की भट्टी में अपने आप ही समाप्त हो जाएंगे। गांधीजी के नेतृत्व में जनसाधारण को संगठित करने के लिए किए गए प्रयासों को सक्रिय समर्थन तथा सहयोग मिला। गांधीजी ने जनसाधारण की परिचित शब्दावली के उपयोग के साथ ही साथ अल्पसंख्यकों का सहयोग तथा समर्थन प्राप्त करने के लिए उन्हें बार बार आश्वासन दिया कि उनके हित कांग्रेस के नेतृत्व में पूर्णतया सुरक्षित हैं। खिलाफत आंदोलन तथा गुरुद्वारा आंदोलन को पूर्ण समर्थन दे कर गांधीजी ने राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेसी कार्यक्रमों के लिए मुसलमानों तथा सिक्खों का सहयोग प्राप्त करने में भी सफलता प्राप्त की। परन्तु राष्ट्रीय आंदोलन के लिए की गई इस योजना का मुख्य आधार एक प्रकार साम्प्रदायिक तथा जातीय स्तर तक ही सीमित रहा, क्योंकि जनसाधारण को एक संघर्षशील राष्ट्र के नागरिकों के रूप में संगठित करने की अपेक्षा उन्हें विभिन्न संप्रदायों तथा जातियों के अंग के नाते ही राष्ट्रीय आंदोलन में सम्मिलित होने के लिए प्ररित किया गया। गांधीजी की लोकप्रियता तथा सफलता का मुख्य कारण जनसाधारण की समस्याओं को उनकी भाषा में स्वर दे कर जन-मानस में व्याप्त गहरी धार्मिक सम्वेदनाओं को समाज सुधार तथा राजनैतिक परिवर्तन के लिए अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से जगाना था। गांधीजी कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन को जनस्वीकृति दिलाने में तो सफल रहे, परन्तु उनका यह विश्वास सही नहीं निकला कि स्वतन्त्रता-आंदोलन के समान संघर्ष में "सर्वधर्मसमभाव" का सिद्धान्त साम्प्रदायिक दरारों को अपने आप ही समाप्त कर देगा। १९४७ में कांग्रेस नेताओं की सहमति के साथ—इस सहमति में जवाहर लाल नेहरू भी सक्रिय तौर पर शामिल थे—साम्प्रदायिक आधार पर भारतीय उपमहाद्वीप का विभाजन हुआ। इस सारे घटनाचक्र में विभाजन की परिस्थितियों की अनिवार्य परिणति कह देने मात्र से अथवा सारा दोष मुस्लिम लीग तथा अंग्रेजों के सिर मढ़ देने से हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के धर्म-निरपेक्षता से प्रतिबद्ध नेतृत्व का दायित्व सम्पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता। यद्यपि महात्मा गांधी इस विभाजन के लिए वैसे तत्पर तो नहीं थे जैसी तत्परता तत्कालीन कांग्रेसी नेतृत्व ने दिखाई थी, फिर भी उन्हें इस विभाजन का मूक दर्शक तो बनना ही पड़ा। राष्ट्रीय आंदोलन की इस परिणति से चार निष्कर्ष निकाले जा सकते है: (i) पहला यह कि धर्मनिरपेक्षता की भी ऐसी व्याख्या – जिसके अनुसार समाज के सदस्यों को स्वतन्त्र व्यवित (नागरिक) के रूप में देखने की अपेक्षा विभिन्न

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथा विशिष्ट सम्प्रदायों तथा जातियों के अंग के रूप में अधिक महत्ता दी जाती है – के लिए रचनात्मक राजनीति को जन्म देना कठिन ही है। (ii) दूसरा यह कि जब भी धर्मनिरपेक्ष लक्ष्यों अर्थात् राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संरचनाओं, व्यवस्था तथा व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए किसी भी आंदोलन का संगठन साम्प्रदायिक अथवा जातीय आधार पर किया जाता है तो उस आंदोलन की सफलता-असफलता जैसी भी हो—का अनिवार्य परिणाम यही है कि साम्प्रदायिक तथा जातीय वैमनस्य में वृद्धि ही होगी (iii) तीसरा यह कि स्वतन्त्रता के लिए भारतीय राष्ट्र-आंदोलन के नेता अपनी साम्प्रदायिक विचार-धारा, विवादों असहमतियों, पूर्वाग्रहों तथा दुराग्रहों से पूर्णतया मुक्त हो कर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता के आदर्श को सशक्त व्यावहारिक रूप दे पाने में सफल नहीं हो सके भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन के इतिहासकारों में से अधिकांश विद्वान् साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति के दो रूपों में से एक को तो विभाजन के लिए जिम्मेवार ठहराते हुए उसकी आलोचना भी कर लेते हैं; लेकिन दूसरे रूप के बारे में अक्सर मौन ही रह जाते हैं। मुखर और स्पष्ट रूप में साम्प्रदायिकता की अभिव्यक्ति हिन्दु और मुस्लिम राष्ट्रवाद में हुई। यदि हिन्दु राष्ट्रवाद का लक्ष्य भारत में हिन्दु राज्य की स्थापना कर के मुसलमानों को बाहर खदेड़ना था तो यह कार्यक्रम मुसलमानों की ही उस मांग को समर्थित करता था जिसकी अन्तिम परिणति एक अलग देश पाकिस्तान के अस्तित्व में हुई। परन्तु साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के सूक्ष्म तथा जटिल रूप को समझना सुसंस्कृत स्वरूप में अपनी धार्मिक मनोवृत्तियों तथा आग्रहों पर पर्दा डालते दूसरे सम्प्रदायों के समर्थन तथा सहयोग के लिए सुविधानुसार समझौते करने की नीति को और कोई भी नाम दिया जा सकता है परन्तु उसे धर्मनिरपेक्षता का नाम देना अपने ही बनाए सब्जबाग के बहकावे में आना है। याने इससे बढ़ कर आत्मवंचना का और कोई बेहतर मिसाल न होगा। (iv) इन तीन निष्कर्षों के आधार पर चौथा निष्कर्ष भविष्य में सावधानी की नीति अपनाने का सुझाव है। भारत में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को तब तक व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता जब तक राजनैतिक दल तथा अन्य सामाजिक संगठन अपनी गतिविधियों तथा लक्ष्यों को जातीय तथा साम्प्रदायिक हितों की सुविधाजनक राजनीति से सम्पूर्णतया अलग कर के जनसाधारण की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं तथा अपेक्षाओं को स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर नितान्त गैर-साम्प्रदायिक आर्थिक-राजनैतिक शब्दावली में प्रस्तुत करने का संकल्प नहीं कर लेते। यदि हमारा समाज ऐसे व्यवहार के लिए तैयार नहीं होता तो धर्म-निरपेक्षता एक संवैधानिक मिथक के रूप में शायद सुरक्षित न रह सकेगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गाँधीजी के द्वारा प्रमाणित धर्मनिरपेक्षता की देशी व्याख्या की विवेचना हमें भारतीय संविधान में प्रतिपादित धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी नीतियों तथा प्रावधानों की सीमाओं को पहचानने में सहायक रहेगी।' 'सर्वधर्मसमभाव' की धारणा से प्रभावित धर्मनिरपेक्षता की व्याख्याओं में सिर्फ धार्मिक सहनशीलता अथवा सहिष्णुता को अपर्याप्त समझते हुए 'सभी धर्मों के लिए समान आदर' की भावना को सर्वाधिक महत्ता दी जाती है। ऐसे दृष्टिकोण से प्रभावित होने के कारण हमारे संविधान-निर्माताओं ने संविधान में कई ऐसे प्रावधानों का समावेश किया जिनसे धर्मनिरपेक्षता को बल मिलने की अपेक्षा साम्प्रदायिक शक्तियों को अधिक लाभ हुआ है। प्रश्न सिर्फ पाश्चात्य सांस्कृतिक परम्परा से आयातित आदर्श की प्रासंगिकता का ही न हो कर धर्मनिरपेक्षता के भारतीय संस्करण की प्रामाणिकता, सामंजस्यता तथा व्यावहारिकता का भी है।

भारत में कई धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों तथा विभिन्न भाषाओं के लोग रहते हैं। इनमें से मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध, जैन, हिन्दु, ईसाई, पारसी प्रमुख कहे जा सकते हैं। इन सभी सम्प्रदायों अथवा मतों में भी अनेक प्रकार की आन्तरिक विविधता के परिणामस्वरूप इतने विवाद और असहमतियाँ हैं कि इनको अपने आप में सम्पूर्णतया संगठित, अखंड, निर्भेद, धार्मिक इकाईयाँ मानना भ्रामक ही है। यदि मुसलमानों में सुन्नी और शिया, ईसाईयों में सीरियन, कैथोलिक, तथा प्रोटेस्टैण्ट इत्यादि मतों में तीव्र मतभेद है तो हिन्दुओं में भी शैवों, वैष्णवों, सनातनों, आर्यसमाजियों, दुर्गा के उपासकों, तान्त्रिकों तथा अन्य मतानुयाइयों में कई प्रकार के विवाद हैं। आपसी मतभेदों तथा विवादों को स्वीकार करते हुए भी कई हिन्दु, बौद्धों, जैनियों तथा सिक्खों को विशाल हिन्दुत्व के आंतरिक पंथ या समुदाय घोषित करने में ही अपने हिन्दुत्व की महानता समझते हैं। प्रश्न यही उठता है कि यदि इन सभी धर्मों, सम्प्रदायों में इतने आंतरिक तथा पारस्परिक मतभेद और विरोध हैं तो इन सब का हृदय अथवा मर्म एक कैसे हो सकता है? इस विविधता में एकता देखने वालों का कहना है कि ईश्वर, अल्लाह, वाहे गुरू, गौड, ब्रह्म, राम, रहीम, परमात्मा, पिता, माता-नाम कोई भी दिए गए हों-सभी एक ही अलौकिक दैविक शक्ति को सम्बोधित करने के ढंग हैं। निर्गुण परम्पराओं में तो नाम-रूप को भी विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। कई लोगों का तो यह भी विचार है कि बिना किसी अलौकिक अथवा दैविक सत्ता में विश्वास किए, सिर्फ इस विश्व के अस्तित्व, प्रक्रियाओं तथा घटनाओं की मूलभूत रहस्यात्मकता को स्वीकार कर लेना भी धार्मिक मनोवृति के लक्षण हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्राकृतिक विपत्तियाँ, महामारी, भूकम्प, असामयिक मृत्यु, दुर्घटनाएं, निराशा, दुख, पीडा, वैमनस्य, विरह, अनपेक्षित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अलगाव, भ्रामक विश्वास इत्यादि मानव जीवन के शाश्वत अंग हैं। मानवीय अस्तित्व के इस अनिवार्य बेसुरेपन तथा कड़ुवाहट को मानवीय सीमा स्वीकार कर अनुगृहीत तथा संतुष्ट रहने की प्रेरणा सभी धर्मों द्वारा दी जाती है। यही धार्मिक चेतना का सार अथवा मर्म है जो सहिष्णुता, सहयोग, करुणा, विनम्रता तथा अनासक्ति की भावनाओं को प्रोत्साहित करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि धार्मिक चेतना के मूल स्वरूप में व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर मानवीय अक्षमताओं तथा निर्बलताओं की अनुभूति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इस साम्यता के होते हुए भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का स्वतन्त्र अस्तित्व तथा पहचान इस अनुभव की केन्द्रीयता पर आश्रित नहीं है। प्रत्येक धर्म की अपनी विशिष्ट मान्यताएं तथा सिद्धान्त हैं जिन के प्रति असंदिग्ध अखंड आस्था रखना उस धर्म के अनुयायी होने की मूल और प्रभावशाली शर्त है। इन मान्यताओं तथा सिद्धान्तों में विश्व के उद्भव तथा विकास के बारे में विशिष्ट दृष्टिकोण तथा स्थापनाओं के अतिरिक्त मानवीय अस्तित्व के चरित्र, मानवों में पारस्परिक सम्बन्धों के निर्देशक सिद्धान्त, प्रार्थना तथा अन्य अनुष्ठानों की विधियाँ, ज्ञान का स्वरूप, दैवी कृपा सम्बन्धी धारणाएं तथा स्थापनाएं भी समाविष्ट रहती हैं। इन स्थापनाओं, धारणाओं को इतना पावन और पवित्र समझा जाता है कि उन को अस्वीकार करना अथवा उनके बारे में कोई संदेह प्रकट करना नितान्त अशुभ कर्म समझा जाता है। विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में ऐसे अशुभ कर्मों के लिए दण्ड–विधान भी प्रयोजित हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न धर्मों की व्यवस्था में कभी कोई परिवर्तन ही नहीं हुए या हो ही नहीं सकते। धार्मिक परम्पराएं भी परिवर्तनशील हैं; परन्तु संगठित संस्थात्मक स्तर पर स्वीकृत धार्मिक निष्ठाओं तथा व्यवहार के साथ असहमति अथवा उनकी आलोचना धार्मिक दृष्टि से अपधर्मिता ही समझी जाती है। विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों, उनकी व्याख्याओं, प्रार्थना–विधियों तथा कर्मकाण्ड में इतने विरोध हैं कि कई स्थितियों में दूसरे धर्म की स्थापनाओं, मान्यताओं के साथ सहमति ही–उनका आदर करना तो और भी गहरी और दूर की बात है–अपनी धार्मिक निष्ठाओं को त्याग बिना संभव नहीं है। क्या एक यहूदी के लिए ईसा को प्रभु का पुत्र स्वीकार कर पाना संभव है? श्री गुरु ग्रन्थ साहिब को ही दस गुरुओं के बाद गुरु मानने के आदेश के बाद किसी भी सिक्ख के लिए किसी अन्य व्यक्ति या पुस्तक को गुरु स्वीकार कर पाना संभव है? ऐसे और भी कई प्रश्न उठाए जा सकते हैं जिन के उत्तरों से स्पष्ट हो जाएगा कि अमूर्त स्तर पर सभी धर्मों के लिये समान आदर की बात कहना भी उन्हीं लोगों के लिए संभव है जो विशिष्ट धार्मिक परम्पराओं के अन्धभक्त नहीं हैं। परन्तु असंदिग्ध अखंड आस्था तथा अन्धभक्ति में क्या कोई अंतर किया जा सकता है?–इस प्रश्न के उत्तर में यही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहा जा सकता है कि एकधर्मीय समाज में स्वीकृत धारणाओं के साथ असहमति प्रकट करने का साहस करना तथा बाद में कभी विरोधी स्वर बोलने वाले सभी लोग समान रूप से सौभाग्यशाली नहीं होते—प्रारम्भिक समस्याओं, यातनाओं विरोधों को सहन करने के उपरान्त अपने धार्मिक समुदाय में प्रतिष्ठित स्थान भी प्राप्त कर लेने का अर्थ यह नहीं है कि विवेकपूर्ण आलोचना परम्परागत धार्मिक दृष्टिकोण के लिए मान्य अथवा स्वीकार्य है। किसी भी संगठित, संस्थागत धर्म की परम्परा में पले व्यक्ति के लिए अपनी आस्थाओं को विरोधी मान्यताओं का आदर करना तो दूर, आपाततः स्वीकार कर पाना भी असंभव है। विरोधी धार्मिक आस्थाओं के प्रति सहिष्णुता की भावना भी तभी विकसित हो सकती है यदि हम धार्मिक आस्थाओं को सामूहिक अस्मिता के प्रश्न से तोड़ कर उन्हें व्यक्तिगत निष्ठा तथा निजी जीवन के क्षेत्र में सीमित करने में तनिक भी झिझक अनुभव नहीं करते हैं।

सर्वधर्मसमभाव के सिद्धान्त को मानने वालों के लिए धर्मपरिवर्तन का विषय भी कई टेढी समस्याएं प्रस्तुत करता है। यदि सभी लोग सभी धर्मों का समान आदर करते हैं तो क्या बिना दूसरे धर्म को अस्वीकृत तथा अपमानित किए अपने धर्म के पक्ष में दूसरे धर्म के अनुयायियों को धर्मपरिवर्तन के लिए कहा जा सकता है? यदि दूसरे धर्मों के मतावलम्बियों को धर्मपरिवर्तन के लिए सहमत करना अथवा प्रोत्साहित करना दूसरे धर्मों के प्रति समान आदर का सूचक नहीं है तो धर्मप्रचार अथवा प्रसार की गतिविधियों तथा कार्यक्रमों का क्या कोई और अर्थ भी संभव है? सभी धर्मों के प्रति समान आदर करने वाले व्यक्ति के लिए क्या धर्मपरिवर्तन का कोई अर्थ या महत्त्व भी हो सकता है? धर्म के हृदय अथवा मर्म को पहचान लेने वाले व्यक्ति के लिए यदि सभी धर्मों के प्रति सम्यक् भाव है तो उसके लिए यह एक नैमित्तिक मात्र बात है कि उसके पूर्वज तथा अन्य सम्बन्धी किस मत को प्राथमिकता देते थे और किस सम्प्रदाय की आस्थाओं के साथ उसका परिचय पहले हुआ था। धार्मिक स्वभाव के व्यक्तियों के लिए सर्वधर्मसमभाव का लक्ष्य व्यक्तिगत स्तर पर आकर्षक आदर्श तो हो सकता है, परन्तु एक बहुधर्मीय समाज में सामाजिक नीतियों के निर्धारण के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। इस दृष्टिकोण की एक महत्त्वपूर्ण सीमा (अथवा त्रुटि ?) यह भी है कि अप्रत्यक्ष तथा अव्यक्त स्तर पर 'सभी धर्मों के लिए समान आदर' का सिद्धान्त धर्म की प्रभुसत्ता को चुनौती देने से बचता है। धार्मिक दृष्टिकोण के समर्थकों का तर्क है कि पश्चिमी सभ्यता में विकसित धर्मविरोधी वैज्ञानिक जीवनदर्शन में अन्तर्निहित मानवीय अहंकार तथा दम्भ की अनावृति के बाद जिस प्रकार का मोहभंग समकालीन पश्चिमी संस्कृति में स्पष्ट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

झलक रहा है उससे विज्ञान की सीमा तथा धर्म की उत्कृष्टता के बारे में कोई संदेह नहीं रहा है। इस प्रकार की स्थापनाओं तथा दावों से संस्थागत पारम्परिक धर्मों की मान्यताओं, सिद्धान्तों तथा कर्मकाण्ड की वैधता–अवैधता, औचित्य–अनौचित्य सम्बन्धी विवादों, असहमतियों में परम्परागत दृष्टिकोण को किसी भी प्रकार का वैचारिक लाभ नहीं होता, तात्कालिक संतोष भले ही मिलता हो।

वास्तविक स्थिति तो यही है कि सभी परम्परागत धर्मों तथा उनके निष्ठावान् मतावलम्बियों के लिए धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को स्वीकार कर पाना अत्यन्त कठिन है – विशेषकर बहुधर्मीय समाजों में। परम्परागत सामाजिक जीवन में धर्मगुरुओं तथा धर्मग्रन्थों से प्राप्त निर्देशों के अनुसार अपने जीवन को नियोजित कर लेना अधिक सुविधाजनक है, क्योंकि इसमें चयन और निर्णय की समस्याएं कभी भी नितान्त व्यक्तिगत स्वरूप नहीं ले सकतीं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपना आकर्षण तो हो सकता है, परन्तु उस के साथ जुड़े हुए व्यक्तिगत दायित्व का बोझ हमें असहनीय भी लगता है। इसलिए दायित्व के बोझ के तले कुचले जाने की अपेक्षा यह अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है कि परम्परा से उपलब्ध पावन और पवित्र सिद्धान्तों, आदेशों पर बिना कोई संदेह किए उन का पालन करते जाओ। परम्परागत समाजों में धार्मिक–निष्ठाओं की जकड़ इतनी मजबूत होती है कि अधिकांश व्यक्तिगत स्थितियों में भी स्वतन्त्र चयन की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। सारा जीवन पूर्वनिश्चित स्थापनाओं, मान्यताओं द्वारा इस प्रकार व्यवस्थित रहता है कि अनपेक्षित स्थितियों में भी स्वयं निर्णय लेने की अपेक्षा सयानों की राय लेना अधिक उचित प्रतीत होता है। और यदि किसी दूसरें सम्प्रदाय के लोगों की आस्थाएं तथा व्यवहार अपनी भिन्नता के कारण आकर्षक भी प्रतीत होते हैं तो लोकापवाद, निन्दा तथा बहिष्कृत किए जाने के भय से अपनी परम्परागत निष्ठाओं का पालन करना ही अधिक सुरक्षित प्रतीत होता है। बहुत विरले और असाधारण लोग ही बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रहों अथवा स्वार्थों के दूसरी व्यवहार–परम्परा से खुले मन से सीखने के लिए तैयार होते हैं। आधुनिक संचार–साधनों तथा आवागमन की सुविधाओं के कारण संकीर्णता तथा कट्टरता में जो कमी आई भी है उसके पीछे धार्मिकता नहीं, बल्कि आधुनिक उदारवादी दृष्टिकोण का प्रभाव ही प्रतिबिम्बित होता है। व्यक्तिगत स्तर पर धर्मनिरपेक्षता के मार्ग में जो बाधाएं आती हैं उनका एक मुख्य आधार संस्थात्मक–संरचनात्मक भी है। सामूहिक स्तर पर भी यह धर्माधिकारियों, धर्मगुरुओं तथा यथास्थिति से लाभान्वित वर्ग के हित में कदापि नहीं हो सकता कि जनसाधारण परम्परागत नियन्त्रणों तथा प्रभावों से मुक्त हो कर अपनी समस्याओं को अपने व्यक्तिगत निजी मामले समझते हुए अपने लिए निर्णय स्वयं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेने लगें। धर्मनिरपेक्षता के विवेकशील आदर्श की व्यावहारिक सिद्धि का अनिवार्य परिणाम सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में धार्मिक नियन्त्रणों तथा धार्मिक प्रभाव की समाप्ति है। ऐसा होने पर धर्मगुरुओं, धर्माधिकारियों तथा साम्प्रदायिक नेताओं की महत्ता, सत्ता और वैभव में क्षीणता आने तथा निहित स्वार्थों की पूर्ति न हो पाने की आशंका निराधार नहीं है। संभवतया धर्मनिरपेक्षता के मूल आदर्श की अपेक्षा इस के विचित्र भारतीय संस्करण को सहज स्वीकृति और मुखर समर्थन उन तत्त्वों तथा शक्तियों से ही प्राप्त हुए हैं जिनसे धर्म-निरपेक्षता का सर्वाधिक विरोध अपेक्षित था।

हमारे संविधान निर्माताओं ने धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की स्वीकृति तथा समर्थन के लिए भारतीय समाज के सभी वर्गों की सहमति प्राप्त करने का प्रयास किया। साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद के दबाव में आ कर देश का विभाजन स्वीकार कर लेने के बाद शेष भारत के और खंडित तथा विभाजित होने की आशंका-जनक परिस्थितियों ने संविधान निर्माताओं के लिए कई प्रकार के समझौते के लिए भी विवश किया होगा। यह भी एक परिस्थितिजन्य विवशता ही थी कि बहुसंख्यकों की धर्मनिरपेक्षता सिद्ध करने के लिए अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों को किसी न किसी प्रकार पूर्णतया संतुष्ट रखा जाए। लेकिन ऐसा तभी संभव था यदि बहुसंख्यकों भी कुछ रियायतें दी जाएं। इसलिए संविधान-निर्माताओं ने एक नहीं बल्कि कई प्रकार के समझौते किए। देश के सभी नागरिकों के लिए एक-समान नियम व्यवस्था का निर्धारण करने की अपेक्षा विभिन्न सम्प्रदायों के मतावलम्बियों के लिए अलग अलग प्रकार की कानून-संहिताएं की गई। यह भी नहीं किया गया कि जो नागरिक अपनी परम्परागत धार्मिक संहिताओं से मुक्ति चाहते हैं कम-से-कम उनके लिए तो धर्मनिरपेक्ष समान नियम व्यवस्था उपलब्ध की जाए। धार्मिक निष्ठा की स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ ही साथ धार्मिक प्रचार तथा प्रसार के अधिकार की भी व्यवस्था की गई। यदि कानून-संहिता में नागरिकों की धार्मिक निष्ठाओं की महत्ता को स्वीकार करते हुए धर्मनिरपेक्षता के आदर्श में असंगत तत्त्वों को जोड़ा गया तो राज्य को आवश्यकता-नुसार प्रचलित धार्मिक निष्ठाओं तथा संस्थाओं को नियन्त्रित करने के लिए कानून बनाने की शक्ति भी प्रदान की गई। इस प्रकार राज्य और धर्म को एक दूसरे के क्षेत्रों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त को लगलग तिलांजलि ही दे दी गई। एक अन्य समझौते के अन्तर्गत सभी अल्पसंख्यकों को अपने धार्मिक हितों की रक्षा तथा प्रचार हेतु शिक्षा संस्थाओं के संचालन तथा प्रबन्ध करने का विशेषाधिकार भी दिया गया। तथाकथित बहुसंख्यक सम्प्रदाय के उपसम्प्रदायों ने भी इस व्यवस्था का अपनी सुविधानुसार प्रयोग किया है। परिणाम यही निकला कि कई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिक्षा–संस्थाओं में धर्म–प्रचार के नाम पर धार्मिक हठधर्मिता तथा साम्प्रदायिक वैमनस्य को ही प्रोत्साहित किया जा रहा है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक विषमताओं से उत्पन्न हुई टकराहट को साम्प्रदायिक रंग दे कर साम्प्रदायिक विरोध, प्रतिद्वंद्विता, प्रतियोगिता तथा शत्रुता की भावना को प्रोत्साहित करने में धार्मिक प्रचार की स्वतन्त्रता के अधिकार का दुरुपयोग हो रहा है। यद्यपि प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को अपनी धार्मिक निष्ठाओं तथा रीति–रिवाजों को बनाए रखने का अधिकार है परन्तु धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि इस उद्देश्य के लिए धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा चलाई गई शिक्षा संस्थानों का भार अपने सिर पर उठा कर उन्हें अन्धविश्वास, असहिष्णुता, हठधर्मिता, संकीर्णता इत्यादि को प्रोत्साहित करने में सरकार सहायता दे। साधारण नागरिकों में यह आशंका कभी भी जगाई जा सकती है कि उनकी परम्पराएं, निष्ठा तथा धार्मिक अस्मिता संकट में है। धार्मिक प्रचार के माध्यम से ऐसी भावना जगाना कठिन नहीं – विशेषतया नई पीढी के आरम्भिक वर्षों में, जब वह किसी भी प्रकार के प्रभावों के लिए बडी तत्परता से प्रस्तुत होती है। यह विचारणीय प्रश्न है क्या नन्हे कोमल हृदयों में किसी को भी साम्प्रदायिक दुराग्रह आरोपित करने का अधिकार है? विद्यार्थियों को पढ़ाई जाने वाली पाठ्य पुस्तकों में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को महत्ता देने का सिर्फ यही प्रयास किया गया है कि भारतीय संविधान में प्रदान किए गए अधिकारों को बार बार दुहरा दिया जाता है। ऐसा करते समय भी धर्मनिरपेक्षता के आदर्शों तथा परम्परागत धर्मनिष्ठता में संगति बिठाने की समस्याओं की ओर ध्यान दिलाने का कोई प्रयास नहीं किया जाता।

भारतीय जन-जीवन में धर्मनिरपेक्षता की भावना के विकसित न हो पाने का एक कारण धर्मनिरपेक्षता के नाम पर "सब धर्मों के लिए समान आदर की भावना" को अधिक महत्त्व देना है। इसके परिणामस्वरूप प्रचलित अन्धविश्वासों, विषमताओं, अन्याय, प्रतिबन्धों, कुरीतियों की आलोचना भी नहीं हो पाती, क्यों कि ऐसी आलोचना पर धर्मविरोधी होने का आरोप लगाया जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति भी धार्मिक कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाने से हिचकिचाते हैं। हमारी धर्मनिरपेक्षता की वास्तविकता का अनुमान तो इस आवश्यकता से लगाया जा सकता है कि हिन्दु साम्प्रदायिकता की आलोचना के लिए हिन्दुओं, मुस्लिम साम्प्रदायिकता की आलोचना के लिए मुसलमानों तथा सिक्ख साम्प्रदायिकता की आलोलना के लिए सिक्खों को ढूंढना पड़ता है, क्यों कि दूसरे धर्म या मत के द्वारा उठाए गए विषयों या मांगों की आलोचना या विरोध करने पर ऐसे आलोलक पर ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्प्रदायवादी होने का आरोप लग जाने की आशंका बनी रहती है। यह सही है कि किसी भी धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह किसी की भी धार्मिक भावनाओं को चोट नहीं पहुँचाए। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि इस दायित्व की पूर्ति के नाम पर सभी प्रकार की कुरीतियों, प्रतिबन्धों, अन्याय, विषमताओं, दमन इत्यादि को न स्वीकृति दे दी जाए। विवेकपूर्ण आलोचना को धर्म के प्रति अनादर नहीं समझना चाहिए। धर्म के आदर के तथा कथित सिद्धान्त के पीछे मुंह छिपा कर विवेचना, आलोचना पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ धर्मनिरपेक्षता को ही नहीं लोकतन्त्र को भी कमजोर करता है, क्योंकि लोकतन्त्र का मूल आधार सम्वाद की समान जमीन पर सबके खड़े होने का अधिकार है। इस सम्वाद के अभाव में ही हिन्दु धर्मान्धता, मुस्लिम असुरक्षा तथा सिक्ख युयुत्सा को बल मिला है। 'सर्वधर्मसमभाव' के आदर्श ने हमारे नागरिक जीवन में साम्प्रदायिक तथा जातीय अस्मिता की पहचान और बोध को अप्रासंगिक अथवा महत्त्वहीन करने की अपेक्षा केन्द्रीय बना दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे अधिकांश नेताओं तथा शिक्षित मध्यम वर्ग की ओढ़ी हुई धर्मनिरपेक्षता सतही, औपचारिक तथा शाब्दिक ही है। सामाजिक जीवन के विभिन्न अवसरों पर एक दूसरे को "ईद मुबारक," "हॅप्पी क्रिसमस," "गुरु पर्व दी लक्ख बधाई होवे" और "शुभ दीपावली" कहना याद रखने के अतिरिक्त इस का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि सामाजिक जीवन को विवेक की कसौटी पर कसने से इस तथाकथित धर्मनिरपेक्षता का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी सम्बन्ध के अभाव में हमारे राजनैतिक दलों के नेता, मन्त्री, प्रशासक अपने निहित स्वार्थों तथा राजनैतिक हितों की पूर्ति के लिए विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों के हितों की सुरक्षा का दम भरते हुए उनके धार्मिक अनुष्ठानों, त्योहारों तथा समारोहों में उपस्थित हो कर अपनी धर्मनिरपेक्षता का प्रदर्शन भी कर लेते हैं और साम्प्रदायिकता को बल भी प्रदान कर देते हैं। भारतीय राजनैतिक दलों के लिए धर्मनिरपेक्षता एक सुविधाजनक आकर्षक नारे से अधिक महत्त्व नहीं रखती। यद्यपि अधिकांश राजनैतिक दल धर्मनिरपेक्षता का ढिंढोरा पीटने और साम्प्रदायिकता का खाल उतारने में एक दूसरे से होड़ लगाते दीखते हैं—विधान सभाओं तथा सांसदीय चुनावों के समय पर अपने दलों के प्रत्याशी खड़े करते समय, दूसरे दलों के साथ गठबन्धन की नीति निर्धारित करने, प्रतिव्दन्व्दी दलों तथा प्रत्याशियों के विरुद्ध किए जाने वाले प्रचार में जनता का ध्यान वास्तविक समस्याओं से हटाने के लिए साम्प्रदायिक संगठनों तथा नेताओं की सहायता लेने तथा साम्प्रदायिक प्रचार करने से कभी नहीं हिचकिचाते। ऐसी जटिल स्थिति में यही कहा जा सकता है कि जब तक इस सारे आडम्बर को अनावृत्त करते हुए धर्मनिरपेक्ष सामाजिक जीवन की निम्न शर्तों को पूरा नहीं किया जाता तब तक भार-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तीय राजनीति से साम्प्रदायिकता के संकीर्ण दृष्टिकोण से उठने वाली समस्याओं से मुक्ति मिलना असंभव ही है।

(१) नियमानुसार शासन के सिद्धान्त को सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का वास्तविक निर्देशक सिद्धान्त होने के लिए देश के सभी नागरिकों के लिए एक समान-कानून व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्यों को दी गई विविध सुविधाएं समाप्त होनी चाहिए। सभी के लिए समान कानून व्यवस्था विभिन्न सम्प्रदायों को संतुष्ट रखने के लिए साम्प्रदायिक समझौतों पर आधारित न हो कर सभी नागरिकों की समानता तथा स्वतन्त्रता का आदर करते हुए सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को समर्पित होनी चाहिए।

(२) शिक्षा संस्थाओं को साम्प्रदायिक प्रभावों से मुक्त करने के लिए उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में ला कर किसी भी ऐसी प्रबन्धक व्यवस्था के नियन्त्रण में न रहने दिया जाए जिसका मूल चरित्र साम्प्रदायिक है। ध्यातव्य है कि सार्वजनिक क्षेत्र में लाने का अर्थ सिर्फ सरकारीकरण न हो कर पूरे समाज के सामूहिक लोकतान्त्रिक नियन्त्रण की व्यवस्था करना है।

(३) धार्मिक प्रचार के अधिकार को समाप्त किया जाए। किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय के सदस्यों को व्यक्तिगत तथा सामुदायिक स्तर पर अपनी धार्मिक निष्ठाओं में विश्वास रखने तथा उनका पालन करने का अधिकार उनकी आस्था की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए पर्याप्त है। इस अधिकार का उपयोग करते समय किसी भी व्यक्ति या समुदाय को अन्य नागरिकों के लिए किसी भी प्रकार की असुविधा खडी करने का कोई अधिकार नहीं है।

(४) सामाजिक जीवन की धर्मनिरपेक्ष समस्याओं को साम्प्रदायिक रंग में प्रस्तुत करने वालों के लिए कडे प्रतिबन्धों की व्यवस्था की जाए; तथा इस प्रकार की व्यवस्था का सार्वत्रिक अनुशासन रहे।

(५) साम्प्रदायिक त्योहारों पर दी जाने वाली सार्वजनिक छुट्टियों को समाप्त किया जाए। प्रत्येक सम्प्रदाय के सदस्यों को अपने अपने परम्परागत उत्सवों में भाग लेने के लिए वर्षभर में पांच आकस्मिक छुट्टियों का प्रावधान किया जाए, जिनका वह अपनी इच्छानुसार उपयोग कर सके। ध्यातव्य है कि इसका अर्थ यह है कि केवल स्वतन्त्रता दिवस और गणतन्त्र दिवस ही दो राष्ट्रीय छुट्टियां बनती हैं।

(६) चुनावों में साम्प्रदायिक तथा जातीय आधार पर प्रचार करने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाते हुए उल्लंघन करने वालों के लिए कडी दण्ड की व्यवस्था की जाए। ऐसे दलों, संगठनों तथा व्यक्तियों को निर्वाचन प्रक्रिया से ही निष्कासित करते हुए चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित कर दिया जाए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपरोक्त सुझावों के बारे में इनके अव्यावहारिक होने, पुरानी परम्पराओं को नष्ट करने, देश की वास्तविक स्थितियों को न समझने, जन साधारण द्वारा समर्थित न किए जाने, मानसिकता में परिवर्तन की अपेक्षा नियमों पर अधिक बल देने इत्यादि की कई त्रुटियाँ हो सकती हैं। इन त्रुटियो के बारे में यही कहा जा सकता हैं कि यदि जनसाधारण को लोकतान्त्रिक माध्यम से जागृत करते हुए इनके रचनात्मक पक्ष को प्रस्तुत किया जाए तो इन सुझावों को व्यावहारिक रूप देना असंभव नहीं है। प्रश्न यही है कि क्या हम यथास्थिति को बनाए रखने के पक्ष में हैं या परिवर्तन लाने के लिए अपने दायित्व को पूरा करने के लिए प्रस्तुत धर्मनिरपेक्षता भी, अन्य मानसिकताओं की भांति, सिर्फ शब्दों में ही नहीं बल्कि अन्ततः व्यवहार में ही अभिव्यक्त होती है और होनी भी चाहिये इस पक्ष में। उपरोक्त शर्तें धर्मनिरपेक्षता की सामाजिक स्तर पर व्यावहारिक अभिव्यक्ति के साथ अभिन्न रूप से सम्बन्धित हैं। ■

दर्शन विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय
चंदीगढ़ – १६००१४.

– सत्यपाल गौतम

टिप्पणी

■ डॉ. सत्यपाल गौतम के लेख पर साक्षेपी तथा विवेकपूर्ण प्रतिक्रियाओं का स्वागत होगा।

– संपादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१६)
विषयता (ii)

विषयता के अनेक प्रकार होते हैं। जैसे, प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता आदि। प्रकारता और विशेष्यता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। याने, प्रकारता से निरूपित जैसे विशेष्यता होती है, उसी प्रकार विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है। किसी सविकल्पक ज्ञान की दो विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय-मतानुसार किसी भी सविकल्पक ज्ञान में प्रकारता और विशेष्यता भासित होनी ही चाहिये, नहीं तो वह ज्ञान सविकल्पक हो ही नहीं सकता।) जैसे, 'यह पुस्तक है' इस ज्ञान की एक विषयता जो पुस्तकत्व इस धर्म में है वह प्रकारता-रूप है, तथा जो विषयता पुस्तक में है वह विशेष्यतारूप है। इसलिये पुस्तक में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित पुस्तकत्व में रहने वाली प्रकारता वाला ज्ञान, या; पुस्तकत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित पुस्तक में रहने वाली विषयता वाला ज्ञान ऐसा कहने पर एक ही प्रकार के '(यह) पुस्तक है' इस ज्ञान का बोध होता है।

इसके विरुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान की जो विषयता होती है वह प्रकारता और विशेष्यता से भिन्न तरह की होती है। वह किसी अन्य विषयता से निरूपित नहीं होती। (संभवतः इसी बात को बौद्ध नैयायिकों ने यह कह कर प्रस्तुत करना चाहा कि निर्विकल्पक ज्ञान का विषय हमेशा स्वलक्षण हुआ करता है। क्योंकि किसी भी निर्विकल्पक ज्ञान में न प्रकारता का बोध होता है, न ही विशेष्यता का। तथापि उक्त प्रकार के ज्ञान में बोध ही नहीं होता है ऐसा कहना अनुभव के विरुद्ध होगा। अस्तु। प्रस्तुत प्रकरण में इस मुद्दे की अधिक चर्चा करना अप्रस्तुत है।) निर्विकल्पक ज्ञान प्रकार एवं विशेष्य से रहित होता है।[1]

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ११, अंक ४, सितम्बर, १९९०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशेषण को ही प्रकार कहते हैं। इसलिये प्रकारता यह विशेषणता नामक विषयता का ही एक प्रकार कहा गया है। निर्विकल्पक ज्ञान की विषयता उसी ज्ञान से निरूपित होती है। (इस सन्दर्भ में बौद्ध नैयायिकों के द्वारा प्रयुक्त 'स्व-लक्षण' यह पारिभाषिक शब्दप्रयोग कितना सार्थक है इसको ओर ध्यान देना संभवत: उपयुक्त होगा।) विषयता के बारे में यह पहले ही कहा जा चुका है कि विषयता ज्ञान, इच्छा, कृति इत्यादि पदार्थों में से किसी न किसी से अवश्य निरूपित होती है।

विषय में विषयता स्वरूप-सम्बन्ध (दैशिक विशेषणता) से रहती है। 'अमुक विषय है' इस व्यवहार का नियामक सम्बन्ध दैशिक विशेषणता सम्बन्ध ही माना जाता है।

एक ही ज्ञान के ही विषय में अनेक विषयताएँ होती हैं। 'जैसे, 'बन्दूक-धारी सवार से युक्त अश्व है' इस ज्ञान में प्रकार होने वाले सवार में जिस प्रकार प्रकारता नामक विषयता है, उसी प्रकार बन्दूक-धारी सवार में बन्दूक विशेषण के रूप में प्रतीत होने से सवार में विशेष्यता नामक विषयता भी है। अत: एक ही वस्तु में प्रकारता भी है और विशेष्यता भी है। इस प्रकार एक ही विषय में भासित होने वाली प्रकारता और विशेष्यताओं में क्या सम्बन्ध है इसके विषय में नैयायिकों में मतभेद है। इसी तरह के मतभेद से प्रस्तुत होने वाले कुछ बिन्दुओं की चर्चा इस लेख में आगे उपस्थित कर रहे हैं।

जगदीश तर्कालङ्कार[२] आदि कुछ नैयायिक एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता के बीच अभेद सम्बन्ध मानते हैं। उनके मतमें समानाधिकरण (एक ही स्थान में रहने वाली) विषयाताओं में एकरूपता होती है। उन्हें भिन्न-भिन्न मानने में गौरव है, तथा उन्हें एक मानने में ही लाघव है, और लाघव गौरव की अपेक्षा वरीय है।

गदाधर भट्टाचार्य[३] के मत में एक वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव सम्बन्ध है। 'दण्डिमान् अश्व:' इस ज्ञान में भासित होने वाली दण्ड में रहने वाली विशेष्यता से निरूपिता प्रकारता से अवच्छिन्न (नियमित) होती है। एक ही वस्तु में रहने वाली दो विषयताओं में अवच्छेदकावच्छेद्यभाव मानने वालों का मन्तव्य यह है कि उक्त दोनों विषताओं में अभेद स्वीकार करने पर 'रक्तदण्डवान्' बुद्धि (ज्ञान) की 'दण्डाभाववद्रक्तरूपम्' यह बुद्धि प्रतिबन्धक हो जायगी, क्योंकि 'रक्तदण्डवान्' यह बुद्धि भी दण्ड-प्रकारता से निरूपित रक्त-रूप विशेष्यता वाली है। इसका कारण यह है कि एक वस्तु में भासित होने वाली प्रकारता और विशेष्यता में अभेद है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है –

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

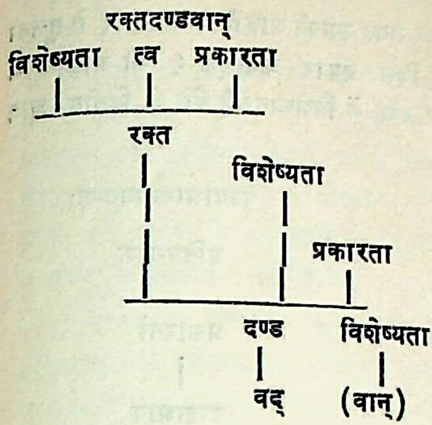

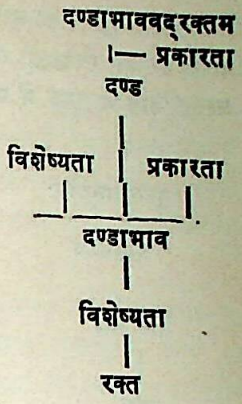

'रक्तदण्डवान्' इस ज्ञान में भासित होने वाली रक्त में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता एक ही है। इस ज्ञान के प्रतिबन्धक 'दण्डाभावद्रक्तम्' इस में रहने वाली विशेष्यता है और प्रतिबध्य ज्ञान में रक्त में प्रकारता है और विशेष्यता भी है। तथापि ये दोनों एक ही हैं और इसलिये उक्त ज्ञान समान प्रकारता वाला होने से उनमें प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव होना चाहिये। परन्तु उनमें इस प्रकार का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव नहीं है यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। अतः एक ही वस्तु में रहने वाली दो विषयताओं मे अभेद मानना समीचिन नहीं है। इस प्रकार की कठिनाई को दूर करने के लिये ऐसे स्थान पर गदाधर दो पदार्थों में भासित होने वाली प्रकारता और विशेष्यता रूप विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव स्वीकार करते हैं। इस तरह अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव स्वीकार करने पर दण्ड में रहने वाली प्रकारता विशेष्यता-रूप न होने से 'दण्डाभाववद्रक्तम्' इस ज्ञान से प्रतिबद्ध नहीं होगी।

' इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध से 'पुरुषाभाववान् दण्ड है' इस बुद्धि के लिये संयोग सम्बन्ध से दण्डवान् पुरुष है यह निश्चय जैसे प्रतिबन्धक होता है वैसे ही 'रक्तदण्डवान् अयं' यह निश्चय भी प्रतिबन्धक होना चाहिये, क्योंकि इसमें भी संयोग सम्बन्ध से नियमित पुरुष में रहने वाली प्रकारता से निरूपित दण्ड में विशेष्यता है। पुरुष में रहने वाली दण्ड-प्रकारता से निरूपित विशेष्यता और देश में रहने वाली विशेण्यता से निरूपित प्रकारता दोनों एक ही हैं। अतः उनमें समान प्रकारता होने से 'पुरुषवान् दण्डः' इस ज्ञान की तरह ही 'रक्तदण्डवत्पुरुषवान् देशः' यह ज्ञान भी प्रतिबन्धक होना चाहिये।

(आकृति १ तथा आकृति २ पृष्ठ २७२ पर देखिए)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रमाङ्क २ की आकृति देखने पर तथा उसकी आकृति क्रमाङ्क १ से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार क्रमाङ्क १ की आकृति में प्रस्तुत ज्ञान में पुरुष में प्रकारता और दण्ड में विशेष्यता है वैसे ही द्वितीय ज्ञान

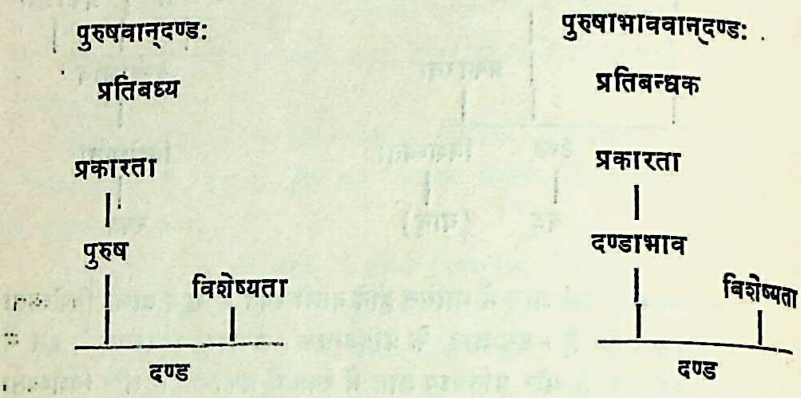

आकृति १

रक्तदण्डवत्पुरुषवान्देशः

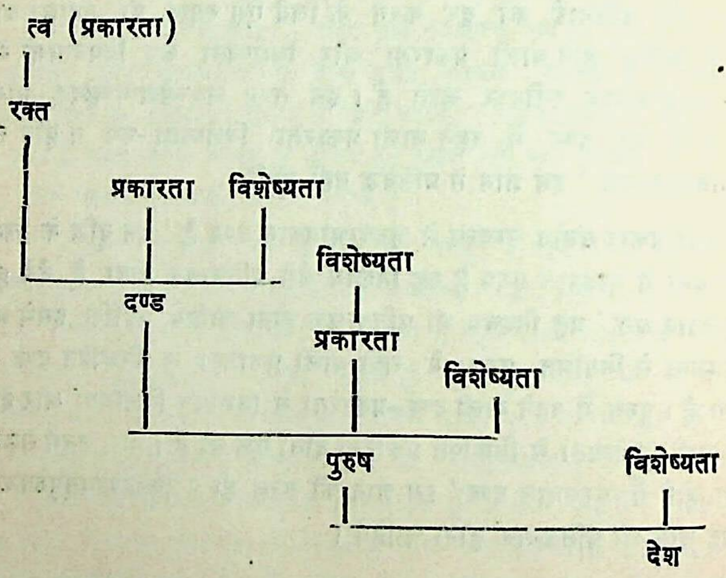

आकृति २

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में भी पुरुष में प्रकारता और दण्ड में प्रकारता और विशेष्यता दोनों भी हैं, तथा एक ही स्थान में वे दोनों होने से अभेदवादियों के मत में उनमें अभेद है। इसलिये दोनों ही ज्ञान समान प्रकारता वाले होने से दोनों भी उक्त प्रतिवध्य ज्ञान के प्रतिबन्धक होने चाहिये, जो कि अनुभव के विरुद्ध है। अतः एकत्र विद्यमान प्रकारता और विशेष्यताओं में अभेद मानना उचित नहीं है। अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव स्वीकार करने पर दोनों ज्ञानों में भेद स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि द्वितीय ज्ञान में प्रकारता से अवच्छिन्न विशेष्यता है, जबकि प्रथम ज्ञान में विशेष्यता प्रकारता से अवच्छिन्न नहीं है।

लेकिन इस विषय में एक वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अभेद मानने वालों का कथन है कि यद्यपि 'पुरुषवान् दण्ड' इस ज्ञान में भासित होने वाली पुरुष में रहने वाली प्रकारता और दण्ड में रहने वाली विशेष्यता के समान ही 'रक्तदण्डवत्पुरुषवान् देशः' इस ज्ञान में भी पुरुष में प्रकारता और दण्ड में विशेष्यता मालूम होती है, तथा उसमें इसके अलावा पुरुष में प्रतीत होने वाली विशेष्यता और दण्ड में प्रतीत होने वाली प्रकारताओं में अभेद होने से उक्त ज्ञान भी प्रतिबन्धक होना चाहिये। परन्तु जब 'पुरुषवान् दण्डः' यह ज्ञान प्रतिबध्य होता है तो वह दण्ड में रहने वाली विशेष्यता के धर्म (विशेष्यतात्व) से युक्त, पुरुष में रहने वाली प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से नियमित (प्रकारता) से निरूपित, दण्ड में रहने वाली विशेष्यता वाले ज्ञान के रूप में प्रतिबध्य होता है। 'रक्तदण्डवत् पुरुषवान् देशः' इस ज्ञान में भासित होने वाली दण्ड में रहने वाली विशेष्यता, पुरुष में रहने वाली प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से अवच्छिन्न प्रकारता से निरूपित नहीं है। दण्ड में रहने वाली विशेष्यता, रक्तनिष्ठ प्रकारतात्व से नियमित प्रकारता से निरूपित है। इसका तात्पर्य यह है कि दण्ड में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता एक होने पर भी उनमें होने वाली निरूप्य-निरूपक-भाव भिन्न है। क्रमांक १ की आकृति में प्रस्तुत ज्ञान में भासित होने वाली पुरुष में रहने वाली प्रकारता में रहने वाली निरूपकता पुरुष-प्रकारतात्व से अवच्छिन्न है और उस प्रकारता से निरूपित विशेष्यता क्रमांक २ की आकृति में प्रस्तुत ज्ञान में नहीं है। इस ज्ञान में भासित होने वाली दण्ड में रहने वाली विशेष्यता पुरुष में रहने वाले प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से नियमित प्रकारता से निरूपित नहीं है। यहाँ 'दण्ड' में रहनेवाली विशेष्यता 'रक्त' में रहने वाली प्रकारता के धर्म प्रकारतात्व से नियमित प्रकारता से निरूपित है। अतः उक्त ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता है।

उक्त रूप से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव स्वीकार करने में गौरव दोष होता है।[४] इसलिये पदार्थ में प्रतीत होने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव मानना ही उचित है। इसी मत को उत्तरवर्ती नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है।

विषयता विषय के भेद से भिन्न-भिन्न होती है। जैसे-'घटपटौ'- घट और पट-इस ज्ञान के विषय दो हैं, घट और पट (वस्त्र)। यदि उन दोनों में एक ही विषयता मानेंगे तो यह ज्ञान भ्रम हो जायगा। 'घटपटौ' यह समूह-विषय वाला ज्ञान भ्रम नहीं है। परन्तु दोनों वस्तुओं में एक ही विषयता मानने पर यह ज्ञान 'घट' में न रहने वाले धर्म पटत्व से नियमित घट में रहने वाली विषयता वाला होने से शुक्ति में रजत के ज्ञान के समान ही होगा। यदि घट, पट, पुस्तक आदि एक-एक अलग विषय वाले ज्ञान की एक-एक विषय में रहने वाली विषयता से समूह विषयक ज्ञान की विषयता भिन्न प्रकार की होती है ऐसा माना जाय तो गौरव दोष होता है।[५] एक-एक विषय के ज्ञान की एक-एक विषय में रहने वाली विषयता से भिन्न प्रकार की समूह विषयक (घटपटौ) ज्ञान की विषयता समूह में होती है। यह एक भिन्न कल्पना होने से कल्पना-मूलक गौरव दोष होता है। अतः एक-एक ज्ञान की एक-एक विषय में रहने वाली विषयता के समान ही समूहालम्बन ज्ञान की भी विषयता एक-एक में भिन्न-भिन्न मानना ही उचित है। गदाधर ज्ञान के भेद से विषयताओं में भेद नहीं मानते। समूहालम्बन-ज्ञान में भी पूर्व-स्वीकृत प्रत्येक ज्ञान की विषयताएं ही होती हैं। भिन्न विषयताओं की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

कुछ नैयायिक 'घट है' या 'घटः' इस घटत्व से युक्त घट के ज्ञान में घट इस विशेष्य तथा घटत्व इस विशेषण में प्रतीत होने वाली एक ही प्रकार की विषयता मानते हैं। वे विशेष्य में अलग और विशेषण में अलग विषयता नहीं मानते। उनके मत की गदाधर ने आलोचना की है। गदाधर का कथन है कि विशेष्य में रहने वाली विषयता और विशेषण में रहने वाली विषयता को एक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विशेषण और विशेष्य में रहने वाली विषयता को एक मानने पर 'घटः' इस ज्ञान को घटत्व विशेष्य और घट-प्रकार-वाला मानना पडेगा,[६] जो कि अनुभव के विरुद्ध है। 'घटः' यह ज्ञान घटत्व प्रकार तथा घट विशेष्य-वाला ही माना जाता है।

कुछ नैयायिक[७] एक वस्तु में रहने वाली एक ज्ञान की प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध मानते हैं। जैसे, 'नीलघटवद् भूतलम्' इस ज्ञान में विषय होने वाले घट में दो प्रकार की विशेषताएँ प्रतीत होती हैं। यहाँ भूतल का घट विशेषण होने से उसमें (घट में) प्रकारता या विशेषणता है और घट का नील विशेषण होने से नील में रहने वाली प्रकारता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से निरूपित विशेष्यता है। इस प्रकार घट में जो दो विशेषताएँ प्रकारता और विशेष्यता के रूप में प्रतीत होती हैं इनमें परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है-प्रकारता से निरूपित विशेष्यता और विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है। इस मत में उनमें अभेद नहीं है।

जिस प्रकार विषय की भिन्नता के कारण विषयता भिन्न होती है, उसी प्रकार ज्ञान के भेद से भी विषयता भिन्न-भिन्न होती है ऐसा भी कुछ नैयायिक मानते हैं।[८] परन्तु गदाधर ज्ञान के भेद से विषयता में भेद नहीं मानते। उनके मत में समानाकारक ज्ञानीय विषयताओं में ऐक्य होता है। समान आकार वाले अनेक ज्ञानों की विषयताएँ भिन्न-भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[९] अतः अनेक ज्ञानों का यदि एक ही आकार है तो उन सब ज्ञानों की विषयता एक ही होगी, जबकि अन्य नैयायिक[१०] समान आकार वाले ज्ञान की विषयताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव मानते हैं। जैसे, 'संयोगेन अभावो नास्ति' यहाँ अभाव पद से जैसे उपस्थिति (ज्ञान) होती है वैसे नास्ति पद से भी होती है। अतः 'नास्ति' पद से प्रतीत होने वाली उपस्थिति (ज्ञान) और अभाव पद से होने वाली अभाव की उपस्थिति समान आकार (विषय) वाली होने से, उन दोनों विषयताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।

विषयता आदि पदार्थ कभी धर्म रूप से तो कभी सम्बन्ध रूप से प्रतीत होते हैं। जब वे सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होते हैं तो उनमें रहने वाली संसर्गता का नियामक सम्बन्ध विशेषणता (स्वरूप) सम्बन्ध ही होता है।

ये विशेषताएँ लौकिक और अलौकिक भेद से भी दो प्रकार की होती हैं। लौकिक सन्निकर्ष (उदाहरणार्थ, संयोग, समवाय, संयुक्त समवाय आदि) से होने वाले ज्ञान की विषयताएँ लौकिक कहलाती हैं, तथा अलौकिक-सामान्य लक्षण, ज्ञानलक्षण या योगजलक्षण – सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान की विशेषताएँ अलौकिक होती हैं।

प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता आदि जो भेद माने गये हैं वे विषयता के ही भेद हैं या स्वतन्त्र पदार्थ हैं? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में गदाधर का विचार यह है कि विषयों में प्रकारता और विशेष्यता-रूप स्वतन्त्र पदार्थ मानने की अपेक्षा विषयता के प्रकारों के रूप में ही विषयों में वर्तमान प्रकारता और विशेष्यताओं को विषयता के प्रकार के रूप में स्वीकार करना उचित है।[११]

कुछ नैयायिकों[१२] का कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान की जो विषयता, प्रकारता और विशेष्यता से भिन्न होती है याने निर्विकल्पक ज्ञान जैसे निष्प्रकारक और निर्विशेष होता है – वही विशिष्टज्ञान (उदाहरणार्थ घटः यह घटत्वविशिष्ट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

घट का ज्ञान) की भी विषयता है। उसे प्रकारता या विशेष्यता के रूप में मानने की क्या आवश्यकता है? उसी विषयता के आधार पर विशिष्ट ज्ञान सविषयक हो सकता है। विषयता के स्वतन्त्र प्रकारता आदि भेद स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? उसी विषयता के आधार पर विशिष्ट ज्ञान सविषयक हो सकता है। विषयता के स्वतन्त्र प्रकारता आदि भेद स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? जब निर्विकल्पक ज्ञान में ये भेद नहीं होते तो वे वैसे ही विशिष्ट ज्ञान में भी न हों, और प्रकारतादि के भेद के बिना भी विषयता के भेद के आधार पर ज्ञान में भेद किये जाने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु गदाधर के अनुसार यह मत त्याज्य ही है। प्रकारता और विशेष्यता को विषयता के रूप में स्वीकार न करने पर 'वह्निव्याप्यधूमः पर्वते' (वह्नि का व्याप्य धूम पर्वत पर है। और 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' (पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है) इन दोनों परामर्शों में यही भेद है कि एक में व्याप्य धूम विशेषण है तथा पर्वत प्रकार है, जबकि दूसरे में पर्वत विशेष्य है और वह्निव्याप्य धूम प्रकार (विशेषण) है। इन दोनों परामर्शों का व्याप्य–विषयता से निरूपित पक्ष–विषयता वाले ज्ञान के रूप में एक ही प्रकार से अनुगम कर के अनुमिति के कारण (परामर्श) के रूप में स्वीकार किया जाता है। लेकिन वह प्रकारता और विशेष्यता को विषयता के प्रकारों क रूप में स्वीकार न करने पर सम्भव नहीं होगा। अतः उपर्युक्त दोनों परामर्शों को अलग–अलग रूप में कारण मानना पडेगा, जिससे गौरव दोष होगा।

दूसरी बात यह है कि निर्विकल्पक ज्ञान की जो (प्रकारता और विशेष्यता से भिन्न) विषयता होती है वही विषयता (विशिष्ट–बुद्धि) सविकल्पक ज्ञान की भी होती है ऐसा मानने पर जिस प्रकार घटत्व के निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् स्वरूपतः घटत्व–विशिष्ट घट का ज्ञान होता है, वैसे ही जातित्वेन घटत्व के ज्ञान के पश्चात् भी 'घटः' यह विशिष्ट ज्ञान होना चाहिये। घटत्व के निर्विकल्पक ज्ञान की विषयता के समान जातित्वेन घटत्व के ज्ञान की भी विषयता है। स्वरूपतः (किसी धर्म–ज्ञान के बिना) घटत्व–विशिष्ट घट के ज्ञान के लिये घटत्व विशेष्यक ज्ञान को कारण मानने पर उक्त दोष सम्भव नहीं है यह कहना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'जातिःघटश्च'– जाति और घट–इस ज्ञान के पश्चात् घटः यह विशिष्ट बुध्दि उत्पन्न नहीं होगी, जो कि अनुभव–सिद्ध है।

जो लोग विशिष्ट बुध्दि की विषयता केवल विशेष्य में ही मानते हैं, विशेषण में नहीं मानते, उनके मत की आलोचना गदाधर ने की है।[13] विशिष्ट बुध्दि की विषयता विशेष्य में मानने वालों का तर्क यह है कि घट के ज्ञान के बाद जब 'घटं जानामि' (मैं घट को जानता हूं) इस प्रकार का अनुव्यवसाय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता है तब यह स्पष्ट है कि 'घट' इस विशेष्य के साथ ज्ञान के सम्बन्ध का बोध होने से घट के साथ का ज्ञान का विषयता सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ता है। घट के ज्ञान के बाद मैं घटत्व को जानता हूँ इस प्रकार का साक्षात्कार नहीं होता है, क्योंकि वह घटत्वत्व-विशिष्ट घटत्व के वैशिष्ट्य को व्यक्त करने वाला होने से उसके पूर्व घटत्वत्व का ज्ञान हुआ होना आवश्यक है। विशिष्ट-वैशिष्ट्याव-गाहि बुद्धि में विशेषणतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान कारण होता है। याने, जब हमें किसी विशिष्ट के वैशिष्ट्य का ज्ञान होता है तब उक्त विशिष्ट के विशेषण को नियमित करने वाला प्रकारक ज्ञान उसका कारण होता है। 'घट:' यह ज्ञान बिना किसी घटत्वत्वादि धर्म के स्वरूपत: ही घटत्व प्रकारक होने से घटत्वत्व प्रकार वाला नहीं होता है। क्योंकि विशेषण (प्रकार) को विशिष्ट-ज्ञान का विषय न मानने पर उस धर्म (घटत्व) से युक्त के ज्ञान के पश्चात् उस धर्म से युक्त का ज्ञान नहीं होना चाहिये। क्योंकि विशिष्ट-ज्ञान के लिये विशेषण (घटत्व) का ज्ञान कारण होता है। जो लोग उस धर्म से युक्त धर्मि-ज्ञान (विशिष्ट-ज्ञान) को धर्म-विषयक ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं करते उनके मत में प्रथम विशिष्ट-ज्ञान में विशेषण का ज्ञान नहीं होता। अत: उक्त विशेषण-ज्ञान-रूप कारण के न रहने से द्वितीय विशिष्ट ज्ञान रूप कार्य नहीं उत्पन्न होना चाहिये।

उसी प्रकार यदि विशिष्ट ज्ञान की विषयता विशेषण में न मानें तो विशिष्ट ज्ञान के पश्चात् विशेषण का ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से होने वाला प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार के उपनीत भान-रूप ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष के लिये तद्विषयक ज्ञान (याने विशेषण विषयक ज्ञान) कारण होता है। जैसे, 'सुरभि चन्दनम्' इस प्रकार के भान के लिये सौरभ का ज्ञान कारण होता है। अत: विशेषण को विशिष्ट-ज्ञान का विषय मानना आवश्यक होने से उक्त विशेषण (प्रकार) में रहने वाली प्रकारता को भी लाघवात् विषयता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

प्रकारता और विशेष्यता के समान संसर्गता भी विषयता का एक प्रकार है।[१४] उसकी चर्चा तथा प्रकारता और विशेष्यताओं के स्वरूपों के विषय में मतभेदों की चर्चा अगले निबन्धों में की जायगी।

बलिराम शुक्ल

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे-४११००७.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; निर्विकल्पकीया प्रकारता विशेष्यताभिन्नत्वेनोभयमतसिद्धा या विषयता। विषयतावादे

२. रामरुद्र; इदं च प्रकारताविशेष्यतयोरभेदवादिमताभिप्रायेण। रामरुद्रयां; अनुमानखण्डस्य परामर्श प्रकरणे।

३. भट्टाचार्य मते तु व्याप्तिप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छिन्न प्रकारता निरूपित पक्षविशेष्यताशालित्वेन वक्तव्यम्। एकनिष्ठ प्रकारताविशेष्यतयोर (भेदवादिना) वच्छेद्यावच्छेदकभावस्वीकारात्, विशेष्यताप्रकारतयोर्भेदास्वीकारे रक्तदण्डवान् इति बुद्धौ रक्तरूपविशेष्यक दण्डाभावनिश्चयप्रतिबध्यत्वापत्तेः दण्डप्रकारतानिरूपित रक्तरूपनिष्ठ विशेष्यता शालित्वात्तादृशबुद्धिरिति ध्येयम्। वहीं

४. गदाधर; तत्र गत्यन्तरानुसरणे च गौरवादिति। अनुमिति प्रकरणे

५. गदाधर; विषयता च विषयभेदात् भिद्यते, अन्यथा घटपटावित्यादिसमूहालम्बनीय घटपटादिनिष्ठ विषयताया ऐक्ये पूर्वोक्त युक्त्या तादृशज्ञानस्य भ्रमत्वापत्तेः। विषयतावादे

६. तादृशबुद्धौ घटप्रकारकत्व घटत्वविशेष्यकत्वयोरापत्तेः। वहीं

७. एकनिष्ठैकज्ञानीय प्रकारताविशेष्यतयो (विशेष्यप्रकारतयो) र्भेदवादिमते निरूप्यनिरूपकभाववत् धर्मितावच्छेदकत्व विषयितानिरूपकतावच्छेदकतयोरपि निरूप्यनिरूपकभावोऽभ्युपेयते। रामरुद्रयां, हेत्वाभासप्रकरणे।

८. शिवदत्त मिश्र; धीभेदस्य विषयताभेदकत्वात्। सामान्यनिरुक्तिटीकायाम्। पृ, ४८.

९. गदाधर; ज्ञानभेदेन विषयताभेदे मानाभावात्। विषयतावादे।

१०. शिवदत्त मिश्र; नञ्पदाभावपदजन्योपस्थित्योः समानाकारकत्वेन तदीय विषयतयोर्निरूप्यनिरूपकभावादितिचेन्न। व्युत्पत्तिवादटीकायाम्।

११. गदाधर; विषयेऽतिरिक्त विषयतानां तत्र च विषयतात्वस्य कल्पनामपेक्ष्य विषयवृत्तित्वेन क्लृप्तानां प्रकारताविशेष्यानां विषयतात्वकल्पनस्यैव व्याप्यत्वात्। विषयतावादे

१२. निर्विकल्पकीया प्रकारताविशेष्यताभिन्नत्वेनोभयमतसिद्धा या विषयता विशिष्टज्ञानस्यापि सैव विषये सम्बन्धः। वहीं

१३. विशेषणस्य विशिष्टज्ञानाविषयत्वे तद्धर्मविशिष्टज्ञानानन्तरं तद्धर्मविशिष्टज्ञानानुपपत्तेः। वहीं

१४. विशेष्यताप्रकारतावत् संसर्गत्वस्यापि विषयताविशेषात्मकत्वम्। वहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ-समीक्षा

१

वीरेन्द्र सिंह, (डॉ.) (संपा.) समकालीन आलोचना, पञ्चशील प्रकाशन, जयपुर, १९८९; पृष्ठ सं. vii + २००; मूल्य: १५० /- रुपये (सजिल्द)

आलोचना इस शताब्दी में एक ऐंसा अनुशासन हो गया है जिसने प्राच्य और पाश्चात्य सिद्धांतों, विचारों तथा मापदण्डों के कहीं तालमेल और कहीं घालमेल के द्वारा हिन्दी में एक नया शास्त्र विकसित कर लिया है। हिन्दी के इस आलोचना शास्त्र ने पृष्ठभूमि तो संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों से पायी है, जिसमें आनन्द वर्धन और अभिनव गुप्त से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ जैसे समीक्षकों के सिद्धान्त मूलाधार प्रस्तुत करते हैं, किन्तु शेष सारी संरचना पाश्चात्य या विदेशी समीक्षकों के विचारों, सिद्धान्तों विशेषकर संज्ञाओं और अभिधानों से निर्मित हुई है जिनमें इंगलिस्तानी, अमेरिकी, मार्क्संवादी सभी प्रकार के समीक्षक शामिल हैं। हिन्दी आलोचना को मिला यह व्यापक विस्तार अपने आप में अध्ययन का विषय है। इसकी एक सहज परिणति यह भी हुई है कि आलोचना के ऐसे अनेक खेमे या वर्गीकरण विकसित हो गये हैं, जैसे मार्क्सवादी, जनवादी, रूपवादी, सौन्दर्यवादी आदि। इसके अतिरिक्त आलोचना कर्म का जो अभिगम रहा उसने भी अनेक ब्राण्डें पैदा कर दी। एक शैली-वैज्ञानिक आलोचना इन दिनों चर्चित है। एक संरचनावादी आलोचना भी पश्चिम में विकसित हुई। रिचर्डस् आदि की मनस्तात्त्विक आलोचना का समन्वय कर रामचन्द्र शुक्ल ने जो नई समीक्षा-दृष्टि दी थी उसे हिन्दी के आलोचकों ने एक युग का सूत्रपात माना। इससे आलोचना के नये युग की शुरूआत हुई थी। इन सब आलोचना-सिद्धान्तों का ऐसा सर्वांगपूर्ण शास्त्रलेखन तो शायद अब तक नहीं हुआ है, जिसे शास्त्र की तरह पढ़ा जा सके; किन्तु ऐसे प्रयत्न अवश्य हुये हैं जिनसे इन विभिन्न आयामों को संकलित रूप में प्रस्तुत कर अध्येताओं को तथा विचारकों को आज के आलोचना कर्म का एक परिदृश्य प्रस्तुत किया जा सके। आज के आलोचक के लिये अब बीसवीं सदी के प्रारम्भ के पुराने विवाद प्रासंगिक नहीं रहे, जिनमें यह पूछा जाता था कि आलोचक को केवल विवेचना ही करनी चाहिए या निर्णय भी। उसे रचनात्मक होना चाहिए या केवल आलोचनात्मक? क्या सर्जक हुये बिना भी आलोचना की जा सकती है? अब तो हिन्दी आलोचना ने पाश्चात्य मापदण्ड और जार्गन सीधे अपना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिये हैं जिन पर हम साहित्य को परखते हैं। मिथक, प्रतीक, बिम्ब, आद्यप्ररूप आदि ऐसे अभिधान हैं जिन्हें आज की कविता को मूल्यांकन में प्रयुक्त किया जाता हैं। समकालीन कविता की आलोचना के लिये समकालीन मापदण्ड होने ही चाहिये।

समकालीन आलोचना के इन विभिन्न अभिगमों और शैलियों का स्वरूप-विधान एक ही जगह प्रस्तुत करने का एक अच्छा प्रयत्न समकालीन आलोचना नामक संकलन में इसके सम्पादक डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने किया हैं । इसमें विभिन्न समकालीन आलोचना अभिगमों पर सोलह विद्वानों के आलेख संकलित हैं। समकालीन कविता पर इसी प्रकार के निबन्धों का संकलन कर डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने समकालीन काव्य प्रवृत्तियों पर इसी प्रकार का एक ग्रन्थ समकालीन कविता शीर्षक से प्रस्तुत किया था। उसी प्रकार का यह दूसरा सकलन आलोचना-कर्म के विभिन्न आयामों का अच्छा विवेचन करता हैं । समकालीन आलोचना में आलोचना-कर्म के मूल उद्देश्यों पर डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर के निबन्ध के बाद आचार्य शुक्ल और शुक्लोत्तर आलोचना, साहित्य का समाज शास्त्रीय अध्ययन; मार्क्सवादी आलोचना आदि पर आलेख हैं। आज की बहुचर्चित आलोचना-प्रक्रिया भी विवेचित हैं। रचनात्मक शैली, विज्ञान-शैली वैज्ञानिक आलोचना और संरचनावादी आलोचना पर आलेख हैं। अन्त में अन्तः-अनुशासनीय समीक्षा के एक नये अभिगम पर भी दो निबन्ध है, जिनमें विज्ञान, इतिहास, राजनीति; मनोविज्ञान आदि सभी दृष्टिकोणों से समन्वित समीक्षा का एक नया अभिगम प्रस्तुत किया गया है। कहना न होगा कि आज के बहुआयामी जीवन के युग में हमारा समूचा दृष्टिकोण, न केवल साहित्य के प्रति, बल्कि जीवन की सभी स्थितियों के प्रति, अंतः-अनुशासनीय होता जा रहा है। आलोचना का भी यह अभिगम देने का दृष्टिकोण उल्लेखनीय है। इन निबन्धों से योरोप, इंगलिस्तान, अमरीका आदि सभी देशों के आलोचना शास्त्रियों के दृष्टिकोणों का परिचय मिल जाता है। डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने ' साहित्य का समाज-शास्त्रीय अध्ययन ' में मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी विवेचकों की समाज-चेतनात्मक आलोचना पर एक दृष्टि डाली है । डॉ. हरिमोहन का निबन्ध ' संरचनावादी आलोचना ' बहुत व्यापक परिप्रेक्ष्य में, पश्चिम में विकसित हुई नई समीक्षा (न्यू क्रीटीसीजम) के प्रायः सभी आलोचना-शास्त्रियों के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुये भारत के काव्य-शास्त्रियों के सिद्धान्तों से उसकी तुलना करता है। इसमें भामह से लेकर जगन्नाथ पंडितराज तक के मूल सिद्धान्तों के साथ पाश्चात्य आलोचना-शास्त्रियों के प्रतिमानों की जो तुलना की गयी है वह बहुत प्रत्यायक लगती है और सिद्ध करती है कि कवि-कर्म के प्रति समीक्षकों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दृष्टि जिन मापदण्डों को ले कर चलती है उन्हें हर युग में हम चाहे नया नाम दे दें, मूलभित्ति एक ही रहती है। इस दृष्टि से समस्त नूतनता नये जार्गनों की 'भाषा क्रीडा' ही है।

मिथकीय समीक्षा पर डॉ. अनिल कुमार तिवाडी का तथा प्रतीकवादी; समीक्षा पर डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय का आलेख भी पाश्चात्य आलोचना–शास्त्रियों की विवेचना के साथ भारतीय काव्य-शास्त्रियों का भी उल्लेख करते चलते है।

विभिन्न खेमों के अधिकृत विवेचकों द्वारा लिखे गये इन लेखों में आधुनिक आलोचना के सभी प्रकारों का परिचय पाठकों को मिल जाता है। कुछ निबन्धों से आज के अध्येता आलोचना का वह विश्वजनीन परिप्रेक्ष्य भी हृदयंगम कर सकते हैं जिसके तहत पाश्चात्य देशों में आलोचना–शास्त्र विकसित हो रहा है, और जिसकी संज्ञाओं (शैलीविज्ञान, संरचनावाद आदि) का आतंक हिन्दी में फैला हुआ है। इस संकलन के लिये सम्पादक, जो स्वयं अच्छे विवेचक और समीक्षक हैं, बधाई के पात्र हैं। आलोचना के विभिन्न अनुशासनों का परिचय उनके अधिकृत लेखकों की कलम से प्रस्तुत करवा कर उन्होंने स्वयं एक अन्तः– अनुशासनीय पहल की है। ■

निदेशक, कलानाथ शास्त्री
भाषा विभाग
अहिंसा सर्किल
जयपुर–३०२००४.
(राजस्थाय)

टिप्पणियाँ

■ उक्त लेख–संग्रह का सोलहवाँ अध्याय 'अन्तः अनुशासनीय आलोचना की प्रस्तावना' इस शीर्षक के साथ परामर्श (हिन्दी) के ग्यारहवें खण्ड के द्वितीयांक में प्रकाशित हुआ था।

—सम्पादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

खण्ड ११ के योगदाता

अंक १, दिसम्बर, १९८९

हेमचन्द्र पाण्डे	सम्बद्धता और उसके प्रकार	३
बच्चूलाल अवस्थी	शब्दतत्त्वचिन्तन में क्रिया-विवर्त एवं काल-शक्ति	१४
स्वामी प्यारी कौड़ा	भारतीय लोक-नाट्य परम्परा	२३
शहीद अहमद	साधारण-बोध और जी. ई. मूर	२९
रानी रूपमती सिन्हा	अशुभ का स्वरूप और रवीन्द्रनाथ टैगोर	३८
आलोक शर्मा	प्राचीन भारत में यज्ञ का स्वरूप और वाममार्ग	४३
बलिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१३)	५०

अंक २, मार्च, १९९०

बो. कामेश्वर राव	ईश्वर कृष्ण की सृष्टि-मीमांसा	६५
बसन्त चक्रवर्ती	'बन्धो महावट से' : कामायनी में पाठ-दोष या मुद्रण की भूल ?	७७
वीरेन्द्र सिंह	अन्तः-अनुशासनीय आलोचना की प्रस्तावना	८३
स्नेहलता माहेश्वरी	समवाय : न्याय-वैशेषिक की एक विशिष्ट कल्पना	९५
मृत्युञ्जय उपाध्याय	प्रसाद के उपन्यासों में युगचेतना	१०५
बलिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१४) : अवच्छेदकता	११५

अंक ३, जून, १९९०

राममूर्ति त्रिपाठी	आगम	१३५
जगदीश शर्मा	साहित्य-रचना और परम्परा	१४०
सुरेन्द्र वर्मा	यूनानी नीतिशास्त्र (१) : सुकरात-पूर्व पाश्चात्य नीति-दर्शन की विवेचना-पाइथागोरस, हेराक्लाइटस् और डेमोक्रिटस	१४८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

निर्मला जैन	ए. जे. एयर के 'ज्ञान' के प्रत्यय की विश्लेषणात्मक व्याख्या	२८३ १६५
राम सनेहीलाल शर्मा	इतिहास और मिथक	१७१
शशिप्रभा 'कुमार'	तम का द्रव्यत्व : एक विश्लेषण	१७९
अजय कुमार राय	सर्वोदय और लोकतन्त्र : एक समीक्षा	१८६
बलिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१५) : विषयता (i)	१९३

अंक ४, सितम्बर, १९९०

हरिहरप्रसाद शुक्ल	अलख को लख, अगम को गम बनाने वाला रामानन्दी कबीर	२०१
सुरेन्द्र वर्मा	यूनानी नीतिशास्त्र (२) : सोफिस्ट और सुकरात	२०७
बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'	भारतीय दर्शन में कर्मवाद (१)	२३५
वीरेन्द्र सिंह	चेतना की द्वन्द्वात्मकता का वाहक-बुद्धिजीवी	२४०
उर्मिला आनन्द	मंगल-फल-मीमांसा : न्याय-वैशेषिक परिप्रेक्ष्य में	२४५
सत्यपाल गौतम	भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता का आदर्श : एक विवेचन	२४९
बलिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१६) : विषयता (ii)	२६९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883/79

हरिप्रसाद शुक्ल	अलख को लख, अगम को गम बनाने वाला रामानन्दी कबीर	२०१
सुरेन्द्र वर्मा	यूनानी नीतिशास्त्र (२) : सोफिस्ट और सुकरात	२०७
बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'	भारतीय दर्शन में कर्मवाद (१)	२३५
वीरेन्द्र सिंह	चेतना की द्वन्द्वात्मकता का वाहक—बुद्धिजीवी	२४०
उर्मिला आनन्द	मंगल–फल–मीमांसा : न्याय वैशेषिक परिप्रेक्ष्य में	२४५
सत्यपाल गौतम	भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता का आदर्श : एक विवेचन	२४९
बलिराम शुक्ल	नव्य–न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१६) विषयता (ii)	२६१
	ग्रन्थ–समीक्षा	२७१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिंदी)

खण्ड ११ अंक ३

जून, १९९० / ज्येष्ठ-आषाढ, २०४६

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे | राजेन्द्र प्रसाद
आनन्दप्रकाश दीक्षित | मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

□ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका

□ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे □ राजेन्द्र प्रसाद □ आनन्दप्रकाश दीक्षित □ मो. प्र. मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल □ रमाकान्त सिनारी □ विजयकुमार भारद्वाज □ शारदा जैन संगमलाल पांडे □ आर्. बालसुब्रमणियन् □ अशोक रा. केळकर □ के. जे. शहा □ नारायणशास्त्री द्राविड □ के. सच्चिदानंद मूर्ति □ जी. सी. नायक □ ग. ना. जोशी □ मोहनलाल मेहता □ जे. फाईल □ सुमन गुप्ता □ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर □ सु. ए. भेलके □ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें, संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुन: भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ४०–००
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ३०–००
(३) छात्रों के लिए	रु. २०–००
एक प्रति	रु. ८–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १२५०–००
व्यक्तियों के लिए रु. ३००–००

□ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें ।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आगम

'निगम' अपौरुषेय, निर्धारितानुपूर्वीक, श्रेयस्कर शब्दराशिविशेष है जबकि 'आगम' पौरुषेय, अज्ञातकर्तृक तथा निबद्ध और अनिबद्ध उभयात्मक है। निगम अस्मर्यमाणकर्तृक है और आगम स्मर्यमाणकर्तृक। निगम त्रैवर्णिक है और आगम सार्ववर्णिक। निगम त्याग-मार्ग है और आगम रागमार्ग। निगम सबका एक है पर आगम सबका अपना अलग-अलग – जो जिसके लिए फलीभूत है वह उसका आगम है। आगम 'उपक्रम' है और निगम उपसंहार – इसलिए तत्त्वतः दोनों का अविरोध होने पर भी एक का स्वरूप अन्य के अनुरूप निर्धारित होता है। उपक्रम और उपसंहार से एक ही तत्त्व की चर्चा होती है पर उपक्रम प्रतिपाद्य-भूत या वाच्यभूत में उपक्रमण में नियमतः क्रियाशीलता की ओर केन्द्रित होता है जबकि निगम अपने वाच्यभूत अर्थ के उपसंहरण में क्रियाशीलता की ओर इंगित नहीं करता – इसीलिए आगमसम्मत दर्शन प्रत्यभिज्ञा प्रकाशाद्वयवादी होता हुआ भी स्वयं विमर्शनात्मक क्रिया से अपने को शून्य नहीं मानता, जबकि निगम का चूडान्त दर्शन अद्वैत वेदान्त प्रकाशतत्त्व को विमर्शमय या स्पंदात्मा नहीं मानता। ज्ञान और क्रिया के बीच क्रिया को महत्त्व देने वाले उपक्रम का भी पराक्रम अधिक मानते हैं और जो लोग क्रिया की अपेक्षा प्रकाश को ही (अधिक) महत्त्व देते हैं वह निगम का वैशिष्ट्य बताते हैं (अर्थात्, जहाँ आगम भोग और मोक्ष दोनों को चरम प्रयोजन मानते हैं वहां निगम केवल मोक्ष को) इसीलिए आगमिक धारा का प्रत्यभिज्ञा दर्शन जहाँ जगत् को सत्य मानता है वहां निगम का चूडान्त अद्वैत दर्शन उसे मिथ्या मानता है। न्यायदर्शन के अनुसार 'आगम' प्रतिज्ञा है और निगमन 'सर्वेषामेकार्थ-समता-सामर्थ्य- प्रदर्शन' है – एक में सबका निर्वहण है। दूसरे विद्वान् 'आगम' में उपासन या राग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की और 'निगम' में ज्ञान, उपासना, तथा कर्म की प्रतिपादना देख कर कहते हैं 'निःशेषेण गमो बोधो यस्मात् स निगमः'। इसके साथ ही —

'आ ईषद् अंशतः उपासनाख्यांशस्य गमो बोधो यस्मात्स आगमः'। कहा भी गया है —

अमर्त्ये शिवमार्गेऽस्मिन् राग एव प्रशस्यते।

'आगम' – शब्दार्थ निर्वचन

'निगम' से 'आगम' का अन्तर कर लेने के बाद व्युत्पत्ति के सहारे भी 'आगम' का स्वरूप–निर्वचन सम्भव है, परिभाषाएं तो हैं ही।

(क) सामान्य (व्युत्पत्ति और परिभाषाओं के साम्य पर) –

'आगम' शब्द को कुछ लोग 'रूढ़' मानते हैं और कुछ लोग 'योगरूढ'। रुढ़ मानने वाले निम्नलिखित श्लोक का साक्ष्य देते हैं –

'आगतं शिववक्त्रात्तु गतं च गिरिजामुखम्।
मतं च वासुदेवेन तस्मादागम उच्यते ।।

इस श्लोक में 'आगत', 'गत' तथा 'मत' – पदों का आद्य अक्षर (आ ग म) ले लिया है और 'आगम' संज्ञा बना ली गई हैं। इसका अभिप्राय स्पष्ट है– वह शास्त्र 'आगम' है जो शिव के मुख से निकला हो, गिरिजा के मुख में गया हो और वासुदेव द्वारा मननगोचर हुआ हो। पर इस परिभाषा के द्वारा अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं हो पाता। फलतः योगरूढ़ि से अर्थ ग्रहण करना उचित है। योगरूढ़ अर्थ की ओर संकेत करते हुए स्वामी करपात्रीजी ने कहा है – 'आगच्छति – इति आगमः'। इसी को आधार बनाते हुए स्वामी सीताराम शरणजी ने कहा है – 'जो रहस्य या सत्य परम्परा या गुरु–परम्परा से आ रहा हो – वही आगम है।' औरों ने भी इसे मान्यता प्रदान की है।

डॉ. शशिभूषण दास गुप्त, म. म. पं, गोपीनाथ कविराज तथा पं. क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय – आदि तंत्र के नव व्याख्याकारों ने केवल भारतीय भूमि पर ही नहीं अपितु आंतरराष्ट्रीय भूमि पर इस धारा की गुह्य मंडलियों में अविगीत 'प्रसिद्धि' स्वीकार की है और ऐसे संकेत संहिताओं तथा उपनिषदों से ढूंढ़ निकाले हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि निगम / आगम–सम्मत रहस्य साधनाएं – साथ-साथ प्रवाहित हो रही थीं। फिर जो सम्प्रदाय या उपासक इस अन्तःप्रवाहित धारा से जुड़ता गया वह आगमिक अन्तस्तत्त्व को अपने अनुरूप ग्रहण करता गया। मेरा यह विश्वास है कि जिस प्रकार विज्ञान के सत्य सार्वभौम होते हैं उसी प्रकार अध्यात्म विज्ञान के भी। इतना अवश्य है कि ज्ञान वस्तु के अधीन रहता है जब कि उपासना में वस्तु उपासक की इच्छा के अनुरूप गृहीत होती है। उपासना इच्छाधीन होती है। अतः उस सन्दर्भ में उपासक की इच्छा–तृप्ति के लिये आराध्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तदनुरूप गृहीत होता रहता है। मतलब ज्ञान वस्तु के और भक्ति (उपासक की) इच्छा के अधीन होती है। इस प्रकार उपासक की उपासना में तत्त्व का रूप उसकी स्वारसिकी वासनावश भिन्न-भिन्न हो सकता है।

आगम के योगरूढ अर्थ का दार्शनिक स्तर पर भी व्याख्यान हुआ है जिसका समय-समय पर पौराणिकीकरण भी होता रहा है। 'आगम' शब्द की व्याख्या करते हुए स्वच्छंद तंत्र में कहा गया है –

आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः।

गति या गम ज्ञान ही है; आ-गम एक ऐसा परिपूर्ण ज्ञान है जो सर्वतोमुखी और सम्यक् है। टीकाकार ने मूलकार के आशय का उपबृंहण करते हुए कहा है–

अनन्ताः शास्त्रकोटयः यः पारमेश्वर आगम; तद् ज्ञानपराः– शक्ति-स्फाररूपमित्युक्तम्। आसमन्तात्तु गमयति अभेदम् परामृशति पारमेशं रूपमिति कृत्वा या पराशक्तिः सैवागमः तत्प्रतिपादकः शब्द–सन्दर्भः तदुपायत्वात् शास्त्रस्य।

अर्थात्, अनन्तशास्त्र कोटियाँ ही पारमेश्वर आगम है – वह ज्ञानमयी है – शक्ति का वह विस्फार है अथवा तत्त्वतः वह शक्ति ही आगम है जो अभिन्न रूप से पारमेश रूप का विमर्शन कराती है – तत्परक शब्द–सन्दर्भ और स्वरूप-विमर्श में उपायभूत तत्तत् शास्त्र भी आगमपद पदवाच्य है। शब्द के बिना न स्वयं विमर्शन सम्भव है और न ही अन्यत्र उसकी संक्रान्ति। अतः विमर्शन में उपयोगी होने के कारण शब्द को भी आगम कहा जाता है। आगमों में परस्पर विरोधी अर्थ भी होते हैं। उसका कारण वस्तुतः जिस साधक का जिस शब्द में दृढ विमर्श या विश्वास हो – वही उसका आगम है। व्यक्तिभेद से प्रकार, उपचार और निदान भिन्न होता है। – वैसे ही साधक-संस्कार-भेद से उसके अपने मार्ग भी भिन्न-भिन्न होते हैं। फलतः जिसका जो शब्दात्मक आगम है वह उससे जैसे भी विमर्शन करेगा उसके लिये वैसा घटित हो कर रहेगा। उसका प्रामाण्य तर्क–सापेक्ष नहीं, अपितु प्रसिद्धि और क्रमागत परम्परा से प्राप्त होने के कारण स्वयं है। इस दृष्टि से शैव शास्त्र और वैष्णव ही आगम नहीं हैं – बौद्ध और जैन भी आगम हैं – वे भी नियत व्यक्ति विशेष से प्रकाशित नहीं हैं – अपितु परम्परा से उनके आगम भी चले आ रहे हैं। इसी आधार पर डॉ. के. सी. पाण्डेय का कहना है कि इस दृष्टि से न केवल भारतभूमि पर उपलब्ध धार्मिक पुस्तकों के पाठ प्रमाण हैं अपितु कुरान और बायबल भी प्रमाण हैं। जैन और बौद्ध परम्परा भी यही मानती है कि जिन और बुद्ध समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं – वे व्यक्ति नहीं जाति हैं। मिलिन्द ने बुद्ध के लिए बौद्ध परम्परा में और जैनों के लिए जैन परम्परा में भी यही प्रसिद्धि बताई है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आगम का अर्थ अवतरण भी है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए आगमिकों ने बताया है कि आगम मूल में परावाक् के रूप में रहता है। वही पश्यन्तीभाव में अवतीर्ण होकर मध्यमाभाव में स्थित होती है — तब परिमित प्रमाता के द्वारा अधिकृत होती है। वस्तुतः प्रकाशमय शिव के स्वभाव में स्थित यह व्यापार प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणोंका उपजीव्य है — इसलिए वह पर-प्रमाता का व्यापार होने से नित्य माना जाता है। इसे और स्पष्ट किया जाय तो कहना होगा कि चरम सत्य रूप परावाक् परपरामर्शमय बोध-रूप है। वही विभिन्न अवस्थाओं में रूपान्तरित होती है। 'पश्यन्ती' उसी की बहिर्मुख अवस्था है। इसी बहिर्मुखी भाव में पर-बोधात्मक शास्त्र 'अहम्' इत्याकारक परामर्श-रूप में अन्तर में उदित होता है। उस भूमि के प्रत्यवमर्शक प्रमाता के द्वारा परामृश्यमाण वाच्यार्थ के रूप में नहीं; अपितु अहन्ताच्छादित होकर प्रतीत होता है। उसके बाद तीसरी अवस्था आती है — मध्यमा। यहाँ परवर्ती 'पश्यन्ती' का आन्तरविमर्श वितानरूप में — वाच्य-वाचक भाव रूप में-उल्लसित होता है। फिर भी यहाँ वह भेद नहीं है जो वैखरी स्तर पर होता है। यह भूमि कई दृष्टियों से महत्त्व की है। यही वह भूमि है जहाँ परसत्ता चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया-रूप पंचमुख का प्रकाश करती है और सदाशिव तथा ईश्वर दशा का आश्रय लेकर गुरु-शिष्य-भाव का परिग्रह धारण करती है। इसी परम्परा से आगम का अवतरण होता है। वैखरी भूमि पर यह स्फुटतर होता है — मध्यमा भूमि पर स्फुट रहता है।

यही वह भूमि है जहाँ चिन्मरीचिमय मंत्रों का उदय होता है। यहाँ वर्ण समष्टिमय मंत्र चैतन्य जागृत होते हैं — पर वैखरी स्तर पर शब्द जड़ होती है। वे केवल मध्यम स्तर के मंत्रों के स्मारक होते हैं। मंत्ररूप में ही मध्यमा वाक् आत्मप्रकाश करती रहती है। वैखरी का स्थान स्थूल है—यहीं से वह मुद्रित होता है। इसके मूल में मानसिक चिन्ता, मनोगत भाव या अर्थ जडीभावापन्न हो जाते हैं। यही वह भूमि है जहाँ शब्द और अर्थ का भेद स्पष्ट होता है। इस भूमि में स्मृति परिशुद्धि नहीं होती — स्मृति में सांकर्य रहता है — स्मृति परिशुद्धि के द्वारा सांकर्य का निराकरण होता है — यह निराकरण मध्यमाभूमि में आरूढ़ होने का आनुषंगिक फल है। वाक् के साथ प्राण और मन का तो अविनाभाव सम्बन्ध है ही; चित् का भी सम्बन्ध है — पर वह यहां आवृत्त रहता है। दीक्षा और अभिषेक से मध्यमा भूमि पर आरोहण होता है। पृथुभाव (वैखरी) से दिव्यभाव (पश्यन्ती) आने के लिये मध्यमा मध्यवर्ती भूमि है।

मध्यमा भूमि में ही परावाक् पंचमुखी आत्मप्रकाशन करती है — इसी का पौराणिकीकरण हुआ है और कहा गया है कि शिव (सदाशिव) के पंचमुख से शैवागमों का उद्धार हुआ है। कहा गया है —

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गुरुशिष्यपदेस्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैः तंत्रं समवतारयत् ॥

सदाशिव विमर्शशक्ति संविद् को ही शिष्य बना कर आगम को अवतीर्ण करते हैं। यह वह भूमि है जहाँ नित्यसिद्ध विभव–ज्ञान नाद रूप से प्रकाशित होता है। इसके अतिरिक्त यह नाद और कुछ नहीं। शिव–तत्त्व में शक्ति का सतत चलन स्पंदन ही है या चित् शक्ति स्फुरण से महामाया का अवाङ्मुख होना है और यही चलन शब्द का मूल है। शिव कारण है और सदाशिव से भूमि पर्यन्त सभी कार्य हैं। शिव ही अमूर्त सादाख्य, मूर्तसादाख्य, कर्तृसादाख्य, और शिव-सादाख्य रूप में पंचमुख हैं – इन्हीं का नामान्तर वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, सद्योजात और ईशान है। ६४ शैवागम इन्हीं मुखों से निःसृत हैं। ये पांचों मुख मंत्रमय हैं – इन्हीं से दिव्यागम प्रसूत हैं। ये पांच सादाख्य नाम देवादि पंच भूमियाँ हैं। ये ही पांच आम्नाय हैं।

२, स्टेट बैंक कॉलोनी
देवास रोड
उज्जैन
(म. प्र.)

–राममूर्ति त्रिपाठी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य-रचना और परम्परा

मोटे तौर पर प्रायः सर्वत्र यह माना जाता है कि प्रत्येक कृति कुछ नयापन लिए हुए होती है। इसीलिए कोई कृति अनुकृति नहीं होती। वह एक नया निर्माण होती है। इस निर्माण का श्रेय बहुत अंशों में प्रतिभा को दिया जाता है जिसे 'नवनवोन्मेषशालिनी' कहा गया है : प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। रचना में 'नवनवोन्मेष' का अभिप्राय यह कह कर और स्पष्ट कर दिया है कि प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माण-क्षमा प्रज्ञा। इस उक्ति में प्रतिभा का सम्बंध अपूर्व वस्तु के निर्माण से जोड़ा गया है। प्रतिभा जिस वस्तु का निर्माण करती है वैसी कोई अन्य वस्तु पहले नहीं रही होती है। ऐसा मानने का सीधा अर्थ यह हुआ की प्रतिभा-निर्मित वस्तु नई होगी ही। इसलिए कला-रचना में आवृत्ति या दोहराव के लिए अवकाश रहता ही नहीं। लेकिन ऐसा कर पाना हर रचनाकार के लिए सम्भव नहीं होता। अनेक रचनाकार किसी बड़े लेखक के अनुगामी होते हैं। हिन्दी में कितने ही कथाकार प्रेमचंद को अपना आदर्श बना कर चले तो कितने ही नाटककारों ने जयशंकर 'प्रसाद' का अनुसरण किया। ऐसे रचनाकार कालान्तर में गुम हो जाते हैं। इतिहास में उन रचनाकारों को ही स्थान मिलता है जिन्होंने कुछ नया दिया हो। विन्सेंट टॉमस ने लिखा है[1] कि कोई चीज़ नई होने भर से सर्जनात्मक नहीं हो जाती, लेकिन वह सर्जनात्मक तभी हो सकती है जब वह नई हो।

साहित्य-रचना में नूतनता का श्रेय रचनाकार व्यक्ति को दिया जाना चाहिए, प्रायः दिया भी जाता है—यहाँ तक कि साहित्य की किसी नई धारा का प्रादुर्भाव भी बहुत बार व्यक्ति-रचनाकार की प्रतिभा से माना जाता है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के अन्तर्गत विभिन्न युगों में से कुछ का नामकरण

परामर्श, (हिन्दी) वर्ष ११, अंक ३, जून १९९०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शायद इसी मान्यता के आधार पर व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर किया गया है।–'भारतेन्दु युग' का नामकरण उस युग को सर्जनात्मक क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान करने वाले व्यक्ति के नाम पर किया गया है। 'द्विवेदी युग' का नाम उस समय के साहित्य-नियन्ता के नाम पर रखा गया है। यही नहीं, कथा-साहित्य के विकास के केन्द्र में प्रेमचंद रखे गये हैं, नाटक-साहित्य के विकास के केन्द्र में 'प्रसाद' और आलोचनात्मक साहित्य के विकास-केन्द्र में पं. रामचन्द्र शुक्ल। तदनुसार प्रेमचंदपूर्व युग, प्रेमचन्द युग, प्रेमचंदोत्तर युग, प्रसादपूर्व युग, प्रसाद युग, प्रसादोत्तर युग, शुक्लपूर्व युग, शुक्लयुग और शुक्लोत्तर युग जैसी संज्ञाएं प्रचलन में आई हैं।

टी. एस. ईलियट साहित्य-रचना में व्यक्ति को इस प्रकार महत्त्व देने के विरुद्ध थे। उनकी मान्यता यह थी कि व्यक्ति रचनाकार तो कैटलिस्ट होता है जो अपनी ओर से कोई अंशदान किए बिना साहित्य की परम्परा को आगे बढ़ाने का निमित्त बन जाता है। मानों, साहित्यकार सक्रिय कर्म की क्षमता से वंचित माध्यम मात्र होता है।

ईलियट का यह अतिवादी मत आलोचनात्मक प्रहारों का विषय बना है। इसकी सबसे बडी कमजोरी साहित्य-रचना के श्रेय से व्यक्ति को वंचित करना है। रचनाकर्म में व्यक्तित्त्व का महत्त्व अस्वीकार करने के स्थान पर यदि उन्होंनें परम्परा की शक्ति पर ही बल दिया होता तो उनके मत में सार माना जा सकता था; लेकिन इस सम्बध में उनका सोच जितना सकारात्मक है, उतना ही नकारात्मक भी है और इस नकारात्मकता का कोई ठोस आधार भी नहीं है।

फिरभी, जब वे यह कहते हैं कि परम्परा व्यक्ति की हड्डियों में धँस जाती है तो परोक्षत: वे यह स्वीकार करते हैं कि परम्परा साहित्य में रचनाकार के व्यक्तित्व में समा कर और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का अंग बन कर ही अवतरित होती है। इस उक्ति का आशय यही प्रतीत होता है कि परम्परा व्यक्ति-रचनाकार को अब तक का विकास उपलब्ध कराती है जिसकी पृष्ठभूमि में वह आगे बढ़ता है। ईलियट ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि परम्परा से उनका क्या आशय है? जैसा कि आगे चल कर देखेंगे साहित्य-रचना के संदर्भ में 'परम्परा' शब्द अनेक आशयों को अपने भीतर समेटे हुए है। इस शब्द को परिभाषित किए बिना यह नहीं समझा जा सकता कि परम्परा के आत्मसात् किए जाने की स्थिति में लेखक अपने भीतर क्या नई चीज जुडी पाता है और वह चीज किस तरह उसके कृतित्व को दिशा देती है?

'परम्परा' शब्द से ईलियट का जो भी आशय रहा हो, इतना तो निश्चित है कि परम्परा का ज्ञान होने भर से कोई रचनाकार साहित्य को कोई उल्लेख-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नीय देन नहीं दे सकता। अब तक के विकास को आत्मसात् कर लेने पर रचनाकार में आगे बढने की इच्छा, रुचि, समझ और शक्ति होना आवश्यक है। ये बातें व्यक्ति की अपनी क्षमता पर निर्भर हैं। परम्परा उसे पाथेय प्रदान कर सकती है, लेकिन आगे तो रचनाकार को ही बढ़ना होता है।

सच बात यह है कि इस शब्द के किसी भी अर्थ में 'परम्परा' बनी-बनाई नहीं मिलती, वह निरन्तर बनने की प्रक्रिया में होती है। जैसा कि इस शब्द से प्रकट होता है, आगे और आगे बढ़ते रहने का नाम परम्परा है। इसलिए वह निरंतर परिवर्तनों के बीच से गुजरती है। आधुनिक काल को ही लें तो जो काव्य-परम्परा द्विवेदी युग तक थी, वह छायावाद के आगमन से बदल गई और उसके बाद के काव्यांदोलनों से निरन्तर बदलती चली गई। टी. एस्. ईलियट ने भी यह कहा है कि परवर्ती विकास के प्रकाश में पूर्ववर्ती रचनाओं को नए प्रकाश में देखा जाने लगता है।

साहित्य की परम्परा, मोटे तौर पर, समर्थ रचनाकारों और रचनाओं से निर्मित होती है। 'अज्ञेय' की मृत्यु के बाद प्रकाशित हंस के सम्पादकीय में राजेन्द्र यादव ने जब लिखा कि वे नहीं होते तो हम भी नहीं होते तो शायद उनके ध्यान में साहित्य की परम्परा के निर्माण की यही अवधारणा थी। साहित्यिक परम्परा इसी प्रकार बनती है, लेकिन साहित्य-रचना के पीछे परम्परा का यही रूप नहीं होता। सांस्कृतिक परम्पराएँ भी उसमें योगदान करती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका में हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका की खोज़ करके यह दिखलाया है कि नृतत्त्वीय कारकों से लेकर धार्मिक और संस्थागत कारक तक किस प्रकार साहित्यिक धाराओं की दिशा निर्दिष्ट करते हैं। किसी देश में साहित्य-रचना जिस जन-समुदाय के हाथों में रही होती है, उसकी खपत जिन माध्यमों से और जिन लोगों के बीच होती है, उसकी भी एक रिवाज़ होती है जिसे 'परम्परा' कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। इस प्रकार साहित्य-रचना को दिशा देने वाली परम्परा बहुमुखी होती है।

यदि इस संदर्भ में परम्परा का आशय कृतियों की परम्परा या जातीय कृतित्व की प्रवृत्तियों की निरन्तरता से ही माना जाए तो उसे साहित्यिक परम्परा कहना अधिक समीचीन होगा; लेकिन किसी भी साहित्य के विकास को एकरूपता के खूंटे से बाँध कर देखना असंगत होगा। 'हमारे यहाँ कथा-साहित्य की परम्परा इस प्रकार की रहती है', यह कहने का अर्थ होगा कि हमने परम्परा को एक निश्चित स्वरूप दे डाला है। उसमें जो नहीं अटता वह विजातीय मान लिया जाएगा। यदि साहित्यिक परम्परा का यह आशय समझा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गया तो अच्छा होगा कि उसे 'परम्परा' न कह कर 'रूढि' कहा जाए।

परम्परा की एकरूपता न बनी रहने के कई कारण होते हैं: (१) महान् प्रतिभाएँ परम्परा का अनुगमन करने के स्थान पर उन्हें बदलती है। (२) कभी–कभी ऐतिहासिक कारणों से परम्परा को ऐसा धक्का लगता है जिसे वह झेल नहीं पाती, उसका कायाकल्प – सा होता प्रतीत होता है। हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल आरम्भ होने के साथ मानों नये ढंग का ही साहित्य लिखा जाने लगा। विषय, साहित्यरूप और शैलो–शिल्प किसी स्तर पर उसके पास अपने पूर्वजों की कोई विरासत नहीं थी – यहाँ तक कि उसकी चिन्ताएँ नई थीं यदि परम्परा का निर्वाह उसने किया तो केवल इस अर्थ में कि मिथकों और जीवन–मूल्यों तथा आदर्शों के मामले में अपनी मिट्टी की गंध उसमें बसी रही।

लेकिन अपनी परम्परा से विचलन सरल नहीं होता। ऐतिहासिक कारणों से जब साहित्य नये रंग – ढंग अपनाता है तब पुराने रंग – ढंग का मोह एकाएक नहीं छूट जाता। कभी – कभी ऐसा भी होता है कि साहित्य के एक क्षेत्र में तो नई भंगिमा के दर्शन होते हैं, दूसरे में पुरानी परम्परा बनी रहती है। जिस क्षेत्र में परम्परा की जड़ें गहरी होती हैं, उसमें उसके मोह से मुक्त होने में समय कुछ अधिक लगता है। भारतेन्दु युग में गद्य में जो नया उठाव आया वह काव्य में कुछ समय के लिए स्थगित रहा, क्योंकि हिन्दी की काव्य–परम्परा की जड़ें गहरी थीं; लेकिन यह द्विधा अधिक दिनों तक बनी नहीं रह सकी। अन्ततः काव्य ने भी गद्य के समान नई दिशा ग्रहण की और उस क्षेत्र में भी वह परम्परा से दूर निकल गया।

साहित्य की परम्परा का विचार करते समय प्रायः किसी भाषा का अपना साहित्य एक इकाई के रूप में हमारे सामने रहता है और हम उस इकाई के भीतर परम्परा की खोज करते हुए यह मानते हैं कि उस भाषा में आगे आने वाले साहित्य की रचना उसी भाषा के पूर्ववर्ती साहित्य की परम्परा में हुई। इस तरह की इकाई के भीतर परम्परा युगीन प्रवृत्तियों को भी लाँघ जाती है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बतलाया है कि किस प्रकार आदिकालीन साहित्य–रूपों की निरन्तरता भक्तिकाल तक में बनी रही। लेकिन यह भी होता है कि भिन्न भाषा का पूर्ववर्ती साहित्य कालान्तर में उदित अपेक्षाकृत नई भाषा के साहित्य के लिए अपनी विरासत छोड़ जाता है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का दाय हिन्दी साहित्य को मिला है। इस अर्थ में परम्परा साहित्यिक निरंतरता में भाषिक अन्तराल को पाटती हे। इस प्रकार की निरन्तरता भाषिक अनुक्रम के अभाव में भी सम्भव है। आधुनिक काल में हिन्दी–साहित्य ने जिस परम्परा की भूमि पर पदार्पण किया वह रचना–दृष्टि के हिसाब से अभार-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तीय थी, लेकिन उसी से उसने जीवन-शक्ति ग्रहण की। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि परम्परा भाषिक इकाई के बाहर से ही नहीं, राष्ट्रीय इकाई के बाहर से भी किसी साहित्य को सींच सकती है। इसलिए जब साहित्य-रचना के संदर्भ में परम्परा की बात की जाए तो देशी-विदेशी, जातीय-विजातीय जैसी अवधारणाओं का परित्याग कर के चलना उचित होगा। विज्ञान के आविष्कारों के फलस्वरूप अब जब दुनिया छोटी हो गई है तो हमारी मानसिकता भी आज नहीं तो कल तो बदलनी ही है। कुछ दिनों बाद यह लग सकता है कि हमारी साहित्यिक परम्परा के संदर्भ में भाषिक परिधि की ही नहीं राष्ट्रीय परिधि की चर्चा भी अप्रासंगिक है। गेटे ने सार्वभौम साहित्य या विश्वसाहित्य की परिकल्पना प्रस्तुत करते हुए आज से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले यह बात कही थी।

आज राष्ट्रों की अपनी-अपनी समस्याओं के साथ विभिन्न राष्ट्रों की सामने की समस्याएँ भी हैं। भूख, गरीबी, सत्ता का दुरुपयोग और क्रूरता ऐसी समस्याएँ हैं जिनसे सम्पूर्ण मानव-जाति पीडित है। राष्ट्रीय या जातीय परम्परा के नाम पर कोई साहित्य उनकी अनदेखी नहीं कर सकता। संसार के विभिन्न भागों में लिखे जा रहे साहित्य में शिल्प भी एक स्थान से दूसरे की यात्रा कर रहा है। इस स्थिति में कोई साहित्य अपनी खिचडी अलग नहीं पका सकता। परम्परा-निर्वाह के लिए उसे अन्य साहित्यों की छूत से बचाने हेतु अपने खाल में समेटकर नहीं रखा जा सकता। जब वस्त्रों और खान पान तक में हम राष्ट्रीय सीमाओं को लांघ रहे हैं तब साहित्य में कोई परम्परा के पालन पर जोर दें तो उसे गम्भीरता से नहीं लिया जा सकता।

अपनी भूमि से जुडे रहने के आग्रह से साहित्य बहुत बार लोक-परम्परा से सम्बल प्राप्त करने का प्रयास करता है। नाटक के क्षेत्र में लोकनाट्य-पद्धतियों का समावेश हिन्दी में इधर प्रचुरता से हो रहा है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी लोककथाओं की छटा कभी-कभी देखने में आती है। इन प्रयत्नों का परम्परा से कोई लेना-देना नहीं है। इसके विपरीत इन प्रयासों का सम्बंध प्रयोगों से अधिक है। ये परम्परा के अन्तर्गत तो इसलिए नहीं आते कि प्राचीन भारतीय साहित्य या उसके बाद प्राकृत-अपभ्रंश आदि के शिष्ट साहित्यमें उनके नमूने नहीं मिलते। सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी और किस्सा तोता-मैना आदि मूलत: यदि प्राचीन रचनाएँ मानी जाएँ तो वे लोकसाहित्य के विकास के अन्तर्गत ही आती हैं। इस तरह की रचनाएँ भारत में ही नहीं मिलती, संसार के अन्य देशों में भी लोकसाहित्य के ये रूप उपलब्ध हैं, लेकिन वे साहित्यिक परम्परा का निर्माण नहीं करतीं। हिन्दी में आज भी वे निर्विवाद रूप से साहित्य का अंग नहीं मानी जातीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विजयदान देथा की कहानियों को अनेक लोग लोककथाओं का संशोधित सम्पादित रूप मानते हैं और उन्हें देथा की सर्जनात्मक उपलब्धि के रूप में स्वीकार नहीं करते। वस्तुत: इधर साहित्य में लोकसाहित्य की जो रंगत कभी-कभी दिखलाई देती है, वह परम्परा के प्रति किसी लगाव का परिणाम न हो कर एक फैशन की द्योतक है। जैसे, वेश-भूषा में देहाती ढंग का वस्त्र-विन्यास देखने में आता है वैसे ही साहित्य में भी लोकसाहित्य का संस्पर्श कभी-कभी दिखलाई देता है। देहाती ढंग के वस्त्र ग्राम्य परम्परा के अन्तर्गत आने पर भी शहरी जीवन में फैशन रूप में ही अपनाए गए हैं। वैसे ही लोकनाट्य पद्धतियाँ और लोककथाएँ लोक-परम्परा का अंग होने पर भी साहित्य में फैशन बन कर ही आई है।

परम्परा रेल की पटरी नहीं है जिससे उतरते ही साहित्य की गाडी न चले, लेकिन वह विकास की दिशा की सूचक मानी जा सकती है। निस्संदेह वह एक निश्चित विकास-विन्दु तक साहित्य के पहुँचने की सूचक अवश्य होती है। वस्तुत: परम्परा परिवर्तनों के भीतर निरन्तरता को दर्शाती है। परम्परा परिवर्तनों को अस्वीकार नहीं करती। उसमें निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तन इस तरह जुडते हैं कि उनके जुड़ने से एक पहचान बनती है। जब परिवर्तन इतने आकस्मिक और आमूलचूल हों कि निरन्तरता लुप्त होती प्रतीत हो और लगे कि 'एक आरम्भ नवीन' की स्थिति आ गई है तो एक परम्परा का अन्त और दूसरी का उदय मान लेना चाहिए; यद्यपि उस स्थिति में भी पुरानी और नई परम्परा के बीच एक क्षीण-सा सम्बंध-सूत्र हो सकता है जिसे प्रयत्नपूर्वक खोज निकाला जा सकता है।

कभी-कभी जब वस्तु और रूप दोनों में साहित्य अपनी विकासधारा से अलग हट कर नये आरम्भ की सूचना देता प्रतीत होता है तब भी वह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के स्तर पर —— सरोकारों और जीवन-मूल्यों के स्तर पर —— अपने पूर्ववर्ती साहित्य से जुड़ा हुआ हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य में परम्परा विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में बनती है। कोई साहित्य विषय-वस्तु के स्तर पर एक परम्परा की सृष्टि करता है और विधा तथा शिल्प के स्तर पर दूसरी परम्परा का विकास कर सकता है। विजयदान देथा की कहानियाँ विषयवस्तु के स्तर पर जनवादी परम्परा में आती हैं तो उनका विधागत स्ववरूप लोक की परम्परा में (यदि वे वास्तव में लोक कथाएँ नहीं है तो)। इसलिए किसी साहित्यिक परम्परा की विशुद्धता की बात न करके उसे संश्लिष्ट रूप में देखना चाहिए।

साहित्यिक परम्परा अपनी संश्लिष्टता में वैविध्य को अंगीकार करती है जो उसके विभिन्न घटकों के अनुपात के बदलते जाने का अपरिहार्य परिणाम है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसलिए वह प्रयोगों का रास्ता नहीं रोकती। यदि प्रयोग नवनवोन्मेष की देन है तो साहित्य में उनका रास्ता सदा खुला रहता है। हिन्दी के प्रयोगवादी कवि ही 'नई राहों के अन्वेषी' नहीं थे, प्रत्येक रचनाकार अपने लिए नई राह बनाता है। परम्परा के अब तक के विकास को वह अपने प्रयोगों से और आगे ले जाता है। इसी अर्थ में 'अज्ञेय' का यह कथन सही माना जा सकता है कि 'प्रयोग का कोई वाद नहीं होता'।

लेकिन यह उक्ति वहाँ लागू नहीं होती जहाँ प्रयोग बौद्धिक खिलवाड़ के लिए किये जाते हैं, जैसे कि प्रयोगवादी काव्यांदोलन के दौरान कहीं–कहीं दिखलाई दिए थे। इस तरह के प्रयोग अनूठेपन के चक्कर में अटपटापन पैदा करते हैं। उनके प्रति आग्रह जब एक आंदोलन का हिस्सा बन जाता है तो प्रयोग प्रयोग न रह कर प्रयोगवाद में बदल जाता है। जब रचनाकार प्रयोगशील से बढ़ कर प्रयोगवादी हो जाता है तो उसकी रचना परम्परा को आगे ले चलने के स्थान पर उसे भटका देती है।

यह नहीं समझना चाहिए कि प्रयोग शिल्पगत ही होते हैं। वास्तविक प्रयोग रचना–दृष्टि में परिवर्तन का परिणाम होते हैं और नए विषयों, उनके साथ नए ढंग के बरताव और नूतन शिल्प में दिखलाई देते हैं।

रचना–दृष्टि का नयापन रचनाकार की मौलिकता को प्रेरित करता है, लेकिन पाठक के लिए वह कठिनाई पैदा करता है। पाठक अब तक की परम्परा से परिचित रहे होते हैं, और नए प्रयोग उनके लिए अप्रत्याशित होते हैं। इसी लिए नये काव्यान्दोलनों को आरम्भ में प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। फिर भी रचनाकार यह सोच कर अपने रास्ते पर डटा रहता है कि समय निरवधि है और पृथ्वी विपुला है, कभी-न कभी और कहीं न कहीं तो कोई ऐसा होगा जो उसके रचना-कर्म का सही मोल आँक सकेगा। बहुत जल्दी ही उसकी यह आशा पूरी होती है जब पाठकों की नई पीढी सामने आती है जिसकी रुचि और समझ पूर्ववर्ती परम्परा से बँधी न हो कर नए प्रयोगों के स्वागत के लिए खुली होती है। वह नए काव्यांदोलन के प्रतिरोध को क्षीण करती है। छायावाद और नई कविता, दोनों को आरम्भिक प्रतिरोध के बाद ही प्रतिष्ठा मिली।

यह कहा जा सकता है कि प्रतिरोध पर विजय उन्हीं प्रयोगों को मिलती है जो नवोन्मेष का परिणाम होते हैं। खिलवाड के तौर पर किए जाने वाले प्रयोगों का मजाक ही बनता है। प्रयोगवादी काव्यांदोलन के दौरान जो कई अटपटी कविताएँ लिखी गई वे आज भी उद्धृत होती हैं तो रचनाकार की सर्जनात्मक उपलब्धि के उदाहरण देने के लिए, प्रयोगवादी धारा को बेतुकी सिद्ध करने के लिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक प्रवाह के साथ कंकड पत्थर रहते हैं। कंकड-पत्थरों के विना किसी प्रवाह का अस्तित्व शायद नहीं होता। पर उन्हें ले कर प्रवाह को घटिया बतलाना उचित नहीं है। वे तो उसकी वेगवती गति के परिणाम होते हैं हिन्दी की प्रयोगवादी काव्यधारा में मिलने वाली अटपटी रचनाएँ नयेपन के लिए रचनाकारों के उत्साहातिरेक का पता देती हैं। यदि उनके मन में यह उत्साह नहीं रहा होता तो नई कविता को वह भूमि नहीं मिलती जो उसे प्रयोगवाद के अन्तर्गत किए गए प्रयोगों ने उपलब्ध कराई। निस्संदेह खिलवाड प्रतीत होनेवाली प्रयोगवादी कविताएँ उसकी उपलब्धियाँ नहीं हैं, लेकिन उन्होंने उपलब्धियों को आधार प्रदान अवश्य किया है। स्वयं श्रेय से वंचित रह कर श्रेय पाने वाली रचनाओं के पथ में वे बिछी हैं। उनका मूल्य इसी दृष्टि से सही तरह से समझा जा सकता है।

इस तरह देखने पर यही प्रतीत होता है कि इस कोटि की रचनाओं को परम्परा–विच्छिन्न मानने के स्थान पर परम्परा के नए मोड़ का निर्माण करने वाली समझना चाहिए। इस स्थिति में परम्परा और प्रयोग परस्पर विरोधी न रह कर परस्पर सहयोगी बन जाते हैं।

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपुर – ३४२००१
(राजस्थान)

जगदीश शर्मा

टिप्पणी

१.– मॉरिस वाइज्ज की पुस्तक प्राम्बलम्स इन आर्ट में संगृहीत विन्सेंट टॉमस का लेख 'क्रिएटिविटि इन आर्ट' पृ. ३७७.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यूनानी नीतिशास्त्र (१)

सुकरात–पूर्व पाश्चात्य नीति–दर्शन की विवेचना : पाइथागोरस, हेराक्लाइटस और डेमॉक्रिटस

यूरोप के नीतिशास्त्रीय चिंतन का आरंभ हम ई. पू छटी शताब्दी में मान सकते हैं, जब यूनान में सुप्रसिद्ध 'सात महात्माओं'[1] ने न केवल प्रकृति के संबंध में, बल्कि आचरण के संबंध में भी अपने असंबद्ध विचार सूत्र और नैतिक शिक्षाओं के रूप में प्रस्तुत किए। प्लेटो और अरस्तू ने अपनी कृतियों में इनके संबंध में जो संदर्भ दिए हैं उनसे नीतिशास्त्रीय विचार पर इनका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। किन्तु स्पष्ट ही इनके विचारों को पारिभाषिक अर्थ में नैतिक दर्शन या नीति–मीमांसा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। थैलीज (लगभग ६४०-५६० ई. पू.), जो सात महात्माओं में से एक था, यूनान का प्रथम भौतिक दार्शनिक माना गया है; किन्तु आचरण संबंधी उसके कथनों में कोई दार्शनिक-चरित्र नहीं देखा जा सकता। वस्तुत: थैलीज से सुकरात तक के दार्शनिक, जिन्हें हम प्राय: 'सुकरात–पूर्व दार्शनिक' कहते हैं मुख्यत: भौतिक या तत्त्व-मीमांसात्मक चिंतन तक ही सीमित रहे। बेशक इनमें सोफिस्ट अपवाद हैं। इन तत्त्वमीमांसात्मक अभिरुचि के दार्शनिकों में यदि किन्हीं विचारकों का चिंतन नीतिशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है तो वे केवल पाइथागोरस, हेराक्लाइटस और डेमाक्रिटस ही हैं।[2] इन दार्शनिकों में हमें किसी हद तक नीतिशास्त्र के उत्तरवर्ती क्रमश: तीन संप्रदायों का पूर्वाभास दिखाई देता है – ये हैं प्लेटोवाद, स्टोइकवाद और ऐपीक्यूरियसवाद।

पाइथागोरस (लगभग ५८०–५०० ई. पू.)

हमें पाइथागोरस के जीवन का कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक वृत्त उपलब्ध नहीं है। इतिहासकारों ने उसकी जीवनियां लिखी हैं – वे सभी अतिरंजनाओं से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पूर्ण हैं। इसलिए उसका जीवन किंवदन्तियों का विषय बन कर रह गया है जिसमें इतने अधिक आश्चर्य, दन्तकथाएँ, चमत्कार और अद्भुत कार्य जुड़ गए हैं कि ऐतिहासिक पाइथागोरस को उसमें से खोज निकालना एक दुरूह कार्य है। उसके बारे में सर्वाधिक विश्वसनीय बात यह है कि वह ऐसी व्यवस्था, जिसे पाइथागोरस संप्रदाय कहा जा सकता है, का प्रणेता था जो आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करती थी और जिसका प्रमुख रूप से नैतिक–धार्मिक उद्देश्य था। स्पष्ट ही उनका अपना कोई सच्चे अर्थ में नीति–दर्शन नहीं था किन्तु उसका कथन मात्र ही – इप्से दीक्षित [३] – उसके शिष्यों के लिए नैतिक आदेश होता था।

पाइथागोरस की दिलचस्पी अपने अन्य सभी समकालीन दार्शनिकों की तरह निष्काम वैज्ञानिक खोज में इतनी नहीं थी जितनी कि आत्मोपलब्धि में थी। उसके लिए दर्शन एक ऐसी जीवन–पद्धति का आधार है जो आत्मा को मोक्ष की ओर ले जाता है। मनुष्य और उसका जीवन के अन्य रूपों के विश्व से संबंध ही स्थापित करना पाइथागोरस के दर्शन का केन्द्र–बिन्दु है। पाइथागोरस और उसके अनुयायी यूनानी देवता अपोलो की पूजा करते थे। अपोलो का आदर्श संयमन (अतिवादिता का त्याग) माना गया है। पाइथागोरस के अनुयायियों का विश्वास था कि पाइथागोरस स्वयं अपोलो का ही अवतार था।

पाइथागोरस का नैतिक दृष्टिकोण बहुत कट्टर और तपस्यामूलक था। वह अपने संप्रदाय के सभी सदस्यों से जीवन में अत्यधिक शुद्धता की अपेक्षा करता था। वह यह मानता था कि शरीर आत्मा का बंदीगृह है और इससे मुक्त होने के के लिए आत्मशुद्धि का जीवन नितांत आवश्यक है। यह शुद्धिकरण बाह्य और आंतरिक दो प्रकार का है। बाह्य में शरीर शुद्धि के लिए मिताहार और ब्रह्मचर्य पालन करने पर, और आंतरिक में ध्यान, समाधि एवं संगीत द्वारा आत्मशुद्धि पर पाइथागोरस ने बल दिया है। यहां यह जानना दिलचस्प होगा कि पाइथागोरस के आत्मशुद्धि के सिद्धान्त के मूल में चिकित्साशास्त्र है।

पाइथागोरस के युग में शरीर की शुद्धि के लिये औषधि और आत्मा को शुद्ध करने के लिए–मानसिक रोगों के निवारण हेतु–संगीत का प्रयोग किया जाता था। प्लेटो के फीडो नामक संवाद में, जिसमें पाइथागोरस के सिद्धान्तों का वर्णन है, दर्शन को 'सर्वोत्तम संगीत' कहा गया है, और यह निश्चित है कि 'फिलासफी' शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम पाइथागोरस ने ही किया था। जो भी हो, संगीत से आत्मिक–शुद्धि की बात और सर्वोच्च संगीत को दर्शन कहना–पाइथागोरस के गूढ नैतिक चिन्तन की ओर स्पष्ट संकेत हैं। [४]

पाइथागोरस के पुनर्जन्म के सिद्धान्त में एक स्पष्ट नैतिक आयाम भी है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को बार बार जन्म लेना और मरना पड़ता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसे अपने कर्मों के अनुसार पशु-योनियों में भी जन्म लेना पड़ सकता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, पाइथागोरस शरीर को आत्मा का कारागार मात्र मानता था और उसकी यह दृढ़ आस्था थी कि इस कारागार से – विषयान्तर से पुनर्जन्म से–मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। पाइथागोरस ने इस मुक्ति को प्राप्त करने के दो मार्ग बताए जिन्हें हम भारतीय दर्शन की शब्दावली में कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग कह सकते हैं। कर्म-मार्ग संयम, साधना, धार्मिक संस्कार और कर्मकांड का जीवन है तथा ज्ञान-मार्ग बौद्धिक चिंतन, विज्ञान और दर्शन के निरंतर अभ्यास का जीवन है।

पाइथागोरस की जीवन-पद्धति में सहानुभूति तथा बन्धुत्व के लिए प्रमुख आग्रह है। जीवन अंततः एक है और प्रत्येक जीव में एक अनिवार्य बान्धुत्व है। पाइथगोरस का यह विश्वास न केवल उसके पुनर्जन्म का आधार है बल्कि मांसाहार के विरुद्ध उसकी दलील भी है। वह सोचता था, हो सकता है भेड़ के रूप में यहीं कोई अपना पुरखा ही न हो!

पाइथागोरस के लिए न केवल समस्त जीव जगत्, बल्कि पूरा विश्व ही एक सजीव संचालित प्राणी है और इसीलिए हम सब एक बान्धुत्व की भावना से बन्धे हुए हैं। बेशक सारा विश्व एक, शाश्वत और दिव्य है किन्तु मनुष्य अनेक और मरणशील हैं। फिर भी वे सब सर्वव्यापी और दिव्य आत्मा के ही मार्ग हैं। मनुष्य को इसीलिए पवित्र और संस्कारित बनना चाहिए ताकि वह विश्वात्मा में, जिसका कि वह हिस्सा है वापस लौट सके। जब तक ऐसा नहीं होता मनुष्य पुनर्जन्म लेने के लिए, और कोई भी नया शरीर धारण करने के लिए बाध्य है।

पाइथगोरस की पुनर्जन्मवाद में दृढ़ आस्था थी। किन्तु उसके समकालीन जीनोफेनीज ने इस सिद्धान्त का उल्लेख कुछ परिहास के साथ किया है। उसके अनुसार पाइथागोरस ने एक बार किसी व्यक्ति को एक कुत्ते को मारते हुए देखा। उसे उन्होंने तुरंत मारने से रोका और कहा कि इस कुत्ते की आवाज से मैं यह बता सकता हूं यह मेरा मित्र है जिसने अशुभ जीवन यापन करने के कारण कुत्ते के रूप में जन्म लिया है। [५]

इस दृष्टांत को यदि हम पुनर्जन्म के उदाहरण के रूप में न भी लें तो भी इससे पाइथागोरस का जीव-प्रेम दृष्टिगोचर होता है। पाइथागोरस संप्रदाय में मांसाहार के निषेध पर भी बल दिया गया था जो शायद बाद में विकसित हुआ हो क्योंकि हम जानते हैं कि पाइथागोरस ने स्वयं अपने लिए मांसाहार को पूरी तरह से वर्जित नहीं माना था। अपने जीव-प्रेम के बावजूद। [६]

साधना और ज्ञान की दृष्टि से पाइथागोरस ने व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। (१) धन-प्रेमी (लवर्स आफ गेन), ये निकृष्ट हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाइथागोरस इन्हें विषयासक्त कहता है। (२) यश-प्रेमी (लवर्स ऑफ आनर); ये यश-लोलुप व्यक्ति हैं जो सम्मान के भूखे होते हैं। पाइथागोरस इन्हें मध्यम-श्रेणी का मानता है और (३) प्रज्ञान-प्रेमी (लवर्स ऑफ विज़्डम), ये उत्तम श्रेणी के व्यक्ति होते हैं जो सतत साधना, बौद्धिक चिंतन, विज्ञान और दर्शन का जीवन व्यतीत करते हैं और परम शुद्धि द्वारा पुनर्जन्म से स्वयं को मुक्त कर लेते हैं।

यहां यह स्पष्ट कर देना भी उचित ही होगा कि व्यक्तियों के गुणगत विभाजन का पाइथागोरस का यह सिद्धान्त ही बाद में प्लेटो के आत्मा के विभाग-त्रय के मूल में रहा है।

पाइथागोरस ने न केवल आत्मशुद्धि और आत्म-परीक्षण पर बल्कि किन्हीं विशेष सद्गुणों पर भी बल दिया है। इस प्रसंग में संयमन, साहस, विश्वसनीय मित्रता और शासन और कानून के आज्ञापालन के उनके नैतिक निर्देश विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें हम उनके उस प्रयत्न को, जो मानव जीवन को ईश्वर के सदृश बनाता है, स्पष्ट देख सकते हैं। लेकिन सद्गुणों की उनकी ये शिक्षाएं स्पष्ट ही दार्शनिक शैली में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। वे धार्मिक रूप से मताग्रही बल्कि पीर-पैगम्बरी तक, समझी जा सकती हैं।[७] लेकिन कुछ सद्गुण, जिन्हें उन्होंने अपने 'संख्या-सिद्धान्त' से संबद्ध किया है; दार्शनिक रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।

आइओनिया के विचारकों ने दृश्य जगत् के समाधान के लिये प्रकृति की शरण ली थी। जल और वायु को क्रमशः थेलीज और अनैक्सिमिनीज ने जगत् का मूल कारण बताया था। इन्हें उन्होंने अंतिम सत्ताएं या प्रथम सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया था। जगत् की अंतिम व्याख्या के लिये पाइथागोरस जल और वायु जैसे तत्त्वों से संतुष्ट नहीं था। वह और अधिक गहराई में जाना चाहता था। सामान्यतः हम विविध वस्तुओं को उनके गुणों द्वारा पहचानते हैं। किन्तु प्रायः ये गुण सर्वव्यापी नहीं होते। किसी वस्तु में एक गुण पाया जाता है तो दूसरी में दूसरा। कुछ पत्तियां हरी होती हैं, किन्तु सभी पत्तियां हरी नहीं होती। यही बात अन्य वस्तुओं और गुणों पर भी लागू होती है। किन्तु संख्या एक ऐसी वस्तु है जो संसार की सभी भौतिक और अभौतिक वस्तुओं में पायी जाती है। हम किसी ऐसे संसार की कल्पना नहीं कर सकते जहां संख्या न हो। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि संख्या वस्तुओं का एक बहुत महत्त्वपूर्ण आयाम है और विश्व की संरचना का यह एक मूलभूत अंश है। पाइथागोरस ने वस्तुओं के इसी पक्ष पर विशेष बल दिया है।

पाइथागोरस के अनुसार विश्व में सर्वत्र अनुपात, व्यवस्था और संवाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विद्यमान है। और इन सभी का संबंध संख्या से है। उदाहरण के लिए अनुपात बनाते समय हमें एक संख्या का दूसरी संख्या से अनिवार्यतः संबंध बताना पड़ता है। इसी प्रकार व्यवस्था भी संख्या द्वारा प्रदर्शित की जाती है। जब हम यह कहते हैं कि सेना की टुकडी में व्यवस्था है तो हमारा तात्पर्य होता है कि प्रत्येक सैनिक एक दूसरे से एक निश्चित दूरी पर खड़ा है और उनके बीच की दूरी गज, फुट, इंच की संख्याओं से नापी जा सकती है। इसी प्रकार वाद्य-यंत्र में स्वर-संवाद का अभिप्राय भी स्वरों के बीच एक निश्चित क्रम है। पाइथागोरस और उसके अनुयायी शायद पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह खोज की कि संगीत की समस्वरता संख्याओं पर आधारित है।

इन सब बातों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकालना तो स्वाभाविक है कि संख्या विश्व एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है और उसमें वह मूलभूत है। लेकिन पाइथागोरस इससे कहीं आगे बढ़ कर यह घोषणा करता है कि विश्व संख्याओं से ही निर्मित है। संख्या विश्व-आधार है, उसका उपादान कारण है।

पायथागोरस ने अपने इस सिद्धान्त का कि 'सत्ता संख्या है' लगभग सभी क्षेत्रों में प्रयोग किया। यह प्रयोग स्पष्ट ही पूर्णतः मनमाना और विचित्र है। इसके पीछे कोई ठोस तर्क नहीं है। उदाहरणार्थ, हमें यह बताया गया है कि विविध संख्याये विविध वस्तुओं/प्रत्ययों/सद्गुणों की प्रतीक हैं – १ का अर्थ बिंदु; २ का अर्थ रेखा, ३ का अर्थ समतल, ४ का अर्थ ठोस, ५ का अर्थ भौतिक गुण; ६ का अर्थ सजीवता और सात का अर्थ बुद्धि, स्वास्थ्य, प्रेम और प्रज्ञा है। संख्याओं को इस तरह का महत्त्व देना मनोरंजक अवश्य हो सकता है, किन्तु इसमें किसी गहरे दार्शनिक अर्थ को तलाश करना निरर्थक ही है।

तथापि न्याय जैसे सद्गुण की जो पाइथागोरस ने संख्या द्वारा व्याख्या की है वह केवल दिलचस्प ही नहीं, दार्शनिक रूप से अर्थवान् भी है। पाइथागोरस का यह कथन कि 'न्याय' (समान रूप से प्रतिकार के अर्थ में) का सारतत्त्व एक वर्ग-संख्या है निश्चय ही आचरण के क्षेत्र को विश्व के गणितीय दृष्टिकोण से समझने का एक गंभीर प्रयास है। न्याय यदि समान प्रतिफल प्रदान करने वाला सद्गुण है (अर्थात्, यदि किसी व्यक्ति को मैं घायल करूं तो न्याय कहता है कि मुझे भी ढंग से ओर उसी मात्रा में घायल किया जाए) तो उसका प्रतीक वही संख्या हो सकती है जो समान के लए समान प्रतिफल प्रदान करे। अब चूंकि यह कार्य वर्ग-संख्याएँ ही कर सकती हैं अतः ये ही न्याय की प्रतीक हैं। ४-दो और दो का गुणनफल है, अतः यह समान के लिये समान लौटाती है। इस प्रकार, ४ न्याय का प्रतीक है। ९ भी यही कार्य करता है जो तीन और तीन का गुणनफल है। अतः पाइथागोरस के कुछ अनुयायी ९ को न्याय का प्रतीक मानते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाइथागोरस के इसी प्रकार अन्य कथन भी इस बात का संकेत देते हैं कि उसने विश्व को किस प्रकार संख्या और अनुपात की दृष्टि से देखा है। पाइथागोरस इस अर्थ में भी प्लेटो का पूर्वानुमान है। उसके लिए सद्गुण और स्वास्थ्य 'सुसंगतियां' (हार्मनीज) हैं, मित्रता, सुमेल – समानता (हारमोनिक ईक्वेलिटी) है। उसके द्वारा शुभ को इकाई, सीमा और ऋजुता इत्यादि के अन्तर्गत रखना तथा अशुभ को विपरीत गुणों में देखना हमें प्लेटो के उस दृष्टिकोण की याद दिलाता है जिसके अनुसार मानवी आचरण को हमें उसी अनुपात में शुभ मानना चाहिए जिस हद तक वह अति की वर्जना करता है–ठीक उसी तरह जैसे बाह्य प्रकृति और कलात्मक कृतियां अपने अच्छे परिणामों के लिए किन्हीं तत्त्वों की अेक निश्चित मात्रा पर निर्भर करती हैं। [७]

पाइथागोरस यूनान का प्रथम ऐसा विचारक है जिसके दर्शन का नीतिशास्त्रीय महत्त्व स्वीकार किए बिना नहीं रहा जा सकता। वह आधुनिक अर्थ में स्पष्ट ही एक नीतिशास्त्री नहीं है क्योंकि न तो उसने नैतिक पदों की विवेचना की है और न ही नैतिक मूल्यों की कोई दार्शनिक समीक्षा ही प्रस्तुत की है। किन्तु उसने एक सुस्पष्ट जीवन–पद्धति को स्वीकार किया है और उसकी सभी नैतिक शिक्षाअें उसी के अनुरूप हैं। वे अविचारित और असंबद्ध नहीं हैं। उनका ठोस आधार वह जीवन–पद्धति है जिसका अंतिम लक्ष्य मानव आत्मा को पुनर्जीवन से मुक्ति दिलाना है, ताकि वह विश्वात्मा में, जिसका वह भाग है, लौट सके।

इसके अतिरिक्त, पाइथागोरस प्लेटो के नीतिशास्त्र के अनेक पक्षों का पूर्वानुमान है। और इसलिए भी उसका नीतिशास्त्रीय महत्त्व अनदेखा नहीं किया जा सकता। पाइथागोरस का पुनर्जन्मवाद प्लेटो में 'स्मृति सिद्धान्त' का आधार बना है जिसका मेनो और फीडो नामक संवादों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन वस्तुओं का हम इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार करते हैं वे उन वस्तुओं का स्मरण कराती हैं जिन्हें आत्मा ने इस जन्म के पूर्व अशरीरी अवस्था में देखा था। उदाहरण के लिए हमने सुन्दर फूल या अच्छा व्यक्ति भले ही देखा हो किन्तु सुन्दरता या अच्छाई नाम की कोई चीज कभी नहीं देखी; किन्तु हम जानते हैं कि सुन्दरता और अच्छाई क्या है। और इन इन्द्रिय–प्रदत्त वस्तुओं की सुन्दरता आदि की अपूर्णता का बोध हमें स्मृत–तत्त्वों से तुलना करके ही मिलता है।

इसी तरह पाइथागोरस का नैतिक आधार पर व्यक्तियों का तीन श्रेणियों में विभाजन भी प्लेटो द्वारा सुझाए गये आत्मा के तीन पक्षों में विभाजन का पूर्वाभास है। धन प्रेमी, यश–प्रेमी और प्रज्ञान–प्रेमी व्यक्तियों के ठीक अनुरूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही प्लेटो आत्मा को इच्छा, ओजस्विता और प्रज्ञान पक्षों में विभाजित करता है। और इन तीनों की ही सुसंगति को ही व्यक्तिगत स्तर पर सर्वोच्च नैतिकता (न्याय) समझता है।

इतना ही नहीं, पाइथागोरस की तरह ही, किन्तु कदाचित् अधिक मर्यादित और तर्कसंगत रूप में, प्लेटो ने भी विश्व के प्रति (और, इसलिए; नोतिशास्त्र के प्रति भी) एक गणितीय दृष्टि अपनाई है। इस अर्थ में भी पाइथागोरस का दृष्टिकोण प्लेटो का पूर्व–संपादित रूप है। जिस तरह संख्याओं को आधार मान कर पाइथागोरस ने सद्‌गुणों को 'हारमनी' कहा है ठीक उसी तरह मानवीय नैतिक आचरण के लिए प्लेटो भी अतिवादिता से बचने के लिए आग्रह करता है।

हेराक्लाइटस (लगभग ५३०–४७० ई. पू.)

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है आरंभिक यूनानी दार्शनिकों ने प्रमुख रूप से भौतिक जगत् के स्वभाव को जानने पर बल दिया। वे विशेषकर इस प्रश्न से कि जगत् किस तत्त्व से निर्मित है, जूझते रहे। पाइथागोरस की खोज का भी प्रमुख विषय यही था और उसने जगत् को संख्या से निर्मित बताया। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं उसके इस सिद्धान्त का अर्थ–विस्तार नीतीशास्त्र के क्षेत्र में भी प्रवेश कर जाता है।

पाइथागोरस के अतिरिक्त दो अन्य दार्शनिक भी ऐसे हुए हैं जिनके बारे में हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ये भी—बावजूद इसके कि ये प्रमुख रूप से भौतिक दार्शनिक हैं—नीतिशास्त्रीय समस्या को स्पर्श करते हैं। ये हैं–हेराक्लाइटस और डिमाक्रीटस, जिन्हें कभी कभी क्रमशः 'रोता हुआ' और 'हंसता हुआ' दार्शनिक कहा गया है। ये दोनों उन नीतिशास्त्रीय संप्रदायों के प्रणेता माने जा सकते हैं जिनका बाद में स्टोइकवाद और एपीक्यूरसवाद के नाम से विकास हुआ। जिस तरह पाइथागोरस के विचारों को कम से कम आंशिक रूप से प्लेटोवाद का पूर्वानुमान माना जा सकता है, उसी तरह हेराक्लाइटस और डिमाक्रीटस को क्रमशः स्टोइक और एपीक्यूरसवाद का पूर्व–संस्करण कह सकते हैं।

हेराक्लाइटस का समय ईलियाई दार्शनिकों के समानान्तर है। उसने एफीसस के संभ्रांत कुल में जन्म लिया था और वहां के (एफीसस के) राजा होने की पदवी उसे मिली हुई थी। किन्तु वह राजा नाममात्र का था। उसने नाममात्र के पद को भी अपने भाई के पक्ष में त्याग दिया था।

हेराक्लाइटस स्वभाव से एकांतप्रिय था। इतना ही नहीं, दूसरों के प्रति तिरस्कारात्मक रवैया रखने के कारण वह एकाकी भी था। वह न केवल आम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदमियों को नीची नजर से देखता था बल्कि महान् व्यक्तियों की भी वह निंदा करने से बाज नहीं आता था। अपने समय के विचारकों के संबंध में वह समझता था कि उनमें बुद्धि कम है और जो है उसे पुस्तकों के पाठ ने नाकाम बना दिया। जिनोफेनीज और पाइथागोरस का उसने अनादरपूर्वक जिक्र किया है। हेसिओड (Hesiod) को वह साधारणजन की भीड़ का शिक्षक मानता है जिसे रात और दिन की भी तमीज नहीं है।' उसके कुछ कथन और कहावतें हमें शोपेनहावर की याद दिलाती हैं। वे उसी की तरह तेज और कड़ली हैं। 'गधे सोने की बजाय घास खाना पसंद करते हैं' या 'कुत्ते हर अपरिचित पर भोंकते हैं' इत्यादि। लेकिन उसके कुछ सूत्र स्मरणीय हैं। व्यावहारिक बुध्दि से ओतप्रोत हैं; जैसे 'मनुष्य का चरित्र ही उसका भाग्य है' इत्यादि।

हेराक्लाइटस के दार्शनिक लेखन का जो थोड़ा सा अंश बच गया है, उसे समझ पाना बड़ा दुरूह है। शायद इसीलिए हेराक्लाइटस को 'अंधकारमय' और 'निरानंद' दार्शनिक कह कर पुकारा गया है। सुकरात ने उसकी कृतियों के लिए कहा है कि उनमें से वह जितना समझ पाया है, वह उत्कृष्ट है और जो नहीं समझा है, वह भी वैसा ही होगा। पुस्तक पार करने के लिए एक मजबूत तैराक चाहिए। इससे स्पष्ट है कि बावजूद अपनी दुरूहता के हेराक्लाइटस एक गहन-गंभीर दार्शनिक था [१०]।

हमारे पास ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है कि हेराक्लाइटस के अंधेरे दर्शन के नैतिक सूत्र नैतिक व्यवस्था जैसी कोई चीज प्रस्तुत करते हैं लेकिन भौतिक जगत् की उसकी मीमांसा, भौतिक स्तर का अतिक्रमण कर नैतिक क्षेत्र को स्पर्श अवश्य करती है।

थेलीज ने जल और एनेग्जिमेनीज ने वायु को जगत् का मूल द्रव्य माना था। इसी तरह हेराक्लाइटस अग्नि को समस्त विश्व का मूल मानते हैं। किन्तु हेराक्लाइटस की अग्नि, जल और वायु की भांति, एक, भौतिक द्रव्य मात्र नहीं है। यह अनेकार्थी है। भौतिक स्तर पर बेशक यह वस्तुओं का उपादान है। यह सुव्यवस्थित जगत् अग्नि का ही परिणाम है। द्योलोक तो अग्नि का प्रकट रूप है ही, पृथ्वी पर भी सारा जीवन अग्नि का चमत्कार है। किन्तु अग्नि इससे कहीं अधिक अर्थवान् है; वह सर्व प्रथम परिवर्तनशीलता और प्रवाह का प्रतीक है। परिवर्तित होते रहना ही अग्नि का स्वभाव है। वह सतत प्रवाह की स्थिति में होती है। यही बात हेराक्लाइटस के अनुसार समस्त सत्ता पर लागू होती है। सब कुछ प्रवाह है। स्थिर कुछ भी नहीं है। संसार में स्थायित्व के लिये कोई स्थान नहीं है। दूसरे शब्दों में यह अग्नि (सत्ता) सतत प्रवाहिनी सरिता के समान है। यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। हैराक्लाइटस का यह सिध्दात हमें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बौद्ध दर्शन के क्षणभंगवाद का स्मरण दिलाता है—यत् सत् तत्क्षणिकम् ।

यहां यह ध्यातव्य है कि यह अग्नि जो विश्व–प्रपंच का निर्माण करती है और चिर–परिवर्तन की प्रतीक है, स्वयं अपने मूल रूप को छोड़ती नहीं । चूंकि परिवर्तन इसका स्वभाव है, परिवर्तन की प्रक्रिया में यह स्वत: परिवर्तित नहीं होती । वह स्वयं कूटस्थ है ।

पुन: हेराक्लाइटस अग्नि को संभवन का प्रतीक भी मानता प्रतीत होता है –जिसमें भाव और अभाव, दोनों ही अवधारणाओं का समावेश है । इलियाई संप्रदाय के चिंतकों ने सत्ता को भाव माना था जो एक, कूटस्थ और अपरिवर्तनीय है, तथा परिवर्तन और अनेकता को अभाव कह कर अस्वीकृत कर दिया था । हेराक्लाइटस सत्ता को न भाव मानता है न अभाव । वह उसे संभवन कहता है । संभवन भाव और अभाव दोनों का ही संमिश्रण है । वह एक अर्थ में भाव है और भाव नहीं भी है । साथ ही, अभाव है, अभाव नहीं भी है । भाव और अभाव का सतत संघर्ष ही सत्ता है; इसी को संभवन कहा गया है । अग्नि संभवन है ।

संभवन में भाव और अभाव का द्वन्द्व निहित है । वस्तुत: विश्व में प्रत्येक तत्त्व के साथ उसका विपरीत तत्त्व भी है और हर अस्तित्ववान् वस्तु ‘ विपरीत तनावों का समन्वय ’ है । समन्वय के लिअे ऐसे दो विरोधी नियमों का होना जरूरी है जो अपने विरोध के बावजूद अन्तरनिहित अेकता प्रदर्शित करते हों । विरोधी नियमों के मध्य संघर्ष और विरोध में ही उनका जीवन, अस्तित्व और भाव है।

हेराक्लाइटस ने इस विचार को अनेक तरह से व्यक्त किया है । ‘संघर्ष’, वह कहता है, ‘ सभी वस्तुओं का जनक हैं । गज और सारंगी के मिलन और बिलगाव में ही स्वरसंगति पाई जाती है । ’ हेराक्लाइटस ने इस प्रकार विरोध को सत्ता का तत्त्व बताया है । कवि होमर ने कामना की थी कि देवताओं और मनुष्यों में संघर्ष समाप्त हो जाए । इस संदर्भ में हेराक्लाइटस होमर की भर्त्सना करते हैं और कहते हैं कि यदि यह कामना पूर्ण हो गई होती तो अब तक जगत् का विनाश हो गया होता ।

हेराक्लाइटस की उपरोक्त तत्त्व–मीमांसा का नीतिशास्त्रीय निहितार्थ क्या है ? हेराक्लाइटस ने अग्नि को मूल भौतिक तत्त्व माना जो प्रकाशवान् और शुष्क है और यह कल्पना की कि इस तत्त्व का अंधकारमय और आर्द्र स्वरूप वाले विरोधी तत्त्व से निरंतर संघर्ष चलता रहता है । उसका यह भी विचार था कि इस संघर्ष को मनुष्य के जीवन में निरंतर चलते हुअे देखा जा सकता है, तथा नैतिक जीवन का महान् लक्ष्य प्रकाशवान् और शुष्क तत्त्व को विजय दिलाना है। उसका मूल नैतिक सिद्धान्त था, ‘ अपनी आत्मा को शुष्क रखो ।’ ‘ शुष्क आत्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(अथवा शुष्क प्रकाश) सर्वोत्तम होती है'। – इस लोकोक्ति का स्त्रोत शायद यही है। यहां यह कहना प्रासंगिक होगा कि आर्द्र और शुष्क– 'रक्त और निर्णय' का यह विरोध एक लंबे समय तक दार्शनिक विचारधारा में बना रहा है –

धन्य हैं वे
जिनका रक्त और निर्णय सुमिश्रित है
क्योंकि वे भाग्य की उंगलियों में बांसुरी नहीं बने
जिस पर जितना चाहे वह अपना राग अलाप सके।[१२]

आर्द्र और शुष्क, रक्त और निर्णय, के संघर्ष का क्या आशय है? यदि हम ध्यान से देखें तो पाएंगे कि शुष्क और प्रकाशमान्, जिसका प्रतीक अग्नि है, बुद्धितत्त्व है। ईलियाई दार्शनिकों की भाँति ही हेराक्लाईटस इन्द्रिय और तर्क-बुद्धि के भेद को स्वीकार करता है। परन्तु वह इसके आधार पर विपरीत अनुमान पर पहुँचता है। उसके अनुसार ज्ञानेन्द्रियां हमें स्थिरता का अनुभव कराती हैं; हमें प्रतीत होता है कि हमारा शरीर आदि स्थिर है। परन्तु ऐसा है नहीं। हम तर्कबुद्धि द्वारा ही संभवन के सिद्धान्त के ज्ञान तक पहुंच सकते हैं, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा नहीं। इसी नियम के बोध में मनुष्य का कर्तव्य है और सुख का एक मात्र मार्ग है। इसे समझने के बाद मनुष्य परम संतोष और स्वीकार प्राप्त करता है। वह समझने लगता है कि शुभ और अशुभ, सुख और दुख एक ही सत्य के दो पहलू हैं। दोनों ही सांसारिक संवाद के लिए आवश्यक हैं। शुभ और अशुभ के परस्पर संघर्ष पर वस्तुओं का अस्तित्व निर्भर है। अशुभ भी अनिवार्य है और इसका भी जगत् में अपना स्थान है। इस सत्य का दर्शन करने के पश्चात् ही व्यक्ति विश्व के सर्वोच्च नियम के विरुद्ध अपने निरर्थक संघर्ष से बच पाता है।[13]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हेराक्लाइटस मनुष्यों को उस दैवी नियम का पालन करने के लिए, कि जिससे सारे मानवी नियम घटित होते हैं, आवाहन करते हैं। वे सभी लोगों को उनमें समान रूप से पाई जाने वाली तर्कबुध्दि पर डटे रहने लिए कहते हैं, हालांकि अधिकतर लोग अपने इन्द्रिजन्य ज्ञान से उत्पन्न भ्रम के समक्ष अपनी हार मान कर अपने सुख को मात्र क्षुधा–संतुष्टि तक सीमित कर देते हैं। परन्तु मनुष्य की बुध्दिमानी इसी में है कि वह समझदारी के साथ प्रकृति के अनुरूप चले।[१४]

यहां प्रकृति के अनुरूप चलने का क्या अर्थ है? जैसा हम देख आए हैं, हेराक्लाइटस के अनुसार प्रकृति का नियम प्रवाह है, सतत परिवर्तन-शीलता है किन्तु यह प्रवाह आकस्मिक न होकर, बुध्दिमान् है। अग्नि इसी बुध्दिमान् प्रवाह का प्रतीक है। भौतिक जगत् में अग्नि प्रवाह है;

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भौतिक जगत् से परे वह कूटस्थ नियम है जो प्रवाह संभव बनाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कूटस्थ नियम को हेराक्लाइटस ने 'लोगोन' कहा। यह पराक् है। यह विश्व में बुध्दि का तत्त्व है यह विश्व का नियमन और संचालन करनेवाली व्यवस्था है। इससे कोई पार नहीं पा सकता, कोई बच नहीं सकता हू शैल एक्केप इट ?।[१५] सूर्य तक अपनी मर्यादा का उल्लंघन इसी वजह से नहीं कर पाता।

जिस तरह प्रकृति जब तक 'लोगोस' से मर्यादित और संचालित है, वह व्यवस्थित रहती है, उसी तरह मनुष्य भी नैतिक रूप में तभी तक व्यवस्थित रह सकता है जब तक वह अपनी तर्कबुद्धि से निर्यमित और संचालित होता है। मनुष्य का बुद्धितत्त्व लोगोस का ही एक अंग है और इसी का अनुसरण करना सर्वोत्तम गुण है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य का आचरण जब तक सर्वव्यापी बुद्धि के अनुसार चलता है तभी तक वह नैतिक होता है। नैतिक होने के लिये बौद्धिक जीवन यापन करना और बुद्धि के आदेश को मानना अनिवार्य है। लोगोस की अधीनता स्वीकार करना ही नैतिक होना है।[१६]

हेराक्लाइटस की इस विषयनिष्ठ नियम के प्रति अटल श्रद्धा में हम निश्चित रूप से एक 'स्टोइक' गुण पाते हैं। हम कह सकते हैं कि इस दैवी और सर्वव्यापी 'नियम' (या कहें 'दृष्टि') के प्रति अपनी आत्मा के समर्पण में ही हेराक्लाइटस को 'आत्मसंतोष' (काम्प्लेसैंसी) उपलब्ध हो सका था; जिसे उसने सर्वोच्च गुण माना है। उत्तरवर्ती स्टोइकों ने भी, यह ध्यातव्य है, परमात्मा के आदेशों में आनन्दमयी शांति की समान वृत्ति को अभिव्यक्त करने के लिए, इसी शब्द—आत्मसंतोष—का प्रयोग किया है।[१७]

हेराक्लाइटस के अनुसार, इस प्रकार, नैतिकता का अर्थ आत्मसंयम है। वे विवेकपूर्ण जीवन पर बल देते हैं। उनके अनुसार संयम—हीनता, विलासिता, मद्यपान और वैभव का जीवन ही मृत्यु है। वासनाओं की तृप्ति आत्मा के मूल्य पर होती है। हमें ऐन्द्रिय सुखों से सावधान रहना चाहिए।

सामाजिक रूप से भी नैतिकता इसी में है कि हम कानून की रक्षा करें। स्वतन्त्रता तभी सच्चे अर्थ में परिलक्षित होती है जब हम लोगोस के नियम को बिना किसी हिचक स्वीकार करते हैं। इस नियम के अनुसार जहां भद्र है वहां उसका प्रतिरूप अभद्र भी मौजूद है, सुख के साथ दुख भी मिला है। परंतु यह विरोध तो न्याय का तत्त्व है। हमारा काम है कि हम इस नियम को स्वीकारें और संतुष्ट रहें। इस व्यापक नियम की उपस्थिति में, क्या हम कुछ और कर भी सकते है ?

हेराक्लाइटस के सिद्धान्तों का दर्शन जगत् पर बहुत दूरगामी प्रभाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पड़ा। नीतिशास्त्रीय चिंतन भी अप्रभावित नहीं रहा। उनके बुद्धिवाद ने स्टोइक दर्शन के सृजन में अभूतपूर्व सहायता पहुंचाई–विशेषकर उनके कठोर नियतिवाद–विश्व के सर्वव्यापी नियम से कौन बच सकेगा–और 'लोगोस' (परावाक्य) ने स्टोइक दर्शन को बहुत प्रभावित किया। वस्तुत: 'लोगोस' स्टोइक दर्शन की जगत् में व्याप्त अंतर्यामी बुद्धि (इम्मनैंट रीजन) का ही पूर्ववर्ती सिद्धान्त है।

अंत में अब हम हेराक्लाइटस के नीतिशास्त्र के उच्चादर्शों की ओर पर्याप्त रूप से इंगित करने वाले कुछ सूत्रों को उद्धरित करते हैं।[१८]

१) लोगों को नियम के लिये वैसे ही संघर्ष करना चाहिए जैसे वे दीवालों के लिए करते है।

२) चरित्र मनुष्य का संरक्षक देवता है।

३) घर में आग लगी हो तो उसे बुझाने से भी अधिक तत्परता की आवश्यकता स्वेच्छाचारिता को शमन करने में है।

४) अपनी उत्कट वासना से संघर्ष करना कठिन है क्योंकि वह जो भी प्राप्त करना चाहती है आत्मा की कीमत पर करती हैं।

५) यदि वह एक (नैतिक व्यक्ति) सर्वोत्तम है तो वह मेरे लिए दस हजार के बराबर है।

डेमाक्रिटस (लगभग ४६०–३७० ई. पू.)

जैसे हेराक्लाइटस का नैतिक चिंतन स्टोइकवाद से संबंधित है, ठीक वैसे ही डेमाक्रिटस का नीति–दर्शन कुल मिलाकर एपीक्यूरस–वाद का पूर्वगामी है।

डेमाक्रिटस यूनानी दर्शन के इतिहास में 'हंसता हुआ' अथवा 'प्रसन्न' दार्शनिक के रूप जाना जाता है, जैसे, ठीक इसके विपरीत; हिराक्लाइटस को 'रोता हुआ' अथवा 'निरानंद' दार्शनिक कहा गया है। डेमाक्रिटस को 'प्रसन्न' दार्शनिक कहे जाने के पीछे कदाचित् यही कारण है कि वह अपने नैतिक–चिंतन में 'प्रसन्नता' को प्राप्त करना ही अंतिम लक्ष्य मानता है।

डेमाक्रिटस सुकरात–पूर्व भौतिक दार्शनिकों में कदाचित् सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक था। उसके जीवन के बारे में हम विश्वस्त रूप से बहुत कम जानते हैं किन्तु उसके संबंध में अनेक किंवदतिया हैं। वह सुकरात का अग्रज था और उसे विरासत में काफी संपत्ति मिली थी। ज्ञान की तलाश में इसलिए वह काफी सुदूर तक की यात्राएें कर सका। कहते हैं इस उद्देश्य से वह बेबीलोन, ईजिप्त और शायद भारत तक घूमा और सभी स्थानों से वह जो भी ज्ञान अर्जित कर सका, उसने किया। उसने अनेक कृतियां लिखीं और इन कृतियों की गुणवत्ता की तुलना आसानी से अरस्तू और प्लेटो से की जा सकती है। कहा जाता है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह पांचवी शताब्दी का अरस्तू था।

डेमाक्रिटस अपने भौतिक दर्शन में परमाणु सिद्धान्त के लिए विख्यात है। यह सिद्धान्त सर्वप्रथम ल्यूसियस ने प्रस्तुत किया था किन्तु इसे विकसित डमाक्रिटस ने ही किया। इस मत के अनुसार विश्व में परमाणुओं और शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परमाणु सतत गतिमान् हैं और उनके संघात से ही सभी पदार्थ निर्मित होते हैं, उनके विच्छेद से वे समाप्त हो जाते हैं।

किन्तु डेमाक्रिटस का नीति–दर्शन उसके परमाणुवाद से पूरी तरह स्वतंत्र है। उसे नैतिक क्षेत्र में परमाणुवाद का विस्तार नहीं कहा जा सकता। डेमाक्रिटस के आचार संबंधी विचारों को यदि हम पूर्णतः पुनः उपलब्ध कर सकें तो वे कदाचित् उसके परमाणुवाद से भी अधिक रोचक होंगे। किंतु उसके नाम पर पाए जाने वाले अनेक नैतिक उपदेशों में से, कौन से वस्तुतः मौलिक हैं, यह निर्धारित कर पाना अत्यन्त दुष्कर है परन्तु इसमें संदेह नहीं कि प्रसन्नता (चीयरफुलनेस) नामक कृति डेमाक्रिटस की ही रचना है तथा उसके कुछ अंश अब भी उपलब्ध हैं। [१९]

प्रसन्नता में जिस नैतिक सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है उसे संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है– 'आनंद की प्राप्ति न तो पशुसंपत्ति में है और न स्वर्ण में। (इसका) निवास स्थान आत्मा है।' मनुष्य का परम लक्ष्य यह होना चाहिए की वह अपने जीवन में अधिकतम प्रसन्नता और अल्पतम कष्ट की प्राप्ति करे।' अतः यह कहा जा सकता है कि 'सुख एवं दुख से ही आनंद निर्धारित होता है'। [२०]

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि डेमाक्रिटस 'प्रसन्नता' (हेपीनेस) को मानव जीवन का लक्ष्य मानते थे। उनके अनुसार सभी कार्य सुख की प्राप्ति और दुःख से निवृत्ति के लिए किए जाते हैं। यदि कोई वस्तु हमें सुख देने में सहायक है तो हम उसे उपयोगी मानते हैं और यदि सुख–प्राप्ति में बाधक है तो उसे अनुपयोगी। किन्तु इससे हमें यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि वे बेन्थम और मिल की भांति सुखवादी थे और ऐन्द्रिक सुख, भोग विलास, वासनाओं की तृप्ति और उपयोगिता को ही जीवन का लक्ष्य मानते थे। इसके विपरीत वे पूर्ण रूप से परंपरागत नैतिक दर्शन के अनुमोदक थे। वे गीता, बौद्ध दर्शन एवं ईसाई धर्म की भांति ऐंद्रिक सुख को क्षणिक, उत्तेजक और दुःख मानते थे और उससे निवृत्ति पर बल देते थे। उनके अनुसार सच्चा सुख आत्मिक शांति (जिसे उन्होंने 'कल्याण' (वेल बीइंग) और 'प्रसन्नता' (चीयरफुलनेस) ही नहीं बल्कि 'अशांति' (डिस्टर्बेंस) 'संत्रास' (एलाम) और 'विस्मय' (वण्डर) से मुक्ति भी कहा है) में है जिसकी प्राप्ति समृद्धि, ऐश्वर्य और पद–प्रतिष्ठा आदि बाह्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिस्थितियों और उपकरणों पर नहीं अपितु तितिक्षा, संयम और युक्ताहार-विहार के जीवन पर निर्भर है। किन्तु मानव को अपने जीवन के वास्तविक शुभ और प्रातिभासिक शुभ का अंतर कैसे ज्ञात हो? इस समस्या के समाधान के लिये वे ज्ञान को ही एक मात्र शरण मानते थे और इस बात पर बल देते थे कि सम्यग्-ज्ञानार्जन ही मानव का परम कर्तव्य है।[२१]

स्पष्ट ही डेमाक्रिटस का यह नैतिक-सिद्धान्त असंस्कृत सुखवाद नहीं है। इन्द्रिय सुखों में वास्तविक सुख की मात्रा उतनी ही कम है कि जितनी संवेदनों में/उनमें सत्य ज्ञान का अंश कम होता है। 'शुभ तथा सत्य सभी लोगों के लिए समान हैं किंतु हरेक का प्रेय भिन्न होता है।' पुनः, इन्द्रियों के सुखों की अवधि इतनी कम होती है कि वे जीवन-पर्यन्त बने नहीं रहते तथा वे सरलता से विपरीत स्थितियों (दुखों) में बदल जाते हैं। यदि नैतिक कार्य में हम सुख प्राप्ति के प्रति निष्काम बने रहते हैं तो निश्चित ही उसमें दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक होगी। हमारा प्रयास यह होना चाहिए की हम अपने कर्म में 'कौशल' या 'प्रसन्नता' प्राप्त करें और यह आत्मा की एक स्थिति है।'[२२] इसे प्राप्त करने के लिए हमारे अंदर वह सामर्थ्य होना चाहिए कि हम विभिन्न सुखों के मूल्य की तुलना, निर्णय तथा भेद कर सकें।[२३]

डेमाक्रिटस के अनुसार हमें 'अति' से परहेज करना बहुत आवश्यक है। 'बहुत अधिक' और 'बहुत कम' दोनों ही समान रूप से बुराईयाँ हैं। लोग भाग्य को दोष देते हैं परन्तु वह तो एक कल्पना मात्र है जिसको मनुष्य ने अपने अज्ञान के दोष-मार्जन के लिए गढ़ा है। वस्तुतः जिस महान् सिद्धान्त को हमें अपने पथ-प्रदर्शन हेतु चुनना है, वह है-हारमनी अथवा सामंजस्य। यह निसंदेह पाइथागोरसीय सिध्दान्त है। यदि हम इस कसोटी को सुखों पर लागू करें तो हमें शांति प्राप्त होगी। शरीर की शांति स्वास्थ्य है और आत्मा की शांति प्रसन्नता है। वह आत्मिक विषयों में उपलब्ध होती है, न कि भौतिक।[२४]

नीतिशास्त्र में डेमाक्रिटस के एतिहासिक महत्त्व को हम कम कर के नहीं आंक सकते। हालांकि यह भी उतना ही सही है कि उसके नैतिक विचार संपूर्णतः कोई स्पष्ट नैतिक-सिध्दान्त का अनुसरण करते नहीं दिखाई देते। इस अर्थ में वह अन्य सभी सुकरात-पूर्व दार्शनिकों की तरह ही था। इन सभी का नैतिक चिंतन अव्यस्थित रहा है। डेमाक्रिटस की नैतिक शिक्षाओं के जो थोडे अंश हमें प्राप्त हो सके हैं उनमें भी कोई पध्दति ढूंढ पाना कठिन है। किन्तु उसके अनेक नैतिक कथन उसके इस मूल सिध्दान्त से अनिवार्यतः तार्किक रूप से जुडे हुए नहीं हैं। वे केवल एक उच्च नैतिक स्थाई भाव की सहज अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं, जैसे-'अन्याय करना उसे भोगने से बद्तर है।', अथवा 'केवल गलत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करना ही नहीं बल्कि अशुभ कामना करना भी बुरा और निंदनीय है।' इत्यादि। [२५] ये सभी नैतिक सूत्र न तो उसकी नीतिशास्त्रीय सुखवादी दृष्टि के अनुरूप हैं और न ही परमाणु सिद्धान्त पर आधारित हैं। जिसे उसने अपनी तत्त्वमीमांसा में अपनाया है। अतः इन सिद्धान्तों का कोई वैज्ञानिक अधार नहीं, है। हेराक्लाइटस और डेमाक्रिटस, इन दोनों ही दार्शनिकों ने अपने नीतिशास्त्रीय विचारों को व्यवस्थित रूप देने का कोई प्रयत्न नहीं किया है। फिर भी, हम डेमाक्रिटस के नैतिक उपदेशों के संग्रह को शायद पहली बार एक नैतिक–पद्धति का नाम दे सकते हैं। उसमें कम–से–कम निःत्रेयस् का एक स्पष्ट विचार तो सामने आया ही है।

डेमाक्रिटस की सुखवादी दृष्टि को हम एपीक्यूरसीय सिध्दान्त का पूर्वगामी मान सकते हैं। और यही उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। किन्तु यहाँ भी यह कहना कठिन है कि डेमाक्रिटस एपीक्यूरस का भावात्मक रूप से पूर्ववर्ती दार्शनिक था। दोनों ही सुख को निःश्रेयस् जरूर मानते हैं, किन्तु, एपीक्यूरस के विपरीत डेमाक्रिटस के लिए सच्चा सुख इन्द्रिय–उपभोग में नहीं है, उसका संबंध आत्मा से है। डेमाक्रिटस के अनुसार सुख, धन अथवा पशु संपत्ति में न होकर शुभ–मनोदशा में है, आत्मा की निरंतर शांति और उचित विन्यास में है। इस अर्थ में डेमाक्रिटस का दृष्टिकोण एपीक्यूरस सिद्धान्त के नकारात्मक पक्ष से अधिक समान है। [२६] मन की साम्ययोगी, अविचलित वृत्ति से आनंद की अभिज्ञता का उद्घोष, सर्वोच्च शुभ प्राप्त करने के लिए इच्छाओं के संयमन पर आग्रह, आरीरिक सुखों की बजाय आत्मानंद की वरीयता, मृत्यु अथवा मृत्योपरांत की आशंका से मुक्ति के लिए प्रज्ञान और अंतःप्रज्ञा के महत्त्व पर बल, आदि, डेमाक्रिटस के नीति–दर्शन के ऐसे विषय हैं जिनके प्रतिरूप हम एपीक्यूरसीय नीतिशास्त्र में पा सकते हैं। [२७]

– सुरेन्द्र वर्मा

प्राचार्य,
शासकीय महाविद्यालय,
नीमच – ४५२४४१
(म. प्रदेश)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. 'सेवन सेजेज' ये हैं – थेलीज, सोलन, चिलो, पिट्टाकस, बाइस, विलयोबलस, और पैरी एन्डर।
(Thales, Solon, Chilo, Pittacus, Bias, Cleobulus and Pereander)

२. देखें, सिजविक हेनरी, आउटलाइन्स आफ द हिस्ट्री आफ एथिक्स, मैक्मिलन, १९६७। पृ १३।

३. लातिनी वाक्यांश, 'इप्से दीक्षित' (ipse dixit) मूलतः पाइथागोरस के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है – उसने इसे स्वयं कहा है अथवा 'उसका शब्द मात्र'।

४. देखिए, दयाकृष्ण (संपादक), पाश्चात्य दर्शन का इतिहास जयपुर, १९७६ पृष्ठ ३३–३४।

५. वहीं, पृष्ठ – ३२

६. देखिए, स्टेस, डबल्यू. टी; ए क्रिटिकल हिस्ट्री आफ ग्रीक फिलासाफी, मैक्मिलन, १९६०, पृ. ३२।

७. देखिए, सिजविक हेनरी, (उपरोक्त) पृ. १३

८. देखें, वहीं, पृ. १४.

९. ईलियाई दार्शनिकों में जीनोफेनीज, पार्मेनिडीस, जीनो प्रमुख हैं जो अंतिम सत्ता को एक और अपरिवर्तनीय मानते हैं।

१०. देखिए, स्टेस, डबल्यू. टी. (उपरोक्त) ७२–७३

११. वहीं, पृ. ७७

१२. देखें मेकेंजी, जान्. एस. ए मेन्युअल ऑफ एथिक्स लंदन, १९२६ पृ. १२०।

१३. स्टेस, डबल्यू टी. (उपरोक्त) पृ. ७९–८०

१४. देखें, सिजविक, हेनरी (उपरोक्त) पृ. १४

१५. देखें, दयाकृष्ण (संपादक) (उपरोक्त) पृ. ४७

१६. देखें, वहीं, पृ. ५७–५८

१७. देखें, सिजविक, हेनरी (उपरोक्त) पृ. १५

१८. बर्नेट, जान : अर्ली ग्रीक फिलासफी, उद्धरण – १००, १०३, १०५, १०७, और ११३

१९. देखें – दुबे, श्रीप्रकाश (अनुवाद), ग्रीक दर्शन (जॉन बर्नेट कृत), १९७३, पृ. २११.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२०. देखें – वही, पृष्ठ – २१२

२१. देखें – दयाकृष्ण (संपादक) (उपरोक्त) पृष्ठ – १२७.

२२. इस मत की गीता के नैतिक उपदेश से तुलना करें। गीता में 'निष्काम कर्म' की शिक्षा दी गई है और योग को 'कर्मसुकौशलम्' कहा गया है। यूनानी भाषा में 'कौशल और प्रसन्नता' को अभिन्न माना गया है।

२३. दुबे, श्रीप्रकाश (अनुवादक) (उपरोक्त) पृष्ठ – २१२

२४. वहीं – पृष्ठ – २१३

२५. देखें – सिजविक, हेन्री, (उपरोक्त) पृष्ठ – १६

२६. देखें – एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खण्ड ७; पृष्ठ – १८८।

२७. देखें – सिजविक, हेनरी (उपरोक्त) पृ. – १५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ए. जे. एयर के 'ज्ञान' के प्रत्यय की विश्लेषणात्मक व्याख्या

दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में ज्ञान–मीमांसा के अध्ययन का सदा से ही अधिक महत्त्व रहा है। समकालीन युग में दार्शनिकों द्वारा ज्ञान का आधार अनुभव को माने जाने के कारण और तत्त्व–मीमांसा को निरर्थक बताये जाने के कारण दर्शन के क्षेत्र में ज्ञान–मीमांसा का अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है।

समकालीन पाश्चात्य दर्शन में तार्किक प्रत्यक्षवाद एक विचारधारा है। ए. जे. एयर तार्किक प्रत्यक्षवादियों में विश्लेषणात्मक ज्ञान–मीमांसा के समर्थकों में एक प्रमुख स्थान रखता है। प्रस्तुत पत्र में एयर के 'ज्ञान' के प्रत्यय की विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

"ज्ञान" शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है अतः यह संदिग्ध है और इसी कारण विभिन्न दार्शनिकों ने इसकी व्याख्या भिन्न–भिन्न तरीकें से की है। कुछ दार्शनिकों ने इसको "गलत न होने" (Not to be wrong) की स्थिति में समझा है, जब कि अन्य दार्शनिकों ने इसकी विभिन्न श्रेणियों को स्वीकार किया है। उनके अनुसार ज्ञान निम्नतम स्तर में केवल संभावना मात्र है। रसेल के अनुसार 'ज्ञान' की अवधारणा सुनिश्चित नहीं है; यह संभाव्य मत में विलीन (Merge) हो जाती है।[१] इस मत के अनुसार किंचित् संभावना भी 'ज्ञान' की श्रेणी में आती है। यह ज्ञान शब्द का बहुत ही विस्तृत अर्थ है। संकीर्ण अर्थ में इसका आशय "पूर्ण निश्चितता" से है। ये दोनों अतिरेकवादी दृष्टिकोण हैं। इनके बीच ज्ञान की अनेक श्रेणियां मानी गयी हैं। अतः 'ज्ञान' की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती है।

परामर्श, (हिन्दी), वर्ष ११, अंक ३, जून १९९०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'ज्ञान' शब्द का प्रयोग भिन्न–भिन्न स्थितियों में होता है। लेकिन उन विभिन्न स्थितियों में एक उभयनिष्ठ कारक होता है और वह कारक, 'सत्यता' का है। जिन स्थितियों या कथनों को हम 'ज्ञान' की शैली में लेते हैं वे सत्य होने चाहिए। इतना ही नहीं कुछ दार्शनिक ज्ञान की अवस्था में 'मनस् की एक विशेष स्थिति' के अस्तित्व को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार ऐसी ज्ञानात्मक स्थितियों या क्रियाओं का केवल अस्तित्व ही नहीं होता अपितु वे भ्रमातीत होती हैं। इस मत के अनुसार 'मानसिक स्थिति' को ज्ञान की आवश्यक एवं पर्याप्त शर्त माना गया है। ए जे. एयर इस मत से सहमत नहीं है। उसके 'जानने' को मनस् की एक विशिष्ट स्थिति कहना गलत है।[२] जो दार्शनिक 'जानने' को 'मनस् की भ्रमातीत स्थिति' मानते हैं उनके अनुसार केवल वे ही कथन जाने जा सकते हैं जो स्वयं भ्रमातींत हैं।

एयर का मानना है कि ज्ञान–प्राप्ति की स्थिति में हम यह नहीं कह सकते हैं कि इसमें किसी प्रकार की कोई भी मानसिक स्थिति घटित होती है। ऐसा हो सकता है कि कुछ स्थितियों में हमें दृढ़ विश्वास की अनुभूति होती है। लेकिन इस प्रकार की अनुभूति में कोई मानसिक स्थिति के घटित होने की बात नहीं की जा सकती है। यह निश्चित तौर से नहीं कहा जा सकता कि दृढ़ विश्वास की भावना निश्चित होने के लिये पर्याप्त शर्त है क्योंकि ऐसा हो सकता है कि किसी वस्तु के बारे में पूर्ण दृढ़ विश्वास की चेंतना भावना के साथ–साथ उसके बारे मे संशय की अचेतन भावना का भी अस्तित्व हो सकता है। लेकिन यह पर्याप्त हो चाहे न हो, एयर की दृष्टि में यह किसी भी दृष्टि से आवश्यक नहीं हो सकती है। कोई व्यक्ति इस प्रकार की भावना के बिना भी निश्चित हो सकता है और ज्ञान की अभिव्यक्ति में भी इसके होने की आवश्यकता नहीं है।[३]

ऑस्टिन भी इस मत को स्वीकार करता है कि यह आवश्यक नहीं है कि किसी वस्तु को जानने में हम हमारी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हैं। उसके अनुसार 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग वर्णनात्मक न हो कर क्रियात्मक होता है।[४] किसी व्यक्ति के अमुक कथन का 'ज्ञान' होने का अर्थ उसकी मानसिक स्थिति का वर्णन करना नहीं, बल्कि उस कथन के सत्य होने का आश्वासन देना है। क्योंकि ऐसा कहना आत्म–विरोधी है कि कथन का हमें ज्ञान है लेकिन वह कथन असत्य है। लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि क्या ज्ञान में विश्वास होना आवश्यक है? कुछ दार्शनिक इस अनुक्रम–बन्धन (Entailment) को आवश्यक मानते हैं; कुछ इसको इस आधार पर आवश्यक नहीं मानते है, कि किसी कथन की सत्यता में केवल विश्वास करने का अर्थ उसका ज्ञान न होना है। कुछ अन्य दार्शनिकों के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुसार ज्ञान में विश्वास की आवश्यकता नहीं होती है। [४] अेयर इस बात को स्वीकार करता है कि ज्ञान और विश्वास में सम्बन्ध अवश्य है, यद्यपि यह सम्बन्ध प्रकट नहीं है [६]।

किसी कथन की सत्यता विश्वास पर निर्भर नहीं होती है जो जानने में ज्ञान की अेक प्रमुख शर्त है। इसलिअे कुछ दार्शनिक 'ज्ञान' को 'सत्य विश्वास' के सन्दर्भ में पारिभाषित करते हैं। उनका मानना है कि 'सत्य विश्वास' इसलिये ज्ञान की श्रेणी में आते हैं क्योंकि वे हमें सही जानकारी प्रदान करते हैं, अर्थात् वे सत्य हैं। अतः वे ज्ञान हैं। परन्तु कुछ दार्शनिक इस मत से सहमत नहीं हैं। अेयर भी उन दार्शनिकों में से है जो सत्य विश्वास और ज्ञान को एक नहीं मानते हैं। ऐसा कहने में कोई आत्म–विरोध नहीं है कि एक सत्य कथन में हमारा दृढ़ विश्वास होते हुए भी हम उस कथन को नहीं जानते हैं। अतः 'ज्ञान' के लिए 'सत्य विश्वास' के साथ अेक और शर्त का पूर्ण होना आवश्यक है और वह है उस विश्वास की न्यायोचितता अर्थात् सत्य विश्वास को स्वीकार करने के लिये हमारे पास उचित प्रमाण होना चाहिअे। इस प्रकार ज्ञान की स्थिति होने में तीन शर्तों का होना आवश्यक अेवम् पर्याप्त माना गया है। प्रथम, जिस कथन को हम जानते हैं, वह सत्य होना चाहिये। द्वितीय, उस कथन में हमारा विश्वास होना चाहिअे। तृतीय, उस कथम में विश्वास होने का उचित प्रमाण होना चाहिये।

अेयर प्रथम शर्त को स्वीकार करता है। व्दितीय शर्त के सम्बन्ध में अेयर निश्चितता की बात करता है। उसका कहना है कि व्यक्ति को ज्ञेय कथन में केवल विश्वास ही नहीं होना चाहिये अपितु वह उसकी सत्यता के बारे में निश्चित होना चाहिये। तृतीय शर्त उचित प्रमाण संबंधी है। इस शर्त में 'उचित प्रमाण' के प्रति अनेक आपत्तियां उठायी गयी हैं। अेक आपत्ति यह है कि इसके अन्तर्गत उन कथनों के ज्ञान की संभावना समाप्त हो जाती है जिनके लिये प्रमाण की बात करना अनुपयुक्त है।

दूसरी आपत्ति यह है कि कुछ अैसे कथन हो सकते हैं जिनका ज्ञान व्यक्ति को है, लेकिन उसके पास इसका कोई प्रमाण नहीं है।

एक अन्य आपत्ति यह है कि अगर हम 'उचित प्रमाण' को ज्ञान की एक आवश्यक शर्त मानते हैं तो इसमें अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। एयर का मानना है कि यह आपत्ति तार्किक न होकर व्यावहारिक है। इसमें ज्ञान की परिभाषा चक्रक नहीं होती है। अगर हम शोध्य प्रतिज्ञप्तियों के प्रत्यय को स्वीकार करें तो अनवस्था क दोष स मुक्त हो सकते हैं क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञप्तियां स्वतः प्रमाण समझी जाती हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपरोक्त उठायी गयी आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए अेयर 'ज्ञान' की परिभाषा में 'उचित प्रमाण' की शर्त को संतोषजनक नहीं मानता है। वह उसके स्थान पर निश्चित होने का अधिकार (Right to be Sure) की शर्त को उचित समझता है।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि अेयर के अनुसार किसी वस्तु या कथन को जानने (ज्ञान होने) में तीन मुख्य शर्तों की पूर्ति होनी चाहिये :-

(१) प्रथम शर्त यह है कि यदि कोई व्यक्ति कहे कि वह जानता है तब वह जो कुछ भी जानता है वह सत्य होना चाहिये।

(२) व्दितीय शर्त यह है कि जानने का दावाकर ने वाला व्यक्ति उसके बारे में निश्चित होना चाहिये।

(३) तृतीय शर्त यह है कि जो कुछ भी जाना जाता है उसके बारे में निश्चित होने का अधिकार होना चाहिये।[८]

इस प्रकार अेयर 'ज्ञान' के प्रत्यय के विश्लेषण में तीन शर्तों के होने की बात करता है।

कुछ दार्शनिकों ने 'ज्ञान' के विश्लेषण में 'न्यायोचित सत्य विश्वास' को एक आवश्यक शर्त बताया है। उसी को 'एयर निश्चित होने का अधिकार' की शर्त मानता है। लेकिन वह इस बात का स्पष्टीकरण नहीं करता है कि यह अधिकार किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। 'निश्चित होने के अधिकार' की अभिव्यक्ति शिशोम के मतानुसार संदिग्ध है। उसके दो भिन्न अर्थ हो सकते हैं। इसका एक अर्थ किसी जाँच को समाप्त करने का अधिकार (Right to terminate inquiry) हो सकता है। दूसरा अर्थ संभाव्यता के सिद्धान्त के प्रयोग से सम्बन्धित हो सकता है।[९] इस अभिव्यक्ति को प्रथम अर्थ में समझना उचित नहीं है क्योंकि उसमें विचाराधीन कथन के विरुद्ध किसी भी भावी प्रमाण की संभावना को नकार दिया जाता है। दूसरे अर्थ में यह अभिव्यक्ति स्वीकार की जा सकती है।

एयर के द्वारा किया गया 'ज्ञान' शब्द का विश्लेषण और इसी प्रकार अन्य दार्शनिकों के द्वारा न्यायोचित सत्य विश्वास को ज्ञान समझने के सन्दर्भ में एडमंड गेटियर कुछ ऐसे प्रतिकूल उदाहरण प्रस्तुत करता है जिससे वह यह बताना चाहता है कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें न्यायोचित सत्य विश्वास को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। उसने अपने लेख 'Is Justified True Belief Knowledge' में ज्ञान की परम्परागत परिभाषा के सम्बन्ध में एक समस्या प्रस्तुत की है जो 'गेटियर समस्या' के नाम से जानी जाती है।[१०]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसका कहना है कि अगर न्यायोचित सत्य विश्वास किसी असत्य कथन पर आधारित हो तो वह 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता है। वह उदाहरण के व्दारा बताता है कि मान लीजिअे स्मिथ और जोन्स ने किसी नौकरी के लिअे आवेदन पत्र दिया है और यह भी मान लीजिअे कि स्मिथ के पास इस प्रतिज्ञप्ति का प्रवल प्रमाण है कि (अ) जोन्स वह व्यक्ति है जिसको नौकरी मिल जायेगी और जोन्स की जेव में दस सिक्के हैं। जोन्स को नौकरी मिल जायेगी यह बात स्मिथ के लिये प्रमाण इसलिये वनती है क्योंकि कम्पनी के अध्यक्ष ने उसको यह आश्वासन दिया है कि अन्त में जोन्स का चयन कर लिया जायेगा और स्मिथ ने दस मिनट पहले ही जोन्स की जेब में दस सिक्कों को देखा है। इस प्रकार प्रतिज्ञप्ति (अ) से यह निगमित होता है कि (ब) 'जिस व्यक्ति को नौकरी मिलेगी उसकी जेब में दस सिक्के हैं।' स्मिथ (अ) के आधार पर (ब) को स्वीकार करता है। इस मामले में स्मिथ का विश्वास कि (ब) सत्य है स्पष्टतया न्यायोचित है। लेकिन गेटियर यह कहता है कि मान लीजिअे स्मिथ इस वात से अनभिज्ञ है कि जोन्स को नौकरी नहीं मिल कर उसको स्वयं को मिल जायेगी। स्मिथ इस बात से अनभिज्ञ है कि उसकी जेव में भी दस सिक्के हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रतिज्ञप्ति (ब) सत्य है यद्यपि जिससे स्मिथ ने प्रतिज्ञप्ति (ब) निगमित की है वह प्रतिज्ञप्ति (अ) असत्य है। दूसरी बात, स्मिथ (ब) को सत्य मानता है। तीसरी बात स्मिथ का (ब) में विश्वास न्यायोचित है। लेकिन यहाँ यह कहा जा सकता है कि स्मिथ यह नहीं जानता है कि (ब) सत्य है क्योंकि (ब) की सत्यता स्मिथ की जेब में सिक्कों की संख्या के कारण है जिसको वह नहीं जानता है और (ब) में अपना विश्वास जोन्स की जेब में पडे सिक्कों के आधार पर करता है। इस प्रकार गेटियर यह बताना चाहता है कि ऐसे मामलों में न्यायोचित सत्य कथनों को ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

इस सम्बन्ध में कीथ लेरर द्वारा ज्ञान के विश्लेषण में होनी चाहिए ऐसी चौथी शर्त यह बतायी गयी है कि अगर कोई व्यक्ति किसी प्रतिज्ञप्ति को जानता है तो उसमें उसका होने वाला विश्वास किसी भी कथन की सत्यता में होने वाले न्यायोचित विश्वास के मुताबिक तभी कहा जा सकता है जब कि वह किसी असत्य अभिकथन पर आधारित नहीं होता है।[११] ज्ञान शब्द के एयर द्वारा किए गए विश्लेषण में गेटियर द्वारा प्रस्तुत गई समस्या उत्पन्न होती है और इस समस्या के समाधान में कीथ लेरर द्वारा जो चौथी शर्त दी गयी है वह उचित लगती है। एयर द्वारा किए गए 'ज्ञान के विश्लेषण को हम संशोधित रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है।[१२] कोई व्यक्ति किसी कथन 'प' को तभी जानता है यदि (१) 'प' सत्य है (२) 'प' के वारे में उसका विश्वास निश्चित है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) उक्त व्यक्ति 'प' के बारे में निश्चित होने का अधिकार रखता है और (४) 'प' के बारे में उस व्यक्ति का विश्वास न्यायोचित विश्वास है, माने, वह किसी असत्य कथन पर निर्भर नहीं करता है।

– निर्मला जैन

१५, भट्ट की बाडी
उदयपुर
(राजस्थान)

टिप्पणियाँ

1. B. Russell — The Problems of Knowledge, Home University, Library, London, 1912; p. 78.
2. A. J. Ayer — Metaphysics & Common Sense, McMillan, 1969, p. 115.
3. A. J. Ayer — The Problems of Knowledge, McMillan, 1956, p. 13.
4. J. L. Austin — 'Other Minds' Proceedings of the Aristotelian Society, Vol. XX, 1945.
5. For instance, see — Black Carolyn 'Knowledge without Belief' Analysis Vol. XXXI, 1970–1.
6. A. J. Ayer — Metaphysics & Common Sense, p 117
7. Ibid,–p. 121.
8. A. J. Ayer — The Problems of Knowledge, p. 34.
9. R. M. Chisholm — Theory of Knowledge, Prentice Hall, 1977 (Second Edition) p. 117.
10. Edmund L. Gettier — 'Is Justified True Belief Knowledge?' Analysis 23, 1963, pp. 121–3.
11. Keith Lehrer — Knowledge, Clarendon Press, Oxford, 1974, p. 121.
12. निर्मला जैन — ए. जे. एयर की ज्ञान मीमांसा, पीएच्.डी. की डिग्री के लिए सुखाड़िया विश्वविद्यालय को प्रस्तत, उदयपुर, 1985, पृ. 209–12.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इतिहास और मिथक

आज मानवीय ज्ञान के क्षितिज व्यापक हो रहे हैं। हर क्षेत्र में नयी धारणायें विकसित हो रही हैं, नयी सम्भावनायें तलाशी जा रहीं हैं। इतिहास, धर्म, दर्शन, साहित्य, नीतिशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और विज्ञान एक दूसरे के निकट आ रहे हैं। हर क्षेत्र में ज्ञान के नये आयाम तलाशे जा रहे हैं और ज्ञान की समग्रता पर विश्वास किया जाने लगा है। इस समय इतिहास के सम्बन्ध में बनायी गयीं परम्परागत धारणायें भी बदल रहीं हैं। अब उसके सम्बन्ध में नयीं सूक्तियां और परिभाषायें जन्म लेने लगीं है। मसलन कहा जाने लगा है कि "इतिहास तथ्यों का संकलन नहीं अपितु तथ्यों की व्याख्या" है। यह व्याख्या इतिहासकार की मानसिकता से प्रभावित होती है अब यह भी कहा जाने लगा है कि इतिहासकार अतीत में नहीं वर्तमान में जीता है और यह भी कहा जाने लगा है कि इतिहासकार से तटस्थता की मांग करना नितान्त निरर्थक है इस बदलती हुई अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय मनीषियों की इतिहास सम्बन्धी धारणा अधिक युक्ति-संगत, युगानुकूल और सार्थक लगती है। उन्होंने पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष) से सम्बन्धित पूर्व-वृत्त कथा को इतिहास कहा है (धर्मार्थ काममोक्षाणां-समुपदेश समन्वितम् पूर्ववृत्त कथा युक्तमितिहासं प्रचक्षते) ज्ञान के इस नये विकास ने प्राचीन भारतीय मनीषियों के इतिहास-सम्बन्धी अज्ञान की धारणा का उन्मूलन कर दिया है। यों भी संस्कृत के आर्ष-ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर 'इतिहास' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] इस तथ्य से इस पूर्वाग्रह-युक्त भ्रामक धारणा का खण्डन हो ही जाता है। यह सत्य है कि उन्होंने तिथि-परक ऐतिहासिकता को अधिक महत्त्व नहीं दिया, या कि उनके द्वारा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रस्तुत तिथि-परक ऐतिहासिकता आज की तिथि-परकता से मेल न खाती हो, या कि उस पुरातन तिथि-परकता की अर्थवत्ता इतने सबल ढंग से नहीं सिद्ध हो पा रही हो। फिर भी भारतीय ऋषियों का इतिहास-ज्ञान असंदिग्ध है। परन्तु आज हमें विचार करना है कि क्या इतिहास को तथ्यों और अतीत से पूर्ण रूपेण विच्छिन्न किया जा सकता है ? मुझे लगता है यह सर्वांशतः सम्भव नहीं है आज इतिहासज्ञ यह कहने लगे हैं कि "हम जो इतिहास पढ़ते हैं, हालांकि वह तथ्यों पर आधारित है, ठीक ठीक कहा जाय तो एकदम यथातथ्य नहीं है, बल्कि स्वीकृत फैसलों का एक सिलसिला है।[२] और यह भी कि "इतिहासकार का काम न तो अतीत को प्यार करना है और न खुद को अतीत से मुक्त करना, बल्कि वर्तमान को समझने के लिए उसे अतीत के अध्ययन में दक्षता प्राप्त करनी चाहिए और अपनी समझ को वर्तमान की कुंजी के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए।"[३] तब हम निर्विवाद रूप से यह कह सकते हैं कि अपनी तमाम परिवर्तनप्रियता और गतिशील आधुनिक अवधारणाओं के बावजूद इतिहास आज भी अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ की परिधि से बहुत दूर नहीं गया। विद्यमानता के अर्थवाली "अस्" धातु में "इति" प्रत्यय जोड़ कर इतिहास शब्द बनता है, जिसका अर्थ है "ऐसा जो विद्यमान था"। इतिहास के शब्द-कोशीय अर्थ हैं – परम्परा से प्राप्त उपाख्यान; समूह, वीर-गाथा, ऐतिहासिक साक्ष्य परम्परा, पूर्व-वृतान्त, बीती हुई प्रसिद्ध घटनाओं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषों, स्थानों, आदि का काल क्रम से वर्णन, पुरावृत्त; प्राचीन कथा, अतीत कालीन घटनाओं का वर्णन[४]। इस तरह अतीत से सम्बन्ध; क्रमबद्ध वर्णन, सत्य से सम्बद्धता और अतिरंजना व अलौकिकता से बचने की प्रवृत्ति इतिहास के प्रमुख तत्त्व हैं। जिस प्रकार इतिहास का सम्बन्ध अतीत के सत्य से है उसी प्रकार मिथक का सम्बन्ध अतीत की अतिरंजना से है। मिथक अलौकिकता का कथात्मक अवतरण है। ये विश्व-मानव की मूल्य-निष्ठा, परम्परा; प्रेम, सत् और असत् के संघर्ष में सत् की विजय के प्रति आस्था, सौन्दर्य-बोध, कलात्मक अभिरुचि, और शिल्प-चिन्तन को अभिव्यक्त करते हैं। ये न केवल परम्परा की गहरी समझ हैं अपितु उसकी पुनर्व्याख्या और पुनर्रचना भी हैं। ये जातीय अतीत का सबसे बड़ा खजाना होते हैं। अंग्रेजी मिथ (Myth) को हिन्दी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "मिथक" शब्द का प्रचलन किया था। मिथ के शाब्दिक अर्थ हैं – पुराणकथा, पौराणिक उपाख्यान, दन्त-कथा, देव-कथा, पुराण, पुरावृत्त-कथा, प्रतीक कथा, कल्पित कथा, काल्पनिक कथा, कल्पित व्यक्तिकथा, काल्पनिक व्यक्ति या वस्तु – कथा, आदि।[५] इस शब्द का मूल स्रोत ग्रीक "मुथोस" और लैटिन का 'मिथास' है जिसका अर्थ होता है शब्द, कहानी या कथा। साहित्यिक आलोचना के अन्तर्गत इसे "कथानक" के अर्थ में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रहण किया गया। पाश्चात्य विचारकों ने मिथ का प्रयोग दर्शन के क्षेत्र में भी किया है। यों तो दार्शनिक विवेचन मुख्य रूप से बौद्धिक समीक्षा, तर्क और अनुमान पर आधारित होता है। इसलिए कल्पित घटनाओं या पौराणिक कथाओं की सहायता उसमें नहीं ली जाती। "लेकिन कभी कभी नैतिक आदर्शों को अधिक प्रभावशाली और रोचक रूप से समझने के लिए दर्शन में कल्पित कथाओं का सहारा लिया गया है"[६]। कुछ भारतीय मनीषियों ने मिथक को संस्कृत के "मिथ" से सम्बद्ध माना है जिसका अर्थ मैथुन करना या जोड़ा बनाना है। स्पष्टतः ये सारे अर्थ मिथक के ये तत्त्व निर्धारित करते हैं; पौराणिकता, अतीत से सम्बन्ध, प्रतीकात्मकता, अलौकिकता, अतिरंजना पूर्ण कल्पना तथा रहस्यमयता।

आधुनिकता के प्रभाव और औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप आये जन-जागरण ने इतिहास को वैश्विक दृष्टि दे दी है। अब विद्वान् मानने लगे हैं कि इतिहासकार की दृष्टि समग्र विश्व-परक होनी चाहिए। इसलिए हमें सारे ही देशों का इतिहास जानना चाहिए। पं. जवाहरलाल नेहरू ने उस विषय में अपना मत दिया है "जो फल इस समय हमारे सामने हैं, उन सब की जड़ पुराने जमाने में है। इसलिए इतिहास जानना हमारे लिए जरूरी हो जाता है और इतिहास भी केवल एक या दो देशों का नहीं, बल्कि सारी दुनियां का"[७]। एक दूसरी धारणा यह विकसित हुई कि किसी देश का इतिहास उसके राजाओं, सामन्तों वीरों और उनकी जयों पराजयों की कथा भर नहीं है, अपितु वह समूची जाति का सांस्कृतिक इतिहास होता है। संस्कृति एक सतत गतिशील परम्परा है, उसका निर्माण और विकास कुछ गिने चुने लोगों के हाथों नहीं होता। सांस्कृतिक परम्पराओं की प्रगति का ज्ञान जातीय मिथकों से होता है, बल्कि यह कहना अधिक समीचीन होगा कि इतिहास की अपेक्षा जातीय मिथक सांस्कृतिक जीवन्तता के अधिक सच्चे, विश्वसनीय और प्रभावशाली प्रतीक और साधन होते हैं; क्योंकि वे जनाकांक्षाओं और बदलती मानवीय प्रवृत्तियों के अधिक सच्चे प्रतिबिम्ब होते हैं। इतिहास अपनी संरचनात्मक प्रवृत्ति में विज्ञान है, और मिथक रागात्मक अभिव्यंजना। इसलिए जहां इतिहास की गति अवरुद्ध हो जाती है; वहां मिथक का आश्रय लेकर इतिहास को दिशा में बढ़ा जा सकता है। घटनायें रुक सकती हैं, रुक जाती हैं; परन्तु मानवीय भावधारा तो अखण्ड है। वह तो निर्बाध रूप से चलती है और मिथक उसी मानवीय भावधारसे हमें परिचित कराते हैं।

नृतत्त्व-विज्ञान, पुरा-अभिलेख, पुराने सिक्के, मुहरें पुरातत्त्व-विज्ञान; प्राचीन साहित्य आदि इतिहास के अनेक स्त्रोत हैं। हांलांकि यह सच है कि इतिहास लिखित प्रमाणों और अभिलेखों को अधिक विश्वसनीय स्त्रोत मानता है;

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परन्तु शेष की भी न तो वह उपेक्षा करता है न कर सकता है। सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से मिथक इतिहास का अतिविश्वसनीय और प्रबल स्रोत एवं शक्ति प्रमाणित होते हैं। इसीलिए मिथकों के इतिहासीकरण की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। हिन्दी साहित्य के द्विवेदीकाल में मिथकों के इतिहासीकरण की यह प्रक्रिया बहुत तीव्र गति से चली थी। उस समय राम, कृष्ण, शिव, देव, दैत्य और इन सबसे सम्बन्धित तमाम मिथकों को इतिहास बनाने का प्रबल प्रयास किया गया था। आज पुनः सांस्कृतिक दृष्टि से मिथकों की पुनर्व्याख्या की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी है। इतिहास की वैज्ञानिकता के साथ इनका पुनरावलोकन प्रारम्भ हो गया। "रामकथा", "कृष्ण कथा" और महाभारत के मिथकों पर वैज्ञानिक दृष्टि से बोध के साथ लिखीं गयी औपन्यासिक श्रृंखलायें इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण हैं।[८]

वस्तुतः इतिहास मानव के सामाजिक विकास को समझने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। विकास की इस प्रक्रिया के आदि छोर का तलाश करते-करते हम जहां पहुंच जाते हैं और जहां से प्रागेतिहास की तमसावृत्त गुहा का प्रवेशद्वार प्रारम्भ हो जाता है, वहां आगे बढ़ने के लिए इतिहासकार को मिथक की जरूरत पड़ती है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास वयंरक्षामः में देवों, दैत्यों, नागों, यक्षों आदित्यों, गन्धर्वों, गरुडों, दानवों, पौलोमों, कालिकेयों और मानवों आदि पुरातन मानव जातियों से सम्बन्धित तमाम मिथकों को इतिहास बनाने की सफल चेष्टा की है। उन्होंने भाषा-वैज्ञानिक, पुरातात्त्विक, नृतत्त्वशास्त्रीय और पुरैतिहासिक प्रमाणों से संगति बिठा कर मिथकों के इतिहासीकरण का यह कार्य बहुत प्रामाणिक ढंग से सम्पन्न किया है। पुरातन मानव जातियों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि कश्यप प्रजापति समूचे नृवंश के पिता थे। उन्हें प्रजापति यक्ष ने तेरह कन्यायें दीं। उनमें दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से नाग, और विनता से गरुड़ वंश चले। दिति की दो कन्यायें भी थी – पुलोमा और काकिका। इनसे पृथक् वंश पौलोम और कालिकेय चले। कश्यप का निवास स्थान कैस्पियन सागर तट पर था। पुराणों का कच्छप अवतार भी यही कश्यप थे। पारसी पैगम्बर जरदस्त का जन्म दैत्य नदी के किनारे हुआ था जो कैस्पियन सागर में गिरती थी। वास्तव में यह पुराण-वर्णित दैत्य नदी और हिरण्य कशिपु की राजधानी हिरण्यपुरी थी। दैत्यों की सभ्यता को ही पुरातत्त्वविद् "हीलियोलिथिक" सभ्यता कहते हैं। इसी की एक शाखा अमेरिका में मय सभ्यता के रूप में विकसित हुई। दूसरी मिश्र में मैसोपोटामिया नाम से, तीसरी बैवीलोन में असुरों के नाम से। दैत्यों का वंश-वृक्षः यों है : कश्यप + दिति = हिरण्यकशिपु (हिरण्याक्ष, वज्रांग व अन्धक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाई) – प्रल्हाद–विरोचन–बलि–बाण ।" हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष बड़े प्रतापी थे । इन्होंने अनेक देवों को पदच्युत किया । सम्भवत: बलि और हिरण्यकशिपु उत्तर पश्चिम फारस और अफगानिस्तान के शासक थे । प्रल्हाद को सुरत्व की प्राप्ति हुई थी । हिरण्यकशिपु नृसिंह द्वारा मारा गया । प्रल्हाद ने विष्णु से मुलहकी थी । इस पर पिता पुत्र में विरोध हुआ । दैत्यों में प्रल्हाद और उसके पुत्र विरोचन की किसी महत्ता का कोई वर्णन नहीं है, परन्तु विरोचन–पुत्र बलि बड़ा पुरुषार्थी और दानी प्रसिद्ध हुआ । उसने दैत्य वंश का एक नया समर्थ राज्य खड़ा कर लिया था । उसकी राजनीति से दैत्यों तथा दानवों का बहुत बल बढ़ा । बलि–पुत्र बाण प्रबल युद्ध – कर्ता था, तथा उसकी उपाधि महातेज थी । स्वयं राजा बलि राजनीतिज्ञता, पुरुषार्थ, न्यायप्रियता, धर्म, दान आदि गुणों में अप्रतिम था । हिरण्य कशिपु के वध के बाद से बलि के समय तक शायद देव काफी सगठित हो चुके थे । उन्होंने नागों से भी संधि कर ली थी । नाग अच्छे नाविक थे । उनकी सहायता से देवों ने समुद्र पार आना–जाना आरम्भ किया, जिसमें दैत्यों ने भी उत्साह प्रकट किया । इसे ही समुद्र–मथन कहा गया है "[२] । इस प्रकार के ऐतिहासिक वर्णन वयंरक्षाम: में भरे पड़े हैं । आचार्य जी ने पुराणों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, वेदों, रामायण और महाभारत में वर्णित अन्य अनेक मिथकों को भी इसी प्रकार की ऐतिहासिकता प्रदान की है । पाश्चात्य मनीषियों में एवं बेरीडेल कीथ एवं पार्जीटर आदि ने भी इसी प्रकार भारतीय मिथकों को इतिहास बनाने का सफल प्रयास किया है ।

जिस प्रकार मिथक के इतिहासीकरण की प्रक्रिया सतत गतिमान रहती है, उसी प्रकार इतिहास के मिथकीकरण की प्रक्रिया भी सतत गतिशील रहती है । महापुरुषों और महाप्राण मानवों के जीवन–काल में ही उनको मिथकीकृत करने की प्रक्रिया चलने लगती है । कबीर की मृत्यु के उपरान्त उनके अन्तिम संस्कार के लिए उनका शव प्राप्त करने के लिए उनके हिन्दू और मुस्लिम अनुयाइयों में हुए संघर्ष और फिर चादर उठाने पर उसके स्थान पर कुछ फूलों का मिलना– जिन्हें दोनों समुदायों द्वारा बराबर बांट लिया गया–एक ऐसा मिथक है जो बाद में प्रथम सिख गुरु नानकदेव के साथ भी जोड़ा गया । सूरदास के द्वारा चर्म–चक्षुओं से कृष्ण का दर्शन, तुलसी के द्वारा राम लक्ष्मण और हनुमान का दर्शन और पं. जवाहरलाल नेहरू के कपड़ों का पेरिस से धुल कर आना तो उनके जीवन में ही प्रचलित हो गया था, जिसका खण्डन उन्होंने स्वयं ही किया । स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध भगवान्, महावीर, यहाँ तक कि मूलत: मिथकीय परिकल्पनाओं के प्रबल विरोधी और बुद्धिवाद के कट्टर समर्थक स्वामी दयानंद एवं दशमगुरु गोविन्द सिंह जी के साथ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी अनेक मिथकीय कल्पनायें जोड लीं गयीं यद्यपि यह सच है कि 'मिथक-सत्य तथा इतिहास-सत्य में मौलिक अन्तर है, मिथक-सत्य श्रद्धा पर आश्रित है, जबकि इतिहास-सत्य विज्ञान पर। और मिथक-सत्य कर्मकाण्ड से गुंथा है और इतिहास-सत्य तथ्यों से। तथ्यों को संकलित करने के उपरान्त उनकी व्याख्या करने पर ऐतिहासिक सत्य मिलता है' '। फिर भी इतिहास के मिथकीकरण एवं मिथक के इतिहासीकरण की प्रक्रिया निरन्तर निर्बाध चलती है।

मिथकों के इतिहासीकरण की प्रक्रिया विद्वानों, मनीषियों, चिन्तकों, दार्शनिकों, साहित्यकारों, पुरातत्व-वेत्ताओं और विज्ञान-वेत्ताओं के द्वारा सम्पन्न होती है और इतिहास के मिथकीकरण की प्रक्रिया लोक-गाथाकारों, लोक-गायकों, और सामान्य जनों के द्वारा सम्पन्न होती है। कभी-कभी तो (सामान्यतः सदैव ही) इतिहास को मिथक में परिवर्तित करने वाले कर्ता अज्ञात ही रहते हैं। मिथक के इतिहास बनाने की प्रक्रिया बहुत धीमी होती है, जबकि इतिहास के मिथक बनने की प्रक्रिया अपेक्षाकृत तीव्र होती है, मिथक को इतिहास बनाने का कार्य सामान्यतः लिखित रूप में होता है। जबकि इतिहास के मिथक बनने का कार्य सामान्यतः मौखिक रूप में ही होता है और अफवाहों की तीव्रता से समाज में संक्रमित होता है।

स्पष्ट है कि इतिहास मिथक में और मिथक इतिहास में रूपान्तरित होता रहता है। परन्तु इस रूपान्तरण के बाद भी न तो इतिहास अपने मूल रूप का पूरी तरह परित्याग करता है और न मिथक इतिहास बन कर अपने मूल रूप का पूर्णतः परित्याग करता है, फिर भी इतिहास और मिथक परस्पर गहराई तक सम्बद्ध हैं। मिथक के निर्माण में प्राग् इतिहास और इतिहास दोनों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। आज के वैज्ञानिक युग में भी मानव के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में मिथक अपने घटनात्मक अर्थ में नहीं बल्कि व्यापक सांस्कृतिक अर्थ में सम्मिलित हैं। भारतीय इतिहास के सत्‌युग, त्रेता और द्वापर प्राग् इतिहास के अन्तर्गत आते हैं। भारत की आधुनिक ऐतिहासिकता बौद्ध युग से प्रारम्भ होती है। परन्तु मध्य काल में एक बार पुनः मिथकीय प्रवृत्ति ने भारतीय जनमानस पर बहुत तीव्र प्रभाव डाला। इतिहास को मिथक बनाना मध्यकाल की सर्व-स्वीकृत प्रवृत्ति थी। मध्यकाल की धर्म-चेतना उसकी रीढ़ थी। बौध्द और महावीर के जीवन के साथ भी अनेक मिथक जोडे गये। जातक कथायें भी मिथक ही हैं। परन्तु उनके माध्यम से बौध्द काल के समाज-धर्म, राजनीति, इतिहास, अर्थ-व्यवस्था और दर्शन को समझने में सहायता मिलती है। वस्तुतः इतिहास और मिथक के गहरे सम्बन्ध को डॉ. शंभुनाथ के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है " इतिहास मिथक का विज्ञान है। मिथक इतिहास की संवेदना है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह वस्तुतः जनता का भोगा हुआ ऐतिहासिक यथार्थ है। निश्चय ही मिथकीय भाषा अथवा कथन बहुत बिखरा, टूटा और क्रमहीन होता है; पर वह अर्थवान् होता है। इतिहास का काम है इस अर्थ को ढूंढ़ना और उसे एक व्यवस्थित क्रम में रखना।"[११]

— राम सनेही लाल शर्मा

हिन्दी विभाग
एस्. आर. के. स्नातकोत्तर
महाविद्यालय
फ़िरोज़ाबाद – २८३२०३
आगरा
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१) 'इतिहास' शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग 'अथर्ववेद' में मिलता है। वहां कहा गया है।

"स बृहतीं दिशमनुथंचलत्। तमितिइास पुराणंच गाथाश्च नाराशंसीश्चानु व्यचलन्। इतिहास्य च वै स पुराणस्यच गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवंति एवं वेद।"

अथर्ववेद – १५/।६/१०–१२

(अर्थात् महत्त्वाभिलाषी पुरुष जब (बृहतीम्) महत्त्व की ओर चलता है तब इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी उसके अनुगामी बन जाते हैं। इस बात को जो पुरुष जानता है, वह पुराण, गाथा और नाराशंसी का प्रियधाम बन जाता है।)

इसके अतिरिक्त परवर्ती ग्रन्थों, गृह्यसूत्र, छान्दोग्योपनिषद्, व्याकरण महाभाष्य और महाभारत आदि में भी इतिहास शब्द का प्रयोग हुआ है। हां; विशेष बात यह है कि इस शब्द का प्रयोग सर्वत्र गाथा, पुराण, नाराशंसी आदि शब्दों के साथ हो हुआ है।

२) जी. बैरेकली – हिस्ट्री इन ए चेंजिंग वर्ल्ड (१९५५) पृ. १४

३) ई. एच. कार – इतिहास क्या है (व्हाट इज हिस्ट्री का अनुवाद) (– अनुवादक अशोक चक्रधर) पृ २२–२३ – १९७६.
दि मैक्मिलन कम्पनी ऑव इंण्डिया लिमिटेड

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४) संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आपटे – पृ. १७४
तृ. सं. १९७३ मोतीलाल बनारसीदास – वाराणसी
भाषा शब्द कोष – डॉ. रमाशंकर शुक्ल "रसाल" पृ. २६१
तृतीय संस्करण १९५१ – रामनारायणलाल वेनीमाधव, इलाहाबाद।

५) बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश – भाग २ सम्पादक डॉ. हरदेव बाहरी
पृ. ११९३ तृतीय संस्करण १९६९ ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी

६) मानविकी पारिभाषिक कोश (दर्शनखण्ड) – सम्पादक डा. नगेंद्र एवं डॉ. बी. एस्. नरवणे – पृ. १२५ दि. सं. १९६६.
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली।

७) पं. जवाहरलाल नेहरू – राजनीति से दूर – पृ. ११७–११८
१९५०, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

८) इधर ऐसे उपन्यासों और उपन्यास–श्रंखलाओं की बाढ़ आयी है जैसे
(क) रामकथापर – नरेन्द्र कोहली, गुरुदत्त वैद्य और आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने उपन्यास श्रृंखला लिखीं।
(ख) कृष्णकथा तथा महाभारत पर – रामकुमार भ्रमर, गुरुदत्त वैद्य और डॉ. मनु शर्मा ने उपन्यास श्रृंखलायें लिखी हैं।

९) आचार्य चतुरसेन शास्त्री, वयंरक्षामः (भाष्यम्) पृ. ४९–५१– प्र. सं. १९५५, शारदा प्रकाशन, भागलपुर।

१०) डॉ. रमेश कुंतल मेघ – मिथक और स्वप्न पृ. २१० प्र. सं. १९६७
ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर

११) डॉ. शम्भुनाथ – मिथक और आधुनिक कविता पृ. ३३ प्र. सं. १९८५, नेशनल पब्लिशिग हाऊस, दिल्ली।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तम का द्रव्यत्व : एक विश्लेषण

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में 'तम' के द्रव्यत्व के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यतायें प्रचलित हैं। सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य ने तम के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाली चार विप्रतिपत्तियों का निर्देश किया है, जो इस प्रकार हैं —

(अ) भाट्ट मीमांसकों एवं वेदान्तियों का मत :–

'तम द्रव्य है' ऐसा भाट्ट मीमांसक एवं वेदान्ती दार्शनिक मानते हैं।

(आ) श्रीधराचार्य का मत :–

न्यायकन्दलीकार के अनुसार, 'तम आरोपित नीलरूप' है।

(इ) प्राभाकर मीमांसकों का मत :–

प्राभाकर मीमांसकों के मत से 'तम आलोक के ज्ञान का अभाव' है।

(ई) नैयायिकों का मत :–

न्याय-वैशेषिक दर्शन में तम को 'आलोक का अभाव' कहा गया है।[1]

प्रस्तुत प्रपत्र में इन्हीं चारों विप्रतिपत्तियों का विश्लेषण अभीष्ट है। वास्तव में 'तम द्रव्य है या नहीं' यह विवाद मीमांसकों-वेदान्तियों तथा नैयायिकों-वैशेषिकों के मध्य ही विकट रूप से उपस्थित रहा है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में संसार के समस्त द्रव्यों का नवधा विभाजन कर यह प्रतिपादित किया गया है कि द्रव्य संख्या में नौ ही हैं, न उससे कम, न अधिक।[2] इसके विपरीत भाट्ट-मीमांसा दर्शन में 'तम' को भी दशम द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसीलिए न्याय-वैशेषिक के प्रायः सभी ग्रन्थों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'तम' सम्बन्धी मीमांसक मत का प्रबल खण्डन किया गया है। अतः यहाँ सर्वप्रथम इन्हीं दो मतों का पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्तपक्ष के रूप में विवेचन उपयुक्त रहेगा –

पूर्वपक्ष :– भाट्ट मीमासको एवं वेदान्तियों का मत–' तम द्रव्य है '–

कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायी मीमांसकों तथा चित्सुखाचार्य आदि वेदान्तियों का विचार है कि 'तम' को भी अतिरिक्त भावरूप द्रव्य मानना चाहिए, क्योंकि उसमें गुण (श्यामवर्ण) और क्रिया (गति) दोनों ही पाये जाते हैं। अतः 'गुणक्रियावत् द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण तम पर पूर्णतः घटित हो जाता है।[३]

'तम भावरूप द्रव्य है'–यह सिद्ध कर लेने पर पूर्वपक्षी दार्शनिकों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तम को न्याय–वैशेषिकाभिमत नौ द्रव्यों में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। अतः उसे दसवाँ द्रव्य मानना ही पड़ेगा। तद्यथा–तम को आकाशादि अन्तिम पाँचों द्रव्यों (आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन) में से किसी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ये पाँचों रूप-रहित होते हैं और तम में नीलरूप होता है। तम को वायु भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो इसमें स्पर्श (वायु का विशेष गुण) है और न ही वायु की भाँति इसमें सतत गति होती है। तम का अन्तर्भाव तेज में भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि न तो उसमें उष्णस्पर्श होता है और न ही भास्वर रूप। तम जल भी नहीं है क्योंकि न तो उसमें शीतस्पर्श है और न ही श्वेतवर्ण। तम को पृथिवी भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न तो उसमें गन्ध है और न ही स्पर्श।

अतः तम को उक्त नौं द्रव्यों से पृथक् दसवाँ द्रव्य मानना ही पड़ता है,[४] ऐसा भाट्ट मीमांसकों एवं चित्सुख आदि वेदान्तियों का मत है।

सिद्धान्तपक्ष– नैयायिकों का मत– 'तेज का अभाव ही तम है'–

पूर्वपक्षी मीमांसक की उक्त युक्तियों का न्याय वैशेषिक दर्शन में निराकरण किया गया है और यही प्रतिपादित किया गया है कि तम कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। वह तेज का अभाव मात्र है।[५] तेज को मानने पर तेज का अभाव तो मानना ही पडेगा और जब अन्धकार को तेज का अभाव मानने से ही काम चल जाता है, तो एक नये द्रव्य की कल्पना क्यों की जाये ?[६]

तर्कदीपिकाकार अन्नम्भट्ट ने तम के द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि तम को दशम द्रव्य मान भी लिया जाये, तो वह या तो रूपवान् द्रव्य होगा या रूपरहित। वह रूपरहित हो ही नहीं सकता, क्योंकि स्वयं मीमांसक उसमें श्यामवर्ण (रूप) की स्थिति स्वीकार करता है, जब कि सिद्धान्तमतानुसार तम को रूपवान् द्रव्य नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्येक रूपिद्रव्य को चाक्षुष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है, जबकि अन्धकार तो तभी देखने में आता है, जब प्रकाश नहीं होता। अतः अन्धकार या तम को न्याय-वैशेषिक दर्शन में रूपवान् द्रव्य नहीं, अपितु प्रौढ प्रकाश या प्रकाशक तेज का अभाव कहा गया है।[७] श्रीकृष्ण धूर्जटि ने तम के इस लक्षण में प्रत्येक पद की अर्थवत्ता व्यक्त करते हुए कहा है कि यहाँ 'सामान्य' पद का अभिप्राय यह है कि तम या अन्धकार सभी प्रकार के तेज या प्रकाश का अभाव है, किसी विशेष प्रकार के तेज का नहीं। 'प्रकाशक' पद का प्रयोजन यह सूचित करता है कि कहीं सुवर्ण के अभाव को भी तम न समझ लिया जाये, चूंकि वैशेषिक दर्शन में तो सुवर्ण को भी तेज माना गया है। 'प्रौढ' का तात्पर्य यह है कि प्रकाश के सूक्ष्म कण अन्धकार का निषेध नहीं कर सकते।[८] इन दोनों मतों का सारांश यही है कि तम या अन्धकार कोई नया द्रव्य नहीं, तेज या प्रकाश का अभाव मात्र है।

'तम' में नील-प्रतीति भ्रामक है—यहाँ शंका हो सकती है कि यदि तम अभावरूप है तो उसमें कृष्णवर्ण या नीलरूप की प्रतीति क्योंकर होती है? अतः 'नीलंतमः' यह प्रतीति ही प्रमाणित करती है कि तम द्रव्य है, क्योंकि रूप एक ऐसा गुण है जो केवल द्रव्य में रहता है। नीलिमा भी एक रूपविशेष है. अतः उसका आधार कोई द्रव्य ही होना चाहिए। वही तम है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार यह शंका सर्वथा निराधार है, क्योंकि उनके विचार से तम में नील-प्रतीति होती ही नहीं, केवल उसका भ्रम होता है। जैसे 'नीला आकाश है' यह प्रतीति भ्रम है क्योंकि आकाश का कोई रूप नहीं, वैसे ही 'नीला अन्धकार है' यह प्रतीति भ्रम है।[९] अन्य शब्दों में, तम में नीलरूप-प्रतीति तो भ्रान्ति ही है, क्योंकि वहाँ दीपक के हटाने की क्रिया से ही नीलरूपत्व का आभास होता है, वस्तुतः नहीं।[१०] अथवा अन्धकार वह अभाव है, जिसपर नील रूप का आरोप होता है।[११] इस प्रकार, तम तेज का अभाव है तथा उसमें नीलरूप की प्रतीति भ्रान्ति है, यही सिद्ध होता है।

तम में गति या क्रिया भी भ्रांति ही है—पुनरपि यहाँ प्रश्न उठता है कि तम को तेज का अभाव मान लेने पर तथा उसमें नील-प्रतीति को भी औपाधिक मान लेने पर 'अन्धकार चलता है' इस अनुभव की व्याख्या कैसे की जा सकेगी क्योंकि क्रिया भी द्रव्य में ही सम्भव होती है।

न्याय-वैशेषिक मतानुसार अन्धकार में होनेवाली गमन-प्रतीति भी भ्रामक ही है, वास्तविक नहीं। क्योंकि 'अन्धकार चलता है' या 'अन्धकार में गति है' यह प्रतीति भी प्रकाश के हटने से होती है, वस्तुतः नहीं। अर्थात् जब प्रकाश एक जगह से दूसरी जगह जाता है तो प्रकाश के चलने के कारण अन्धकार भी चलता सा प्रतीत होता है।[१२]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार, गुणतत्व की भाँति तम में कर्मवत्ता प्रतीति भी औपाधिक ही है, वास्तविक नहीं। क्योंकि वह प्रकाश के हटने से होने वाली भ्रांति ही है, तथा 'नीला तम चलता है' यह ज्ञान भी भ्रम ही सिद्ध होता है।[१३] इसलिए, यह भी सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य नौ ही हैं, तम को दसवाँ द्रव्य नहीं माना जा सकता।

अत: 'तम' के विषय में सर्वदर्शनसंग्रह में निरूपित चार मतों में से उपर्युक्त दो विरोधी मतों (पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक, वेदान्ती एवं सिद्धान्तपक्ष के रूप में न्याय-वैशेषिक) का विवेचन कर लेने के उपरान्त अब शेष दो मतों पर विचार करना ही प्रासंगिक है।

(इ) श्रीधराचार्य का मत–'तेज का अभाव तम नहीं।'

न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य का विचार है कि केवल तेज की अप्रतीति ही तम नहीं है, अपितु बाहर की तरफ 'यह अन्धकार है, यह छाया है,' इत्यादि नीलाकार की प्रतीतियाँ होती हैं। अत: यह तम 'रूपविशेष' है जो तेज का अत्यन्ताभाव रहने पर समारोपित होकर तम कहा जाता है।[१४]

इस प्रकार, श्रीधराचार्य के अनुसार अन्धकार कोई नया द्रव्य तो नहीं है, किन्तु वह केवल तेज का अभाव भी नहीं है। क्योंकि तम को अभावरूप मान लने से तो नीलरूप का आरोप कठिन होगा, क्योंकि रूप भाव का धर्म है और अभाव में उसका आरोप असम्भव है। अत: किसी अन्य वस्तु पर आरोपित श्यामवर्ण ही अन्धकार है। अन्य शब्दों में, अन्धकार एक भावधर्म या गुण है। अपने इस मत के समर्थन में श्रीधराचार्य ने एक प्रमाण–श्लोक भी उद्धृत किया है तथा यही सिद्ध किया है कि अन्धकार या छाया की भी छोटी, बडी, लम्बी आदि रूप में प्रतीतियाँ होने से उसको अभावरूप नहीं माना जा सकता।[१५]

टिप्पणी–

जैसा कि स्पष्ट ही है, न्याय–वैशेषिक परम्परा में भी तम के सम्बन्ध में दो मत प्राप्त होते हैं – एक तो कणाद आदि प्राचीन आचार्यों का मत (तेज का अभाव ही तम है) तथा दूसरा श्रीधराचार्य का मत (आरोपित नीलरूप ही तम है)। इन दोनों मतों का पृथक्–पृथक् निर्देश सर्वदर्शनसंग्रह में ही किया गया है। वास्तव में यह मतभेद भी भारतीय दर्शन की व्यापक दृष्टि एवं प्रगतिवादिता का परिचायक है। यद्यपि स्वयं श्रीधराचार्य ने अपने मत को सूत्रकारानुसारी ही सिद्ध किया है,[१६] और प्राचीन परम्परा का विरोध उन्हें अभीष्ट प्रतीत नहीं होता, तथापि दोनों मतों में वैशिष्ट्य यही है कि सूत्रकार के अनुसार तो आलोक का अभाव ही तम है, जब कि कन्दलीकार के अनुसार तेज के अत्यन्ताभाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में आरोपित नीलरूपविशेष ही तम है। यह तो सुतरां सिध्द है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में तम को द्रव्य नहीं माना गया।

(ई) प्राभाकर मीमांसक मत–' तेज के ज्ञान का अभाव तम है '–प्रभाकर मिश्र के अनुयायी मीमांसकों का विचार है कि तेज का अभाव तम नहीं है अपितु तेज के ज्ञान का अभाव ही तम है। मानमेयोदय में यह मत इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है–' आलोक का प्रत्यक्ष न होने पर ग्रहण करनेवाली आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि होने से सामान्यत: नीलद्रव्य का स्मरण होने पर स्मृति को ग्रहण न करता हुआ उन दोनों के भेद पर ही बल देने वाला तम की नीलता का व्यवहार है – ऐसा गुरु (प्रभाकर) का मत है। [१७]

(उ) एक अन्य शंका – ' तम का अभाव ही तेज है।' माधवाचार्य द्वारा निर्दिष्ट उक्त चार मतों के अतिरिक्त तर्कसंग्रह की न्यायबोधिनी टीका और वैशेषिक सूत्रों के रसायनभाष्य में ' तम ' के सम्बन्ध में अेक अन्य शंका यह भी उठाई गई है कि तम को तेज का अभाव मानने की अपेक्षा तेज को ही तम का अभाव क्यों न मान लिया जाये ? [१८] इस दृष्टि से विचार करने पर तेज की बजाय तम का ही द्रव्य सिद्ध हो जाता है। अत: तम द्रव्य है।

किन्तु सूक्ष्म अन्वेषण के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मत सर्वथा निर्मूल ऐवं अमान्य है क्योंकि तेज को अभावरूप मान लेने पर तो सर्वजनसिध्द उष्णस्पर्श के आश्रय का ही अभाव हो जायेगा, जबकि भास्वर शुक्ल रूप एवं उष्णस्पर्श के आश्रय–रूप में तेज का द्रव्यत्व तो पूर्णत: अबाधित ही है। अत: तम का द्रव्यत्व सिध्द करने के लिये दी गई यह युक्ति भी अन्ततः अप्रामाणिक अेवं निराधार ही सिध्द होती है।

निष्कर्ष –

इस प्रकार, तम के द्रव्यत्व के विषय में उक्त सभी वादों का विश्लेषण कर लेने पर सारांश रूप में कहा जा सकता है कि तम के द्रव्यत्व सम्बन्धी पांचों विप्रतिपत्तियों में से न्याय वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता ही हमारे अनुभव के अनुकूल प्रतीत होती है कि तम तेज का अभाव मात्र है, कोई नया द्रव्य नहीं। इसी से यह भी सिध्द हो जाता है कि द्रव्य नौ ही हैं, उससे अधिक नहीं। अन्त में, तम की द्रव्यत्वबाधक युक्ति को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है –

' तमःशब्दो द्रव्यवाचको न भवति
आलोकशब्दान्यत्वे सति आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचित्वात्
आलोकाभावशब्दवत् ' [१९]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अथवा

' तमःपदम् आलोकाभाववाचकम्
आलोकानपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचकत्वात्
आलोकवत् । [२०]

संस्कृत विभाग — शशिप्रभा ' कुमार '
मैत्रेयी महाविद्यालय
दिल्ली

टिप्पणियाँ

१. ' तथाहि—द्रव्यं तम इति भाट्टा वेदान्तिनश्च भणन्ति । आरोपितं नील रूपमिति श्रीधराचार्याः । आलोकज्ञानाभाव इति प्राभाकरैकदेशिनः । आलोकाभाव इति नैयायिकादयः ।

— स. द. सं. पृ. ४३५

२. ' तेन नवैव द्रव्याणि नाधिकानि, न न्यूनानि चेत्यर्थः ।'

— उपस्कार, पृ. ३२

३ (क) गुणकर्मादिसद्भावादस्तीति प्रतिभासतः ।
प्रतियोग्यस्मृतेश्चैव भावरूपं ध्रुवं तमः ॥ —

मानमेयोदय, पृ. १६२

(ख) तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे ।
द्रव्यान्तरं तमः कस्तादकस्मादपलप्यते ॥

— अस्ति हि तमस्तमालश्यामलमिति प्रतीतिः ।

— चित्सुखी, पृ. ४९–५०

४. तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत् ।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥ पादटिप्पणी में उद्धृत

— तर्कसंग्रह, पृ. ३ पर

५. द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तमः ।

— वै. सू. ५–२–१९

६. आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनायाम्
अन्याय्यत्वात् । — न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. ५१

७. ' तमो हि न रूपवद्द्रव्यमालोकासहकृत चक्षुर्ग्राह्यत्वादालोकवत् । रूपिद्रव्यचाक्षुषप्रमायामालोकस्य कारणत्वात्, तस्मात् प्रौढ-प्रकाशकतेजः सामान्याभावस्तमः ।

— त. दी. पृ. ५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

८. सिद्धान्तचन्द्रोदय (तर्कसंग्रह, पृ. ७४ पर उद्धृत)

९ 'रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा'। – न्या. सि. मु. पृ ५२

१० तमसि नीलरूपप्रतीतिस्तु भ्रान्तिरेव. दीपापसरणक्रियाया एव तत्र भानात्। – न्यायबोधिनी, त. सं. पृ. ५

११. आरोपितनीलरूपो अभावो अन्धकार:।

– सप्तपदार्थी, पृ. १३३

१२. तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च – वै. सू. ५.२२० तथा
तस्मादावरकद्रव्ये गच्छति यत्र यत्र तेजसोऽसान्निधिस्तत्र तत्र छायाग्रहणादन्यदेशतानिबन्धनो गतिभ्रम इति।

– किरणावली, पृ. १९

१३. तत्सिद्धं–तमसि कर्मप्रतीते: सर्वथा भ्रान्तिरूपतया तत्कारणविमर्शो व्यर्थ इति। – वै. द. रसायनभाष्यम्, पृ. १४५

१४. तस्मान्नाभावोऽयम्। न चालोकादर्शनमात्रमेवैतत्, बहिर्मुखतया तम इति, छायेति च कृष्णाकारप्रतिभासनात्। तस्माद्रूपविशेषोऽयमत्यन्तं तेजोऽभावे सति सर्वत: समारोपिततम इति प्रतीयते।

– न्या. क. पृ. २५

१५. अतएव दीर्घा, ह्रस्वा, महती, अल्पीयसी छायेत्यभिमान:, तद्देशव्यापिनो नीलिम्न: प्रतीते:, अभावपक्षे च भावधर्माध्यारोपोऽपि दुरुपपाद:। तदुक्तम्।

न च भासामभावस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम्।
छायाया: कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुते:॥ न्या. क. पृ २५.

१६. नन्वेवं तर्हि सूत्रविरोध: द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तम: इति? न विरोध:, भाभावे सति तमस: प्रतीतेर्भाभावस्तम इत्युक्तम्। वही, पृ. २६

१७. आलोकादर्शने सति ग्राहकभूतात्मस्वरूपोपलम्भात् सामान्यतो नीलद्रव्यस्मरणे सति स्मृतित्वमनुग्रहणतस्तयोर्भेदाग्रहनिबन्धन स्तमोनैल्यव्यवहार: इति गुरुमतम्।' – मा. मे. पृ. १६३

१८. न च विनिगमनाविरहात्तेज एवान्धकाराभावस्वरूपमिति वाच्यम्। तेजसोऽभावस्वरूपत्वे सर्वानुभूतोष्णस्पर्शस्याश्रयबाधाद् द्रव्यान्तरकल्पने गौरवात्। न्या. बो. (त. सं. पृ. ५ पर उद्धृत) तथा – अस्तु च तमोऽभावस्तेज इति वाच्यम्। औष्ण्याश्रयत्वादिना तेजसोऽवश्याभ्युपेयत्वात्। वै. द. रसायनभाष्य, पृ. १८२

१९. लक्षणावली, पृ. ३

२०. मानमनोहर पृ. ५३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वोदय और लोकतन्त्र : एक समीक्षा

आज के युग की जो आकांक्षा है, उससे सर्वोदय के लिए अनुकूल वातावरण पैदा हुआ है। 'सर्वोदय' मुख्यत: रस्किन की पुस्तक अनटू दि लास्ट का स्वतन्त्र भागवत अनुवाद है जिसके प्रभाव से गाँधी जी की जीवन–रीति ही बदल गयी। उनका मानना है कि सर्वोदय का दर्शन समग्र जीवन के लिए होना चाहिए; निरपेक्ष होना चाहिए।

सर्वोदय का अर्थ है– सबका जीवन साथ–साथ सम्पन्न हो। जीवन का अर्थ है–विकास, अभ्युदय या उन्नति। सबका सहविकास हो। इसलिए एक साथ समान रूप से सब का उदय हो, यही सर्वोदय का उद्देश्य है। गाँधीजी ने सर्वोदय के सिद्धान्तों को बताते हुए कहा है कि :–

१. व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में ही निहित है।

२. वकील का काम हो या नाई का; दोनों का मूल्य एकसा होना चाहिए। कारण कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

३. मजदूर, किसान अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

गाँधीजी के अनुरूप इनमें से पहली बात तो वे जानते थे, दूसरी बात धुंधले रूप में उनके सामने थी, पर तीसरी बात का तो उन्होंने विचार ही नहीं किया था। अनटू दि लास्ट पुस्तक ने सूर्य की भाँति उनके समक्ष यह बात स्पष्ट कर दी कि पहली बात में ही दूसरी और तीसरी बातें समाविष्ट हैं। [1]

गाँधीजी ने सर्वोदय–दर्शन की भूमिका में आज की प्रचलित समस्त पद्धतियों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के गुणात्मक स्वरूप को मानवीय मूल्यों के आधार पर प्रस्तुत किया है। गाँधी जी ने कहा है, 'समाजवाद या साम्यवाद आदि पश्चिम के सिद्धान्त जिन विचारों पर आधारित हैं, वे हमारे तत्संबंधी विचारों से बुनियादी तौर पर भिन्न हैं। इसीलिए हमारे समाजवाद या साम्यवाद की रचना अहिंसा के आधार पर और मजदूरों तथा पूंजीपतियों या जमीदारों तथा किसानों के मीठे सहयोग के आधार पर होनी चाहिए।'[२] गाँधीजी कहते हैं कि–'मेरा दृढ विश्वास है कि हिंसा की नींव पर किसी स्थायी रचना का निर्माण नहीं हो सकता।'[३] 'सर्वोदय कोई प्रतिक्रिया वादी–विचार नहीं है जो पूंजीवादी पद्धति की प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न हुआ हो, [जैसा कि समाजवाद के बारे में कहा जाता है], बल्कि सर्वोदय भारतीय संस्कृति की अपनी मौलिक देन है और गाँधी जी के जीवन में यह मूल विचार प्रस्फुटित हुआ है।[४]

गाँधी जी के सर्वोदय समाज में परिश्रम मनुष्य की सांस्कृतिक आवश्यकता है। श्रम संस्कृति और सभ्यता का स्रोत है।

सर्वोदय आखिर है क्या ? सबका उदय, सबका उत्कर्ष, सबका विकास। भारत का तो यह परम पुरातन आदर्श ठहरा।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुखमाप्नुयात् ॥

जैनाचार्य समन्त भद्र के अनुसार 'सर्वोदय का आदर्श अद्वैत है और उसकी नीति समन्वय। मानवकृत विषमता का निराकरण और प्राकृतिक विषमता को घटाना, यह सर्वोदय का प्रयत्न साध्य है।'

प्राणीमात्र के लिये समादर, प्रत्येक के प्रति सहानुभूति ही सर्वोदय का मार्ग है। जीव–मात्र के लिए सहानुभूति का यह अमृत जब जीवन में प्रवाहित होता है, तो सर्वोदय की लता में सुरभिपूर्ण सुमन खिल उठते हैं।

Darwin, Survival of the fittest की बात कह कर रुक गया। Huxley एक कदम आगे बढ़ा। वह कहता है।–Live and let live. परन्तु सर्वोदय कहता है, 'तुम मुझे जिलाने के लिये जिओ, मैं तुम्हें जिलाने के लिए जिऊँ, तभी और केवल तभी सब का जीवन सम्पन्न होगा, सब का उदय होगा, सर्वोदय होगा।'

सर्वोदय की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। नैतिकता इसकी आत्मा है। पर प्रश्न है कि यह सर्वोच्च सामाजिक व्यवस्था में कहाँतक उपयोगी है ? आज तीन प्रकार की सत्तायें चल रही हैं–शस्त्र सत्ता, धन सत्ता और राज्य सत्ता। परन्तु जागतिक स्थिति ऐसी हो गयी है कि इन तीनों सत्ताओं पर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। आज सभी लोग किसी अन्य मानवीय शक्ति की खोज में हैं और वह मानवीय शक्ति सर्वोदय के माध्यम से ही विकसित हो सकती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आज की वर्तमान राज्य सत्ता पुलिस और सेना के सहारे जीती है, कानून की छत्रछाया में बढती है। एक ओर तो वह अल्पसंख्यों के प्रति अन्याय न होने देने का दावा करती है, दूसरी ओर बहुसंख्यों के हितों की रक्षा का ढिंढोरा पीटती है। पर अल्प–संख्यक भी उनकी शिकायत करते हैं, बहुसंख्यक भी। हमारी आज की राजनीति इन्हीं आदर्शों पर पल रही है। जब तक हमारा कोई सामाजिक लक्ष्य नहीं होगा तब तक हमें सही दिशा नहीं मिल सकती। राजनीतिक भाषणबाजी लक्ष्य का आधार नहीं हो सकती। पूर्ण विवेक से योजना का निर्धारण करना होगा।

लोकतन्त्र के आधार–भूत सिद्धान्त समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व को ही सिर्फ सर्वोदय का मूल मानना उस महान् उद्दिष्ट के प्रति पूर्णतः अन्याय है। यही कारण है कि भारतीय लोकतन्त्र अपने उद्देश्यों को नहीं हासिल कर सका है और ना ही हम पूरी तरह इसे आत्मसात् ही कर सके हैं। यूरोपीय देश और भारतीय व्दीप की परिस्थिति में मूलभूत अन्तर है। हमारे देश की अधिकतम आबादी अभी भी ग्रामीण अंचलों में रहती है, जिनका मूल आधार कृषि है।

हमारे देश के नेता और राजनीति का इतना ही दोष है कि वे अपने दिमाग का इस्तेमाल सही दिशा में नहीं करते। मनुष्य जाति के लिए वे कम नुकसानदेह होते, अगर नये विचार से वे मौजूदा हालत में दुःख और गरीबी से उबारने की कोशिश करते। लेकिन वे पश्चिमी देशों के तरीकों का नकल कर के धन पैदा करना चाहते हैं। वे पूर्णतः धन पैदा करने में भी सफल नहीं हुये, किन्तु उन्होंने धनी और गरीब के बीच की खाई और चौडी ही की है। एयर कंडीशन और खुली नालियों या बिना नाली की गन्दी हालत, दोनों यहाँ हैं। मालिकों के नमूने पर स्कूल बना कर वे गुण उपजाने की कोशिश करते हैं। गुण सच और कर्म की आत्मा नहीं रह जाती है और यह बोलचाल और वेष तक सीमित रह जाती है। यह एक खतरनाक हालत है, जिसमें मनुष्य जाति के तीन चौथाई हिस्से का गौरव गरीबी और दुर्गुण के कारण नष्ट हो चुका है और शेष एक चौथाई भी सच को लगातार दबाए रखने में नष्ट होने जा रहा है।

किसी राष्ट्र के स्त्री–पुरुषों का चरित्र या गुणों का बहुत बडा भौतिक और अध्यात्मिक महत्त्व होता है। सांस्कृतिक परम्परा और वर्तमान संस्कृति दोनों किसी कौम के निश्चय ही बडे तत्त्व हैं। वर्तमान इच्छित सांस्कृतिक पोषण के लिए पहले यह आवश्यक है कि गलत धारणाओं को दूर किया जाय। मिसाल के लिए यह विश्वास आम तौर पर फैला हुआ है कि सच तो भरे पेट की सजावट है। (यहाँ सच का तात्पर्य अन्तिम दार्शनिक सत्य से नहीं बल्कि सामाजिक सच से है) यह विश्वास अपने में सही है, पर पूरा नहीं। यह कहना करीब–करीब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उतना ही सही होगा कि सच के कारण पेट भरता है। डॉ. राम मनोहर लोहिया ने बताया है कि–' वातावरण व संस्कृति और परिस्थिति व इच्छा के बीच की परस्पर क्रिया को कभी एक की दूसरे के ऊपर क्रिया के विकृत रूप में नहीं देखना चाहिए। विकृत रूप के कारण ही आदमी का बहुत सा शारीरिक और बौद्धिक प्रयास बेकार हो रहा है। सच और भरे पेट का एक दूसरे से सम्बन्ध है। सजग सांस्कृतिक कर्म स्वयं ऐसी आर्थिक हालत पैदा करेगा, जिसमें उचित पोषण सम्भव है। और साथ ही उचित मन:स्थिति और भावनाएँ ऐसी ढलें कि आदमी की आदतों का सच एक हिस्सा बन जाय। सरकार, फैक्ट्री, राजनीतिक दल, स्कूल, परिवार या हर आधुनिक संगठन में सच्चाई की निर्णायक अहमियत से इन्कार नहीं किया जा सकता। सभी चीजें सच की धूरी पर घूमती हैं।' [५]

आज सफलता करीब–करीब पूरी तरह संगठन पर निर्भर है। संगठन का मतलब तरह–तरह के हूनरवालों को एक जगह इकट्ठा करना है, जो सच्चाई और लगन से सौंपी गयी जिम्मेदारी निभायें और जो अपनी भूल सूधारें और नित्यचर्या के काम से अकार्य–कुशलता और फिजूल खर्ची दूर करने में सजग रहें। सच्चाई आनेपर हूनर और तबियत से काम करना लाजिमी है, क्योंकि कोई भी उस पद को नहीं चाहेगा जिसके लायक वह नहीं है, या उस पद पर नहीं बना रहेगा, जब तक इच्छा और निष्ठा से काम में न लगे। सही कसोटी कडे परिश्रम की नहीं है, बल्कि ईमानदारी से काम करने की है।

हमारे यहां दैनिक जीवन और आपसी रिश्तों में सच्चाई का अपेक्षाकृत अभाव है। ऐसी हालत में सामूहिक काम मुश्किल हो जाता है। बहुत हद तक योजनाएँ कागज पर रह जाती हैं। हमारे यहाँ इतना आलसीपन भरा पड़ा है कि लोग योजना के शुरू के हिस्से में अत्यधिक आत्मविश्वास भरे रहते हैं। तय–शुदा कार्यक्रम पुरा नहीं करते और ऊँघते रहते हैं। सोचते हैं कि काफी समय पड़ा है। नियमित, भरोसे लायक, ठीक समय से, परिपक्व और ठोस तरीके से आखिर काम क्यों नहीं हो पाता? इसकी जड़ में बेशक ढ़िलाई और परानुमा ढुलमुल दिमाग है।

ढिलाई, उचित खुराक की कमी, राजनीतिक गुलामी, अपेक्षाकृत तृष्णाहीन संस्कृति और भौतिक सभ्यता जैसी चीजों के ही दलदल में पड कर हिंदुस्तान का अध:पतन हुआ है। सच और काम के मौजूदा गुणों को नये सांचे में ढालना होगा ताकि वे पूरी दुनियाँ को मान्य हो सकें। इन गुणों की जरूरत के बारे में कोई शक की गुँजाइश नहीं। आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में, राजनीतिक शासन और सांस्कृतिक धारा में – जिसके विस्तृत परिवेश में परिवार चलता है – क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा। सच और काम की केवल नसीहत मूल्य नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रखती। कानून और रिश्तों की विस्तृत पृष्ठभूमि में इस सच और काम को ठोस मतलब देना होगा। अच्छे गुण और शील को उपजाने के लिए स्कूल वाकई एक शक्तिशाली माध्यम है, लेकिन तभी, जब समाज उसको स्पष्ट उद्देश्य दे।

डॉ. लोहिया ने हिंदुस्तान के बारे में बहुत ही गहरा चिन्तन किया है। उनका स्पष्ट मत है कि – 'भाषा, जाति, धर्म और क्षेत्र, ये चार चीजें हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी चीजे हैं। उनका यह निजी अनुभव था कि जहाँ पेट बहुत ही प्रमुख चीज है वहाँ, कम से कम हिन्दुस्तान में, मन भी उतना ही प्रमुख है। जो व्यक्ति यह कहता है कि मन को ठीक किये बिना पेट को अलग से ठीक करो, वह नादान है, बेचारा अभी कुछ जानता नहीं। जो आदमी यह कहता है कि कारखानों की तादात बढा दो, उद्योगीकरण कर दो, उसके बाद जाति के, भाषा के, क्षेत्र के और धर्म के सवाल अपने आप हल हो जायेंगे, वह न तो दुनिया जानता है, न आदमी जानता है, न हिन्दुस्तान जानता है। यह अद्भुत देश है। इसको या तो खुद चोट लगे, तब तो अपनी चोट को आदमी खुद ही समझ सकता है या फिर, उसका दिल गाँधी जी के जैसा चौडा होना चाहिए; वरना ये नकली लोग जब इधर–उधर के उधार औजारों से इस देश को बदलने की कोशिश करते हैं तो बड़ा गुस्सा आता है।'[६] वर्तमान व्यवस्था में यही नकलीपन स्पष्ट दर्शनीय है। सही विकास की प्राथमिक आवश्यकता यह है कि खेती–कारखाने में पैदावार के जो कोई साधन है, सम्पत्ति है उसको राष्ट्र की सम्पत्ति बनाना होगा, समाज की सम्पत्ति बनाना होगा। तभी संसार के दुःख – दर्द दूर होंगे।

एक बात साफ तौर पर बतानी है कि लगभग पाँच हजार बरसों से लगातार चिल्लाते रहने के कि सम्पत्ति का मोह छोडो, सम्पत्ति के मोह ने हिन्दुस्तानियों को और ज्यादा ग्रस्त रखा है और उसी तरह से, अगर यह सम्पत्ति के राष्ट्रीयीकरण वाली बात चल पडी तो हजार दो हजार बरस के बाद शायद इसका भी वही नतीजा निकले। इसलिए जब तक सम्पत्ति की असलियत रहेगी तब तक सम्पत्ति के मोह के खातमे की बात सोचना धोखेबाजी है। व्यक्तिगत सम्पत्ति से हट कर हम सामूहिक सम्पत्ति को बढाने की बात सोचें। सामूहिक सम्पत्ति को बढाते–बढाते हम व्यक्तिगत सम्पत्ति के मोह का नाश करें।

गाँधीजी को आदर्शवाद का प्रतीक मानना गलत है। हिन्दुस्तान को शायद गाँधी से अच्छा कोई पहचान नहीं सका है। सर्वोदय का मूल व्यक्ति का चरित्र निर्माण रहा है। वास्तव में मन, दिमाग और चरित्र बदले बिना कोई बडी चीज हो सकती है तो यह सम्भव नहीं। मुख्य बात है चरित्र का पुनर्निर्माण। और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसका आधार है सत्य और अपरिग्रह। आधुनिक परिवेश में यह भी आवश्यक है कि गाँधी के जीव मात्र के प्रति समादर की भावना को लक्षियत किया जाय और अद्वैत एवं समन्वय की नीति से आधुनिक समस्याओं का निराकरण किया जाय।

महात्मा बुद्ध और महावीर के अध्यात्म प्रधान उपदेशों में भी ऐसी ही भावना आयी है। बुद्ध और रोगी भिक्षु की कथा प्रासंगिक है। विनयपीटक में वर्णित है कि ' बन्धुओं, तुम्हारी देखभाल करने के लिए माता या पिता नहीं है। यदि तुम एक दूसरे की देखभाल नहीं करोगे तो और कौन करेगा। बन्धुओं, जो मेरी देखभाल करे उसे रोगियों की देखभाल करनी चाहिए।' जैन धर्म में भी सेवाभाव को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। महावीर ने स्पष्ट कहा है – ' जैसे जीवित रहने का हमें अधिकार है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी है। जीवन का विकास संघर्ष पर नहीं सहयोग पर आधारित है। आदमी जितना उन्नत होता है उसी अनुपात में सहयोग और त्यागवृत्ति का विकास देखा जाता है। लोक-कल्याण के लिए अपनी सम्पति विसर्जित कर देना एक बात है और स्वयं सक्रिय रूप में घटक वन कर सेवा कार्यों में जुट जाना दूसरी वात है। यही सेवा का सकारात्मक रूप है।'[८]

इसी सेवा--भाव को गांधी जी ने उच्चतर स्थिति प्रदान की। शरीर–श्रम ही सेवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है। यही कारण है कि गाँधीजी ने हाथ से काम करने वालों का–जैसे–मजदूर, किसान और कारीगर का–जीवन ही सच्चा सर्वोत्कृष्ट जीवन माना है। आज के परिवेश में यह सही भी है। राम मनोहर लोहिया ने लिखा है कि माध्यमिक तालीम पाने के बाद लडके–लडकी हाथ के काम से कुछ विमुख हो जाते हैं और लिखावट का काम पसन्द करते हैं। यह सम्भव नहीं है कि हिन्दुस्तान की जो जात–पात बनी है केवल इसी के कारण बनी, लेकिन उसके बनने में यह भी एक आधार रहा है कि जहां आदमी का रूलबा बढता है, शिक्षा बढती है, वह कुछ हाथ के काम से– नाईगिरी, मिट्टी खोदने वगैरह से–विमुख हो जाता है।'[९]

गाँधीजी पूंजी और श्रम में किसी प्रकार के संघर्ष की आवश्यकता नहीं ऐसा मानते थे। ये एक दूसरे के पूरक हैं। इनके बीच उत्पन्न संघर्ष को खत्म करने के लिए ' ट्रस्ट्रीशिप का सिद्धान्त ' सामाजिक चिन्तन के इतिहास को उन्होंने प्रदान किया। लोकतन्त्र की आर्थिक पृष्ठभूमि पर गाँधी जी का पूंजी और श्रम के सामंजस्य को यह प्रयास आर्थिक क्षेत्र में बहुत बडी उपलब्धता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार लोकतन्त्र को पूर्ण कारग बना कर सुख–समृद्धि को बढाने के लिए गाँधी जी के सर्वोदय को पूर्ण प्राथमिकता देनी होगी और आज के मूल उद्देश्य भौतिकता को आध्यात्मिकता की मूल भित्ती पर प्रतिष्ठापित करना होगा।

– अजयकुमार राय

द्वारा, श्री. जयनाथ राय
अंग्रेजी दफ्तर
कलेक्टोरेट
जिला – बलिया
उ. प्रदेश – २७७००१

टिप्पणियाँ

१) सर्वोदय – (उद्धृत) (संक्षिप्त) आत्मकथा – महात्मा गाँधी
पृ. ७७
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन – १९८५.
२. अमृत बाजार पत्रिका (अंग्रेजी दैनिक – कलकत्ता) २ अगस्त, १९३४.
३. यंग इंडिया (पत्रिका) १५ नवम्बर, १९२८.
४. तुलनात्मक आर्थिक प्रणालियाँ : डॉ. डी. एन्. चतुर्वेदी, पृ. – ४५९;
(द्वितीय भाग) उ. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ,
काशी विद्यापीठ मुद्रणालय, वाराणसी – २.
५. सच, कर्म, प्रतिकार और चरित्र निर्माण : आवाहन – डॉ. राम मनोहर लोहिया, पृ. १२–१३. लोहिया साहित्य – २०.
६. भारत में समाजवाद – डॉ. राम मनोहर लोहिया, पृ. १२–१३.
लोहिया साहित्य – २०.
७. (उद्धृत) अद्भुत भारत – मूल लेखक – ए. एल्. बाशम – अनुवादक वेंकटेशचन्द्र पाण्डेय, पृ – २४५.
८. जैनदर्शन में जनतान्त्रिक सामाजिक चेतना के तत्त्व, डॉ. नरेन्द्र भानावत; (द्वारा थर्ड इण्टरनेशनल जैन कानफरेन्स,), पृ. ५४.
९. भारत में समाजवाद – डॉ. राम मनोहर लोहिया, पृ. – २१,
लोहिया साहित्य – २०.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१५)
विषयता

नव्य-न्याय में प्रतियोगिता और अवच्छेदकता के समान अत्यधिक प्रयुक्त होनेवाला पारिभाषिक शब्द है विषयता। न्याय सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि, इच्छा; कृति और द्वेष ये आत्मा (व्यक्ति) के गुण हैं। ये गुण सर्वदा सविषयक होते हैं।[१] विषय के बिना इनका कोई अस्तित्व नहीं है। जब भी ज्ञान होता है तो वह किसी न किसी वस्तु का या किसी घटना का होता है। जिस वस्तु या घटना का जब जो ज्ञान होता है वह वस्तु या घटना उस ज्ञान का विषय होता है, तथा स्वयं ज्ञान विषयी होता है। (लेकिन ऐसा स्वीकार करते समय ज्ञान को ज्ञाता के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिये।) बिना किसी विषय के हम कभी नहीं कह सकते कि 'हम जानते हैं'। जब भी ज्ञान के बारे में हम कुछ कहते हैं तो यही कहते हैं कि 'मैं अमुक वस्तु को जानता हूँ', मैं अमुक शास्त्र को जानता हूँ' आदि। किसी भी विषय से विरहित 'मैं जानता हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं होती। अतः बुद्धि (ज्ञान) सर्वदा विषय को ले कर ही होती है।[२]

उसी प्रकार इच्छा भी किसी विषय की होती है। बिना किसी विषय के कोई इच्छा नहीं होती। हम कभी इतना मात्र नहीं कह सकते कि 'मेरी इच्छा है' या 'मैं इच्छा करता हूँ'। हम जब भी इच्छा को प्रकट करते हैं तो कहते हैं 'मैं अमुक वस्तु की इच्छा करता हूँ' या 'मेरी अमुक इच्छा है'। उसी प्रकार कृति भी विना विषय की नहीं होती है। कोई भी मात्र यह नहीं कहता कि 'मैं प्रयत्न कर रहा हूँ'। सभी कहते हैं कि 'मैं अमुक विषय में प्रयत्न कर रहा हूँ'। उसी प्रकार द्वेष भी बिना विषय के नहीं होता। द्वेष का विषय भी कोई व्यक्ति; वस्तु या घटना होती है। बिना विषय के द्वेष भी उत्पन्न नहीं होता। कोई भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यक्ति कभी भी मात्र यह नहीं कहता कि 'मैं द्वेष करता हूँ'। सर्वदा हर कोई यही कहा करता है कि 'मैं अमुक अमुक का द्वेष करता हूँ'। इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न तथा द्वेष सर्वदा किसी न किसी विषय को ले कर उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें सविषयक अर्थात् विषय से सम्बन्धित कहा जाता है।

इस प्रकार जिस का ज्ञान होता है उसमें विषयता नामक पदार्थ (धर्म) रहता है और ज्ञान में विषयिता नामक पदार्थ (धर्म) रहता है। विषयता यह ज्ञान, इच्छा, कृति, द्वेष इन में से किसी न किसी के द्वारा प्रदर्शित होनेवाला एक स्वतन्त्र पदार्थ या स्वरूप सम्बन्ध का ही एक प्रकार है। "मैं अमुक को जानता हूँ" या "मैं अमुक वस्तु की इच्छा करता हूँ" इस प्रकार की प्रतीति से ही विषयता नामक पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है। बुद्धि, इच्छा आदि पदार्थ वस्तुविषयक हो कर ही जन्म लेते हैं। बिना विषय के उनका न तो जन्म ही होता है और न ही वे प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार अभाव की विलक्षणता प्रतियोगिता की विलक्षता पर आधारित होती है उसी प्रकार विभिन्न ज्ञानों का भेद उनकी विषयता की भिन्नता के आधार पर ही ज्ञात होता है। विषयता पदार्थ स्वीकार न करने पर संशय, निश्चय, समूह-लम्बज्ञान, समुच्चय-सम्भावना आदि में भेद करना असम्भव है। विषयताओं की भिन्नता ही बुद्धियों की भिन्नता को प्रकाशित करती है।

विषयता में रहनेवाला विषयतात्व धर्म अखण्डोपाधि है। न्याय-सिद्धान्त के अनुसार जो कहीं पर रहता है वह धर्म है। "ध्रियते, तिष्ठति, वर्तते यः स धर्मः"। आकाश, काल, दिशा आदि को छोड़ कर सभी पदार्थ कहीं न कहीं रहते हैं। अतः वे सब धर्म कहे जाते हैं। जो पदार्थ जिस में (पर) रहता है वह उसका धर्म कहलाता है। जैसे, मनुष्यत्व मनुष्य मात्र में रहता है, और वह (मनुष्यत्व) उसका (मनुष्य का) धर्म है। उसी तरह पशुत्व पशु का धर्म है। पुस्तक मेज़ का धर्म बनता है। तन्तुओं पर वस्त्र रहता है (याने तन्तुओं का वस्त्र बनता है) तो वस्त्र तन्तुओं का धर्म है, पात्र में जल रहता है तो जल पात्र का धर्म है। आकाश इत्यादि पदार्थ कहीं नहीं रहते हैं, इसलिये आकाश किसी भी पदार्थ का धर्म नहीं है।

धर्म दो प्रकार का होता है – जाति और उपाधि। जिसके कारण विभिन्न आकृति, रंग, रूप वाले पदार्थ एक श्रेणी या वर्ग में समाविष्ट होते हैं ऐसा समवाय नामक सम्बन्ध से रहनेवाला अविनाशी पदार्थ जाति कहलाता है। जाति, पदार्थ के एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग करने का भी काम करती है। जैसे, विभिन्न देशों में रहनेवाले मनुष्य आकृति, रूप और रंग में भिन्न होने पर भी एक मनुष्य जाति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के कारण एक समुदाय के रूप में जाने जाते हैं और दूसरे पशुओं के समुदाय से भिन्न किये जाते हैं।

जो पदार्थ जाति न हो कर भी अपने आश्रय को दूसरे पदार्थों से अलग रूप में प्रस्तु करता है उपाधि कहलाता है।

उपाधि के दो प्रकार हैं – सखण्डोपाधि और अखण्डोपाधि । खण्ड या भागशः जो रहती है वह सखण्डोपाधि कहलाती है। याने जिसका खण्डशः विश्लेषण किया जा सकता है वह धर्म सखण्डोपाधि होता है। जैसे, पशुत्व धर्म। पशुत्व धर्म का अंशतः विश्लेषण सम्भव है क्यों कि पशु का अर्थ है " रोम और पूंछ से युक्त होना "। याने कि रोम, पूंछ ये पशु के धर्म हैं। रोम और पूंछ ये अंश अनेक हैं तथा इनका विश्लेषण रोमत्व युक्त तथा पूंछत्वयुक्त के रूप में किया जा सकता है । अतः पशुत्व यह सखण्डोपाधि है। उसी प्रकार ' जलयुक्त पात्र ' का धर्म जल भी सखण्ड है क्योंकि उसको जलत्व जातियुक्त के रूप में जल और जलान्य के द्वारा अंशतः विभाजित कर सकते हैं, क्योंकि यहाँ जल के दो अंश प्रकट होते हैं – जल तथा जलत्व जाति।

जिसका कोई अंशतः विश्लेषण नहीं हो सकता है वह पदार्थ, याने जो कि मनुष्यत्व, द्रव्यत्व आदि के समान अंशतः व्याख्यात नहीं होता है वह अखण्डोपाधि कहलाता है – जैसे, आकाशत्व भावत्व आदि । विषयतात्व भी किसी प्रकार से अंशतः विश्लेषण द्वारा व्याख्यात नहीं है । इसलिये वह अखण्डोपाधि कहलाता है। जाति और अखण्डोपाधि में यही भेद है कि जाति समवाय सम्बन्ध से अपने आश्रय के साथ सम्बन्धित होती है जब कि अखण्डोपाधि स्वरूप सम्बन्ध से अपने आश्रय से सम्बन्धित होती है।

विषयता, ज्ञान आदि से निरूपित (प्रदर्शित) होती है। वह उनकी निरूपक (प्रदर्शक) नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि विषयता और ज्ञान में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव नहीं है, जैसा कि अन्य पदार्थों में होता है। उनकी चर्चा पूर्व लेखों में की जा चुकी है।

विषमता के कई भेद होते हैं, जिन्हें प्रकारता, विशेष्यता आदि के रूप में जाना जाता है। प्रकारता और विशेष्यता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। जैसे प्रकारता से निरूपित विशेष्यता होती है उसी प्रकार विशेष्यता से निरूपित प्रकारता भी होती है। इनके विषय में आगे विवेचन किया जायगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि घट आदि पदार्थों में रहने वाली ज्ञान; इच्छा आदि की विषयता यह कौनसा पदार्थ है ? कुछ नैयायिकों का कथन है कि घट आदि पदार्थ में रहने वाली विषमता विषयाकार प्रतीति को साक्षी में रख कर प्रतीत होने वाला स्वरूप सम्बन्ध का ही एक प्रकार है।[३] विषयता का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञान प्रातियोगिक सम्बन्ध–विशेष है और वह प्रतियोगिता आदि के समान ही स्वरूप (याने यहाँ प्रतियोगि) से भिन्न नहीं है। इसे (विषयता को) स्वीकृत स्वरूप–सम्बन्ध के रूप में मानने से ही प्रश्न का समाधान हो सकता है और इसलिये अतिरिक्त पदार्थ के रूप में इसकी कल्पना करने के लिये कोई स्थान नहीं है।

परन्तु स्वरूप–सम्बन्ध के रूप में विषयता को स्वीकार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता कि वह ज्ञान–स्वरूप है या विषय स्वरूप ? और उसे केवल ज्ञान-स्वरूप या केवल विषय स्वरूप मानने में कोई युक्ति न होने से उसे दोनों के ही रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। लेकिन उसे दोनों के रूप में स्वीकार करने में गौरव दोष होने से उसे अलग अलग सम्बन्ध के रूप में याने एक विषयता के रूप में स्वीकार करना उचित है।[६]

तथापि इसका भी औचित्य कहाँ तक स्वीकार किया जा सकता है ? जब कि विषयता को विषय–रूप मानने पर विषय के साथ उसका आधाराधेय–भाव सम्भव नहीं है, विषयता का हमें होने वाला प्रत्यय आधेय के रूप में तथा विषय का हमें होने वाला प्रत्यय आधार के रूप में होता है। जैसे ज्ञानविषयतावान् घटः। अतः उसे ज्ञान–स्वरूप मानने में कोई बाधा नहीं है। विषयता को विषय–स्वरूप मानने पर भी विषय और विषयता के बीच आधार–आधेय–भाव मानने पर ज्ञानविषयतावान् घटः के समान घटः घटवान् यह भी प्रत्यय होना चाहिये। क्योंकि यहाँ विषयता और घट एक होने पर यदि विषयतावान् घटः यह प्रतीति होती है तो घट घटवान् है इस प्रतीति के होने में क्या बाधा हो सकती है ?[५]

विषयता	= घट
|	|
घट	घट

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि विषयतात्व से नियमित (अवच्छिन्न) अधिकरणता घट में प्रतीत होती है, परन्तु घटत्व से नियमित अधिकरणता नहीं प्रतीत होती। इसलिये 'विषयतावान् घटः। यह प्रतीति होती है, जब कि 'घटवान् घटः' यह प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार नियामक धर्मों की भिन्नता के कारण प्रतीतियों में भेद हो जाता है और उसके फलस्वरूप 'विषयतावान् घटः' यह प्रतीति नहीं होती है। तथापि एक प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। वह यह कि क्या उस धर्म से नियमित होने वाला निरूपितत्व उस धर्म के आश्रय से विलक्षण है या निरूपितत्व से विलक्षण है ? गदाधर कहते हैं कि तदवच्छिन्न निरूपितत्व को तदाश्रय निरूपितत्व से भिन्न रूप में परिभाषित करना कठिन है। इसका तात्पर्य यह है कि विषयतात्व से नियमित निरूपिता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और विषयतात्वाश्रय (विषयता = घट) निरूपिता में कोई अन्तर नहीं है। ६ अतः जिस प्रकार 'विषयतावान् घटः' यह प्रत्यय होता है उसी प्रकार विषयता विषय-स्वरूप अर्थात् यहाँ घट स्वरूप होने से 'घटो घटवान्' यह प्रत्यय भी होना चाहिये। इसलिये विषयता को विषय-स्वरूप मानना सम्भव नहीं है।

गदाधर का विचार यह है कि विषयता को एक-रूप (विषय-रूप या ज्ञान-रूप) मानने में कोई प्रवल आधार न होने से उसको दोनों (याने विषय एवं ज्ञान) रूप मानने पर भी उनमें से उभय पूर्व-सिद्ध होने से एक अलग विषयता और उसे ज्ञान के सम्वन्ध के रूप में कल्पना करने की अपेक्षा उस पूर्व-सिद्ध स्वरूप (विषय एवं ज्ञान) को ज्ञान, इच्छा आदि के सम्वन्ध के रूप में स्वीकार करने पर गौरव दोष के लिये स्थान न होने से विषयता का उक्त युगल रूप में स्वीकार करने में कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती है। ७

नवीन नैयायिकों के मत में विषयता यह एक अलग पदार्थ ही है। वह स्वरूप-सम्वन्ध का एक प्रकार नहीं है। इसका कारण यह है कि विषयता को ज्ञान-स्वरूप मानने पर कई आपत्तियाँ आती हैं। पहली आपत्ति यह है कि यदि विषयता को ज्ञान-रूप मानें तो ज्ञान का आश्रय काल (क्योंकि कोई भी ज्ञान किसी को भी किसी-न-किसी काल में ही होता है।) भी ज्ञान का विषय हो जायगा। क्योंकि काल में होने वाला ज्ञान का सम्बन्ध भी ज्ञान-स्वरूप है। घट-ज्ञान की विषयता तथा काल के साथ घट-ज्ञान का जो कालिक सम्बन्ध है वे दोनों ही ज्ञान-स्वरूप होने से एक हैं। अतः जैसे 'घट विषतावान् घट है' यह प्रत्यय होता है वैसे ही 'घटज्ञानविषयतावान् कालः' यह भी प्रत्यय होना चाहिये। और यदि काल के साथ होने वाले ज्ञान के सम्बन्ध को अलग किस्म का मानने पर उनमें से एक को (याने विषयता को) अतिरिक्त और दूसरे को (याने काल को) ज्ञान-रूप मानने में कोई युक्ति न होने से काल में रहने वाले ज्ञान के सम्बन्ध के समान विषय में रहने वाले ज्ञान के विषयता नामक सम्बन्ध को अलग मानना ही उचित है। ७

दूसरी आपत्ति यह है कि विषयता ज्ञान-स्वरूप होने से 'घट एवं पट' अथवा 'गौ एवं अश्व' इस प्रकार के अनेक आलम्बन रहने वाले ज्ञान में रहने वाली तथा घट और पट इन दोनों विषयों में रहनेवाली विषयता एक ही होने से उस प्रकार के अनेक आलम्बनों वाले ज्ञानों को भ्रम मानना पडेगा। क्योंकि ज्ञान एक होने से उसकी विषयता भी एक है। अतः उक्त ज्ञान में घट-विषयता भी पटत्वावाच्छिन्न है और पट-विषयता भी घटत्वावच्छिन्न है। इसके फलस्वरूप घट में न रहने वाले पटत्व धर्म से नियमित विषयता वाला वह ज्ञान होने से शुक्ति में होनेवाले रजत ज्ञान के समान इसे भी भ्रम मानना पडेगा। और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिणामतः उक्त अनेक आलम्बनों वाले ज्ञान के बाद ' मैं घटत्व धर्म से पट को जानता हूँ ' इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक प्रत्यय होना चाहिये ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि घटत्व धर्म से नियमित पट में रहनेवाली विषयता वाला ज्ञान ही उक्त अनुव्यवसाय का विषय होता है।

यदि उपर्युक्त दोषों के कारण जिस प्रकार विषयता को ज्ञान-स्वरूप नहीं मान सकते उसी प्रकार उसे विषय-स्वरूप भी नहीं मान सकते। क्योंकि विषयता को विषय (घट) – स्वरूप मानने पर प्रमात्मक ज्ञान भी भ्रम हो जायगा। जैसे, रजत के विषय में जो ' इदं रजतं ' यह ज्ञान होता है उस ज्ञान की विषयता रजतत्व प्रकारक प्रमात्मक ज्ञान की है। वही विषयता रजत में शुक्ति का भ्रम होने पर शुक्तित्व प्रकारक भ्रम की विषयता है, और विषयता विषय-स्वरूप होने से दोनों की विषयताएँ रजत-स्वरूप ही हैं। अतः रजत का प्रमात्मक ज्ञान भी भ्रम मानना पड़ेगा।[८]

उसी प्रकार विषयता को विषय-स्वरूप मानने पर " घटवद्भूतलम् " और "घटभूतलसंयोगः" इन दोनों में कोई भेद नहीं किया जा सकेगा।[९] क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में विषय समान है। अतः विषय-रूप होनेवाली उनकी विषताएँ भी समान हैं। ' घटवद् भूतलम् ' इस ज्ञान के विषय घट, भूतल और उनका संयोग ये तीन हैं। उसी प्रकार ' घटभूतलसंयोगः ' इस ज्ञान के विषय भी वे ही तीन पदार्थ हैं – घट, भूतल और संयोग। अतः विषयाएँ भी वे ही तीन हैं जो पूर्व ज्ञान में है। अतः इन ज्ञानों में भेद करने के लिये कोई आधार नहीं है, और विषयता-भेद के बिना ज्ञानों में भेद नहीं किया जा सकता यह पहले ही कहा जा चुका है।

इस विषय में यज्ञपति उपाध्याय[१०] का विचार यह है कि पहले वाले ज्ञान में घट और भूतल के सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होनेवाले संयोग का भी सम्बन्ध अधिक होता है, जबकि दूसरे ज्ञान में, जो कि समूह विषय का ज्ञान है, उसमें संयोग का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। उसमें केवल तीन वस्तुएँ–घट, भूतल और संयोग–ही प्रतीत होती हैं, जब कि पूर्व ज्ञान मे संयोग का सम्बन्ध लेकर चार वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। अतः दोनों ज्ञान में भेद है। परन्तु गदाधर के अनुसार उपाध्याय का यह मत समीचिन नहीं है क्योंकि सम्बन्ध के सम्बन्ध को ले कर भी समूहा-लम्बन-ज्ञान हो सकता है। जैसे, ' घटभूतलसंयोगप्रतियोगित्व अनियोगित्व ' इसमें और ' घटवद्भूतलम् ' इस ज्ञान में कोई भेद नहीं हो सकेगा। अतः गदाधर के विचार से विषयता एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यह न तो विषय-स्वरूप है और न ही ज्ञान-स्वरूप।

विषयता को विषय-रूप मानने पर दूसरी आपत्ति यह है कि द्रव्य के रूप होने वाले घट-ज्ञान तथा घट के रूप में होने वाले घट-ज्ञान में कोई भेद नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होगा, क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में विषयता घट-स्वरूप ही है।[११]

जो लोग विषयता को ज्ञान और विषय-रूप एक साथ मान कर 'घटवद् भूतलम्' और 'घटभूतलसंयोग:' इस समूहालम्बन ज्ञान के एकीकरण की आपत्ति का निराकरण करते हैं उनका यह मत है कि उक्त समूहालम्बनज्ञान 'घटवद् भूतलम्' इस ज्ञान से अभिव्यक्त होने वाली ज्ञान और घट उभयात्मक प्रकारता को अभिव्यक्ति देने वाला न होने से उक्त दोनों ज्ञानों में विषयता की विलक्षणता अति स्पष्ट है। तथापि उन लोगों का यह मत सही नहीं है। क्योंकि ज्ञान और विषय दोनों रूप विषयता के मानने पर 'जातिमान् घट:' इस ज्ञान में भासित होने वाली घटत्व-रूप विषयता में द्वैविध्य नहीं होगा। इस ज्ञान में घटत्व-विषयता दो प्रकार की है - एक घटत्व विषयता है और दूसरी जाति-विषयता है। ये दोनों ही विषयताएँ भिन्न हैं। जाति में रहनेवाली विषयता जातित्व से नियमित है तथा घटत्व में रहने वाली विषयता किसी अन्य धर्म से नियमित नहीं है। परन्तु विषयता विषय-स्वरूप तथा ज्ञान-स्वरूप मानने पर ज्ञान एक और विषय भी एक ही है तो विषयताएँ दो कैसे होंगी। इसके फलस्वरूप 'जातिमान्' और जातिमान् घट:' इन दो ज्ञानों में कोई भेद नहीं होगा। 'जातिमान् घट:' इस ज्ञान में प्रतीत होनेवाली विषयता 'जातिमान्' इस ज्ञान में प्रतीत होनेवाली विषयता से भिन्न न होने से उनके स्वरूप में कोई विलक्षणता नहीं होगी। अत: विषयता को अलग पदार्थ मानना ही उचित है।[१२]

अब प्रश्न यह है कि यदि विषयता स्वरूपसम्बन्ध नहीं है तो वह कम-से-कम सम्बन्ध तो है या नहीं ? इस का विचार और विषयता के भेदों का विचार अग्रिम लेख में किया जायगा।

बलिराम शुक्ल

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११००७

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; बुद्धिर्नाम कश्चिदात्मविशेषगुण......सा च सविषयिका। गादाधर्यां, विषयितावादे

२. घटमहं जानमीत्याकारकाऽऽपामरसाधारणानुभवबलादेव बहीं

३. जानकीनाथ भट्टाचार्य; विषयता च विषयाकारप्रतीतिसाक्षिक: स्वरूसम्बन्धविशेष:। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्यां प्रत्यक्ष प्रकरणे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. गदाधर; न च तादृशसम्बन्धस्य ज्ञानस्वरूपता वा स्वीक्रियते इत्यत्र विनिगमनाविरहादुभयस्यैव सम्बन्धता कल्प्या इति तदपेक्षयालाघवात् सम्बन्धत्वेनातिरिक्त्यैकविषयता कल्पनमेवोचितमिति वाच्यम्। गादाधर्यां, विषयतावादे

५. घटो ज्ञानविषयतावान् इतिवत् घटो घटवानित्यादि प्रतीत्यापत्तेः। वहीं

६. अस्तु वा विनिगमनाविरहादुभयमेव विषयत्वं तथापि तादृशोभयस्य क्लृप्तत्वात्, अतिरिक्तविषयतास्तत्र ज्ञानाधिम्बन्धतायाश्च कल्पना उपेक्षणीया तदुभयस्य ज्ञानादिसम्बन्धत्वकल्पने गौरवानवकाश इति। वहीं

७. नव्यास्तु विषयत्वं पदार्थान्तरमेव। वहीं

८. विषयताया विषयस्वरूपत्वे च घटत्वकारकप्रमानिरूपितायाः घटत्व-प्रकारक भ्रमनिरूपिताश्च घटनिष्ठविषयताया ऐक्यप्रसङ्गेन घटत्वप्रकार प्रमाया अपि भ्रमत्वापत्तिः। वहीं

९. एवं घटवद्भूतलं घटभूतलसंयोगादिति ज्ञानयोरविशेषप्रङ्गश्च विषयाणां तदात्मक विषयवानाञ्च अविलक्षणत्वात्। वहीं

१०. न च प्रथमज्ञाने सम्बन्धविधया भासमानस्य संयोगस्य संबंधोऽपि अधिको भासते। वहीं

११. गदाधर; विषयताया विषयरूपत्वे द्रव्यत्वावावच्छिन्न घटादिविषया-कार ज्ञानाद् घटत्वावच्छिन्न तद्विषयकज्ञानस्य विषयतावैलक्षण्यविरहात् वैलक्षण्यापत्तिः। गादाधर्यां, सिद्धान्तलक्षणे

१२. ज्ञानविषयोभयस्वरूपत्वे च जातिमान् घट इत्यादिज्ञानीय घटत्वा-दिविषयताया द्वैविध्यानुपपत्तिः, ज्ञानविषययोतथात्वात्। वहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिंदी) के मार्च, १९९० के अंक में अभी अभी श्री. वसंत चक्रवर्ती का लेख 'बँधी महावट से' पढ़ गया। लेखक ने बताया है 'संस्कृत में 'वट' का अर्थ वर्षा है।' मेरे पास आपटे का कोश है; उसमें वट का अर्थ वर्षा नहीं है।

भोजपुरी में 'महावट' माघ में होनेवाली वृष्टि है। उसकी व्युत्पति 'माघवृष्टि' से है। ब्रज में यही 'माहौट' है। 'मघवट' तथा 'मघौटी' भी बोलियों में हैं। बिहार में 'महावट' उस खेत को कहा जाता है, जिसकी जोताई माघ में कर के परती छोड़ दिया जाता है। मेरी कृति 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली' (राजकमल प्रकाशन) सें 'मघौटल खेत' माघ में 'खना हुआ खेत' है।

संस्कृत वट = बड़, बरगद का प्रयोग महाभारत में है। वैदिक युग में 'वट' का प्रयोग कहीं है। इसकी जानकारी करनी चाहिए। कामायनी की कथा आदि मानव मनु की कथा है। प्रसाद को प्राचीन वाङ्मय का ज्ञान था। वट अतः बड़ के अर्थ में ऐतिहासिक भूल है। 'वट, वृक्ष का समानार्थी नहीं है। अतः 'महावट' का अर्थ महावृक्ष संभव नहीं है।

संस्कृत वट रस्सी के आशय में भी है। 'बँधी महावट से नौका थी' का अर्थ 'मजबूत बरहे से नौका बँधी थी' संभव है। मेरे पास कामायनी की त्रयोदश आवृत्ति (संवत् २०२४) है–उसमें पाठ है 'बँधी महा–बट से नौका थी'। यहाँ 'वट' की जगह 'बट' है–संभव है जिस विद्वान् भाषाविद् ने 'महा' और 'बट' के मध्य में–(हायफन) चिन्ह लगाया हो उसीने 'वट' को 'बट' कर दिया अथवा यह प्रिंट की भूल हो।

प्रसाद की भाषाशैली तथा संरचना के अनुकूल 'महावट' (माघ की वर्षा) ठेठ प्रयोग नहीं है, पूरा वर्णन तत्सम शब्दों से भरापूरा है। तथा 'महावट में' प्रयोग औचित्य की पूर्ति नहीं करता है। 'कँपी महावट में नौका थी' पाठ में कहीं भूल है–'नौका काँपना' प्रयोग नहीं मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण में 'वृक्षे ना प्रतिबघ्नीष्व' के आधार पर 'वट' का अर्थ वृक्ष किया जाता है। यों 'वट' विशिष्ट वृक्ष है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्य प्राचीन ग्रंथों में मनु की नौका मत्स्य-सींग में बाँधी जा कर उसी के सहारे हिमालय पर पहुँचती है।

अस्तु। 'बंधी महावट से नौका थी' का संमत अर्थ है (i) नौका महावट वृक्ष से बँधी थी अथवा (ii) नौका विशाल बरहे (रस्सी) से बँधी थी।

– हरिप्रसाद गुप्त

भाषा-साहित्य संस्थान,
१५५, त्रिवेणी रोड
(उत्तम सिनेमा के पास)
इलाहाबाद – २११००३
(उ. प्रदेश)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

राममूर्ति त्रिपाठी	: आगम	१३५
जगदीश शर्मा	: साहित्य-रचना और परंपरा	१४०
सुरेन्द्र वर्मा	: यूनानी नीतिशास्त्र (१) सुकरात-पूर्व पाश्चात्य नीति-दर्शन की विवेचना : पाइथागोरस, हेराक्लाइटस् और और डेमोक्रिटस	१४८
निर्मला जैन	: ए. जे. एयर के 'ज्ञान' के प्रत्यय की विश्लेषणात्मक व्याख्या	१६५
राम सनेहीलाल शर्मा	: इतिहास और मिथक	१७१
शशिप्रभा 'कुमार'	: तम का द्रव्यत्व : एक विश्लेषण	१७९
अजयकुमार राय	: सर्वोदय और लोकतन्त्र : एक समीक्षा	१८६
बलिराम शुक्ल	: नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१५) विषयता	१९३
	: प्रतिक्रिया	२०१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिंदी)

खण्ड १० अंक ३

जून, १९८९ / वैशाख–ज्येष्ठ, २०४५

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे   राजेन्द्र प्रसाद   आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

❋ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका
❋ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)
संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ❋ राजेन्द्र प्रसाद ❋ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :
धर्मेंद्र गोयल ❋ रमाकान्त सिनारी ❋ विजयकुमार भारद्वाज ❋ शारदा जैन संगमलाल पांडे ❋ आर्. बालसुब्रमणियन् ❋ अशोक रा. केळकर ❋ के. जे शहा ❋ नारायणशास्त्री द्राविड ❋ के. सच्चिदानंद मूर्ति ❋ जी. सी. नायक ❋ ग. ना. जोशी ❋ मोहनलाल मेहता ❋ जे फाईस ❋ सुमन गुप्ता ❋ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ❋ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ❋ सु. ए. पेलके ❋ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें, कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)
सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. ३०–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. २०–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. १५–००
	एक प्रति	रु. ०६–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २५०–००

❋ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रक़म में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अद्वैत वेदान्त-दर्शन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ

अद्वैत वेदान्त दर्शन के अद्वैत तत्त्व की चरम परिणति 'तत् त्वम् असि' (तत्त्वमसि) तथा 'अहं ब्रह्म अस्मि' (अहं ब्रह्मास्मि) आदि वाक्यों में होती है। अतएव इस प्रकार के वाक्यों को अद्वैत वेदान्त में महावाक्यों की संज्ञा से अभिहित किया गया है। वेदान्त, वेद के अन्तिम विशुद्ध दार्शनिक भाग उपनिषद् को प्रमाण मानकर चलने वाला शास्त्र है.[1] अत: उपनिषदों में प्रतिपादित महावाक्यों की ही वेदान्त दर्शन में व्याख्या की गई है। इन महावाक्यों का महत्त्व यह है कि ये अद्वैत वेदान्त दर्शन में प्रतिपादित जीव और ब्रह्म में तादात्म्यता (एकता) को स्थापित कर 'अद्वैतवाद' की सिद्धि करते हैं। अद्वैत वेदान्त के संक्षेपशारीरक नामक ग्रंथ में इन महावाक्यों की सहायता से ही 'अद्वैत' का ज्ञान होने की बात कही गई है।[2] विद्यारण्यस्वामी ने पञ्चदशी के 'महावाक्यविवेक' नामक पञ्चम प्रकरण में ऋग् यजु: साम, अथर्व आदि चारों वेदों से सम्बन्धित क्रमश: ऐतरेय, बृहदारण्यक छान्दोग्य तथा माण्डूक्य आदि चार उपनिषदों के आधार पर ऐसे चार महावाक्यों को उद्धृत किया है। ये महावाक्य हैं ...

'प्रज्ञानं ब्रह्म',[3] 'अहं ब्रह्मास्मि,'[4] 'तत्त्वमसि'[5] तथा अयमात्मा ब्रह्म।[6] इनमें 'तत् त्वम् असि' महावाक्य उपदेश वाक्य के रूप में तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य अनुभव-वाक्य के रूप में परिगणित होता है।

इन चार महावाक्यों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने आठ अन्य महावाक्य भी स्वीकार किये हैं, परन्तु इनमें सात महावाक्य ही उपलब्ध होते हैं।[7] इस प्रकार कुल मिलाकर इन महावाक्यों की संख्या ग्यारह है, परन्तु अधिकतर विद्वान् पूर्वोक्त चार महावाक्यों की ही महावाक्यार्थता स्वीकार करते हैं।[8]

परामर्श (हिन्दी), वर्ष १०, अंक ३, जून, १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अद्वैत वेदान्त दर्शन के प्रकरण ग्रंथ वेदान्तसार में उक्त महावाक्यों में से 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्यों का ही विवेचन किया गया है।[९] इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उक्त महावाक्यों में इन दो महावाक्यों का महत्त्व सर्वाधिक है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में गुरु के द्वारा मुमुक्षु अधिकारी को मानो उपदेश सा दिया जा रहा है कि तत्–वह त्वम्–तू असि–है अर्थात् वह परब्रह्म तू ही है अतः अज्ञानावरण को हटाकर अपने स्वरूप को पहचान। द्वितीय महावाक्य अहं ब्रह्मास्मि (अर्थात् मैं ही वह परब्रह्म हूँ) में साधक, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा अज्ञानावरण को हटाकर मानो ब्रह्ममय होने की अनुभूति करता है। अतः इन दोनों महावाक्यों का अद्वैतसिद्धि में महत्त्व असन्दिग्ध है। यहाँ पर केवल 'तत्त्वमसि' महावाक्य की महावाक्यार्थता का विवेचन किया जा रहा है।

सदानन्द विरचित वेदान्तसार के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि छान्दोग्य-उपनिषद् में 'तत्त्वमसि' वाक्य का नौ बार प्रतिपादन किया गया है। 'अभ्यास' का स्वरूप बताते हुए सदानन्द योगी ने कहा है कि शास्त्र में जिस वस्तु का प्रतिपादन करना है, उसका बीच में बार-बार प्रतिपादन करना अभ्यास है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में 'तत्त्वमसि' वाक्य का नौ बार प्रतिपादन हुआ है।[१०]

तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ–

'तत्त्वमसि' वाक्य से जिस निर्गुण ब्रह्म रूप अखण्ड अर्थ का बोध होता है, वह निम्नलिखित तीन संबंधों पर आधृत है––

१. सामानाधिकरण्य संबंध
२. विशेषण–विशेष्यभाव संबंध तथा
३. लक्ष्य–लक्षणभाव संबंध।[११]

इनमें 'तत्' और 'त्वम्' पदों का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध माना जाता है, 'तत्' और 'त्वम्' पदों का जो अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ है उसमें विशेषण–विशेष्य भाव सम्बन्ध माना जाता है, तथा प्रत्यगात्मा और 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ में 'लक्ष्य–लक्षण–भाव' सम्बन्ध माना है। सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रंथ नैष्कर्म्यसिद्धि में इन तीनों संबंधों की चर्चा इस रूप में की है...

'सामाधिकरण्य, विशेषण–विशेष्यता तथा पदार्थ और प्रत्यगात्मा का लक्ष्य लक्षण भाव संबंध... इन तीन प्रकार के संबंधों से 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य अखण्ड चैतन्य का बोध कराता है।[१२]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इन तीनों संबंधों के द्वारा ' तत्त्वमसि ' महावाक्य के अर्थ का विवेचन करने से पूर्व यहाँ पर प्रसंगवश वैयाकरणों तथा काव्यशास्त्रियों द्वारा शब्द से अर्थ का बोध कराने वाली शक्तियों का संक्षेप में विवेचन अप्रासंगिक न होगा। वैयाकरणों तथा काव्यशास्त्रियों के अनुसार शब्द में निहित अर्थ को प्रकट करने वाली वृत्ति या व्यापार को शब्द–शक्ति कहा गया गया है।[१३] शब्द को इन्होंने तीन प्रकार माना है... वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक।[१४] इन तीन प्रकार के शब्दों से तीन प्रकार के वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य आदि अर्थों के बोध कराने वाली तीन शक्तियाँ मानी गई हैं... अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना।[१५] इनमें व्यंजना-शक्ति साहित्यशास्त्र में अधिक प्रख्यात हुई है। व्याकरण तथा दर्शन में अभिधा और लक्षणा का ही प्रयोग दृग्गोचर होता है। तथापि कुछ दार्शनिकों ने तात्पर्य और गौणी नामक वृत्ति भी स्वीकार की है।[१६] इनमें शब्द से साक्षात् संकेतित (गुण, जाति, द्रव्य तथा क्रियावाचक) अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा कहलाती है। इसके द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है, वह वाच्यार्थ, मुख्यार्थ या अभिधेयार्थ कहलाता है।[१७]

लक्षणा शक्ति वह शब्द–शक्ति है जो मुख्यार्थ के बोध होने पर मुख्यार्थ से सबंधित किन्तु मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण प्रतीत कराती है।[१८] इस शब्द–शक्ति को अर्पित, अमुख्य या कल्पित वृत्ति माना गया है। इससे जिस अर्थ का बोध होता है वह लक्ष्यार्थ कहलाता है। भक्ति या भाग नाम से भी इसको संबोधित किया गया है। इसके अनेक भेद–प्रभेदों का विवेचन दार्शनिक तथा साहित्य शास्त्रीय ग्रंथों में हुआ है। उनका विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं।

उक्त शक्तियाँ या वृत्तियाँ 'शब्दार्थ–संबंध' को स्पष्ठ करती हैं। 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थज्ञान के लिए जिन संबंधों का पहले उल्लेख किया गया है उनमें भी प्रकारान्तर से ये ही शक्तियाँ दार्शनिक भाषा में प्रयुक्त हुई हैं। अब उन संबधों का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है...

१. सामानाधिकरण्य सम्बन्ध–

दो समान विभक्त्यन्त पदों के एक अर्थ में तात्पर्य को सामानाधिकरण्य कहा जाता है। (समानाधिकरण्यम् समानविभक्त्योरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यम्)। विद्वन्मनोरञ्जनी में भी कहा गया है-- " जब दो भिन्न प्रवृत्ति निमित्त वाले शब्दों का तात्पर्य एक ही अर्थ में हो, तो उसे सामानाधिकरण्य कहते हैं। "[१९] इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार से समझा जा सकता है-- ' सोऽयं देवदत्तः ' (यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देवदत्त है) इस वाक्य में 'सः' शब्द का अर्थ है-- 'भूतकाल विशिष्ट देवदत्त', और 'अयम्' शब्द का अर्थ है--- 'वर्तमानकालविशिष्टदेवदत्त', इन दोनों 'सः' और 'अयम्' का तात्पर्य एक ही देवदत्त में है। ठीक इसी प्रकार 'तत् त्वम् असि' वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ है-- 'परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य' और 'त्वम्' पद का अर्थ है-- 'अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य', इन दोनों-- तत् और त्वम्— पदों का तात्पर्य एक ही अखण्ड चैतन्य में है। जैसाकि वेदान्तसार में कहा गया है-- "सामानाधिकरण्य संबंधस्तावद्यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचक स शब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसंबंधः। तथा च 'तत्त्वमसि' इति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्यचैकस्मिश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।[२०]

२. विशेषणविशेष्यभावसंबंध -

यह संबंध वहाँ होता है जहाँ विशेषण और विशेष्य दोनों पद प्रवृत्ति निमित्त के अलग-अलग होने पर भी एक वस्तु को निर्दिष्ट किया करते हैं। 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में यह संबंध द्रष्टव्य है-- इस वाक्य में 'सः' शब्द का अर्थ है 'तत्कालविशिष्ट— देवदत्त' और 'अयम्' शब्द का अर्थ है-- 'एतत्कालविशिष्ट-देवदत्त', ये दोनों 'सः' और 'अयम्' शब्द एक दूसरे के व्यावर्तक हैं तथा परस्पर विशेषण और विशेष्य भी बन जाते हैं। अतः इनका संबंध विशेषण-विशेष्य भाव संबंध है। इसी प्रकार 'तत् त्वम् असि' वाक्य में तत् पद का अर्थ है -- 'परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य' और 'त्वम्' पद का अर्थ है-- अपरोक्षत्वा-दिविशिष्ट चैतन्य।' यहाँ दोनों तत् और त्वम् पदों के अर्थ एक दूसरे भेद के व्यावर्तक हैं। अतः एव दोनों में विशेषणविशेष्य-भाव संबंध बन जाता है। सदानंद योगी ने वेदान्तसार में यही कहा है।[२१]

परन्तु यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के समान वाच्यार्थ की संगति नहीं बैठती। 'नीलोत्पल' में तो वाच्यार्थ की संगति इसलिये हो जाती है क्योंकि 'नील' पद का अर्थ है-- नील—गुण, वह शुक्ल आदि अन्य गुणों का व्यावर्तक है तथा 'उत्पल' पद का अर्थ है उत्पल—द्रव्य, वह घट-पट आदि अन्य द्रव्यों का व्यावर्तक है। अतः इस वाक्य के अभिधेयार्थ में परस्पर विशेषण—विशेष्य-भाव रूप संसर्ग को, अथवा एक से विशिष्ट दूसरे पदार्थ को अथवा उन की एकता को, वाक्यार्थ रूप से अंगीकार करने में किसी दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं। किन्तु 'तत् त्वम् असि' वाक्य में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'तत्' का अर्थ 'परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' और 'त्वम्' का अर्थ 'अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' पारस्परिक भेद का व्यावर्तक है, इसलिए यहाँ विशेषण–विशेष्य भाव–सम्बन्ध को अथवा एक से विशिष्ट दूसरे पदार्थ को अथवा दोनों की एकता को वाक्यार्थ रूप से स्वीकार करने में प्रत्यक्ष आदि से विरोध होने के कारण वाच्यार्थ संगत नहीं बैठ सकता। विद्यारण्यस्वामी ने भी यही कहा है–– "(तत्त्वमसि वाक्य में) संसर्ग (अर्थात् भेदरूप) अथवा विशेषणविशेष्य-भाव (अभेद रूप) से वाक्यार्थ सम्मत नहीं है। विद्वद्वर्ग के अनुसार 'अखण्डैकरस' (यह महावाक्य तत्त्वमसि ब्रह्म का बोधक) अभिन्न ही वाक्यार्थ है। २२

३ लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्ध :

'तत्त्वमसि' महावाक्यार्थ के लिए यह सम्बन्ध भी 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य द्वारा समझा जा सकता है। इस वाक्य में 'सः' शब्द और 'अयम्' शब्द या इनके वाच्यार्थ का जो क्रमशः तत्काल–विशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्व विरुद्ध अंश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्त के साथ लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों का या इनके वाच्यार्थ का परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व, इन विरुद्ध अंशों का परित्याग करके अविरुद्ध चैतन्य अंश के साथ लक्ष्य–लक्षण–भाव सबंध है। इस लक्षणा को भाग लक्षणा कहा जाता है। वाक्यवृत्ति में यही कहा है–

> तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।
> सोऽयमित्यादि वाक्यस्थपदयोरिवनापरा ॥

अर्थात् 'तत् त्वम् असि' आदि वाक्य में जो लक्षणा प्रवृत्त होती है वह भाग लक्षणा है। 'सोऽयम्' इत्यादि वाक्यस्थ पदों के समान इसमें अन्य लक्षणा नहीं है।

'तत्त्वमसि' वाक्य में 'गङ्गायां घोषः' वाक्य के समान 'जहल्लक्षणा' २३ नहीं मानी जा सकती क्योंकि यहां अविरुद्ध अंश चैतन्य का त्याग नहीं किया जाता, अतः जहल्लक्षणा का अवसर नहीं आता। यह विशुद्ध रूप से 'अजहल्लक्षणा' २४ का भी विषय नहीं है, जैसे–'शोणो धावति' वाक्य में अजहल्लक्षणा होती है, ऐसे 'तत्त्वमसि' वाक्य में अजहल्लक्षणा' नहीं मानी जा सकती। कारण, उसमें सर्वथा वाक्यार्थ का त्याग नहीं किया जाता। अतः कुछ अंश में त्याग और कुछ अंश में उपादान की प्रवृत्ति रहने से यह लक्षणा 'जहदजहल्लक्षणा' २५ या भागलक्षणा' ही कहलाती है। जैसाकि वेदान्तसार में कहा गया है––'जैसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्य या इसका अर्थ तात्पर्यार्थ तत्काल एवं एतत्काल विशिष्ट देवदत्त वाक्यार्थांश में तत्कालिक तथा एतत्कालिक भाग में विशिष्ट देवदत्तांश में विरोध न होकर कालिक विरोध होने के कारण विरुद्धांश को त्याग कर अभिन्न देवदत्तपिण्डमात्र को जहदजहल्लक्षणा बोधित करती है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य अथवा उसका वाक्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट (ब्रह्म) और अपरोक्षत्वादिविशिष्ट (जीव) लक्षण वाक्यार्थांश के परोक्ष एवं अपरोक्षत्वांश में विशिष्ट चैतन्यांश में विरोध न होकर, परस्पर विरोध को छोड़कर अखण्ड चैतन्य मात्र को जहदजहल्लक्षणा लक्षित करती है।"

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह में इसी प्रकार की बात कही है। २६

इस प्रकार उक्त तीनों सम्बन्धों में लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध के द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य का जो जीव का अखण्ड ब्रह्ममय होना अर्थ निकलता है वह उस राजकुमार के समान है, जिसका पालन-पोषण बचपन से ही एक आखेटक के घर हुआ है, पर बाद में वह जान लेता है कि वह एक राजकुमार है। २७ क्योंकि 'तत् त्वम् असि' का अर्थ वह (परम ब्रह्म) तू है, तत् त्वं भव (वह तू हो जा) नहीं।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त में जीव माया, अविद्या या अज्ञान के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को कुछ समय के लिए विस्मृत सा कर जाता है। परन्तु जैसे ही वह भौतिक दुःखों की दावाग्नि से दग्ध होकर शान्ति के लिए वेदान्त की शरण में जाता है तथा वहाँ पर वेदान्त-विद्या में निष्णात गुरुओं के उपदेशों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता है तो वह अपने में ही 'ब्रह्म' की अनुभूति करता है और इस जीव तथा ब्रह्म विषयक तादात्म्यता (एकता) का ही पहला सोपान 'तत्त्वमसि' महावाक्य है। जैसाकि एस्. एस्. दासगुप्त ने कहा है– २८ "अधिकारी गुरु द्वारा उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' जैसे उपनिषद् वाक्यों की सम्यक् अनुभूति अपने में ही (स्वतः) जगत् अवभास के सब मिथ्या भ्रमों के निवारण के लिए पर्याप्त है।"

– ललित किशोरलाल श्रीवास्तव

दर्शन विभाग
श्री मु. म. टाउन
स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बलिया– २७७००१
(उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१ वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च ॥

–सदानन्द योगी कृत वेदान्तसार, पृ. २.

२. बिना महावाक्यमतो न कश्चित्पुमांसमद्वैतमवैति जन्तुः ।

संक्षेपशारीरक, १।३०३.

३. ऐतरेय. ५।३

४. बृहदारण्यक. १।४।१०

५. छान्दोग्य. ६।८।७

६. माण्डूक्य. २

७. (क) सर्वं खल्विदं ब्रह्म, छान्दोग्य. ३।१४।१ ।
(ख) एकमेवाद्वितीयम्, वही. ६।२।१
(ग) एष त अन्तर्याम्यमृतः, बृहदारण्यक. ३।७।२३
(घ) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, वही, ३।९।२८
(ङ) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तैत्तिरीय. २।१
(च) स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः, वही, २।८।१
(छ) स एषमेव पुरुषो ब्रह्म ।

8. "The mahavakyas are usually reckoned four–one taken from each Veda", द्र. *Outlines of Indian Philosophy*,

–Prof. M. Hiriyanna.

९. द्र. वेदान्तसार पृ. ४२ से ५३ तक ।

१०. "प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः । यथा तत्रैव (छान्दोग्ये) अद्वितीयवस्तुनो मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम् ।"

—वेदान्तसार, पृ. ५७

११. "इदं तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति । सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणभावः प्रत्यगात्मलक्षण-योर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति ।"— वही, पृ. ४२.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१२. सामानाधिकारण्यं च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसंबंधः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ।। – नैष्कर्म्यसिद्धि ३।३

१३ (क) द्र. भारतीय साहित्य शास्त्र कोश, पृ. १२८३, डॉ. राजवंश सहाय हीरा, पटना।

(ख) द्र. हिन्दी साहित्य कोश, पृ. ८२३, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

१४. स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।।
काव्यप्रकाश (मम्मट) २।१

१५. वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः ।।
साहित्यदर्पण, २१३ (विश्वनाथ)

१६. (क) तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्। काव्यप्रकाश, २१६, द्र. साहित्यदर्पण, २।२०

(ख) शब्दार्थस्यैव मुख्यत्वं मुखवत्पृथमोद्गतेः।
अर्थगम्यस्य गौणत्वं गुणागमनहेतुकम् ।। द्र. तन्त्रवार्तिक,
(कुमारील भट्ट) पृ. ७६३–६४

१७. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। – काव्यप्रकाश, २१६

१८. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यथान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ।। –साहित्यदर्पण, २१५

१९. भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यं सम्बन्धः सामानाधिकरण्यमिति। द्र. विद्वन्मनोरञ्जनी।

२०. द्र. वेदान्तसार, पृ. ४३

२१. विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये स शब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायं शब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्य भावः। तथाऽत्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्य भावः।
– वही. पृ. ४४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२२. संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥ –– पंचदशी, ७।७५

२३. 'जहल्लक्षणा' लक्षणा का एक भेद है। 'जहत् परित्यजन् स्वार्थो यां सा जहत्स्वार्था इस व्युत्पत्ति के अनुसार शक्यार्थ के परित्याग से अशक्य-अर्थ की प्रतीति कराने वाली जहत्स्वार्था या जहल्लक्षणा होती है। आचार्य मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति काव्यशास्त्रियों ने इसी को लक्षण-लक्षणा कहा है। भाट्टचिन्तामणि में इसका यह लक्षण दिया गया है–स्वशक्यार्थी-विशेष्यकान्वयबोधप्रयोजिका, जहत्स्वार्था च। पृ. ५७। अपि च–-वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्यतत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा।

–विद्वन्मनोरञ्जनी

२४. 'अजहल्लक्षणा'–लक्षणा का दूसरा भेद है। आचार्यों ने इसी को उपादान–लक्षणा तथा अजहत्स्वार्था आदि नामों से भी अभिहित किया है। 'अजहत् अपरित्यजन् स्वार्थः शक्यार्थः यां सा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ शब्द शक्यार्थ का परित्याग न करता हुआ अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है वहाँ अजहल्लक्षणा होती है। विजयवर्णी ने इसका लक्षण यह किया है––

अपरित्यज्य मुख्यार्थं शब्दोऽन्यत्र प्रवर्तते ।
तत्ससम्बन्धयुते यत्र साजहल्लक्षणेतरा । श्रृङ्गारार्णवचन्द्रिका पृ. ८

अपि च— वाच्यार्थापरित्यागेन तत्ससम्बन्धिनि वृत्तिरजहल्लक्षणा।

विद्वन्मनोरञ्जनी

२५. जहदजहल्लक्षणा–- यह लक्षणा का तृतीय भेद है। इसको 'जहतजहत्स्वार्था' भी कहा गहा है। सदानन्द योगी ने इसको ही भाग लक्षणा कहा है। प्रसिद्ध नैयायिक अन्नंभट्ट के अनुसार जहां वाक्य के एक देश के त्याग से एक देश का अन्वय हो, वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है––

यत्र वाक्यैकदेशत्यागेन एकदेशान्वयस्तत्र जहदजहदिति ।
यथा– 'तत्त्वमसि'।–– तर्कसंग्रहदीपिका, पृ. १८८

अपि च–– वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्ति र्जहदजहल्लक्षणा।'

विद्वन्मनोरञ्जनी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२६. (क) तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्काल-विशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद् विरुद्धतत्कालैतत्काल विशिष्टत्वांश परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति, तथा 'तत्त्वमसि' इति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधात् विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परि-त्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति । वेदान्तसार, पृ. ५२

(ख) द्र.– वाक्यवृत्ति, पृ. ३६–३७ (आचार्य विश्वेश्वर), सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार-संग्रह, पृ. ११६.

२७. द्र – बृहदारण्यक उपनिषद्, २.१.२० पर शांकरभाष्य ।

२८. द्र.– भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग २, पृ. ४४ (एस्. एन्. दासगुप्त) (हिन्दी अनुवादक– एम्. पी. व्यास)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एम्. एन्. राय का भौतिकवाद

समकालीन भारतीय चिन्तकों में मानवेन्द्र नाथ राय का विचार भिन्न प्रवृत्ति का परिचायक है। इनके अनुसार भारतीय चिन्तन की विषमता का कारण विगत अप्रतिष्ठित अध्यात्मवाद का गुणगान तथा अतीत की महिमा पर अवलंबित होना है। यही कारण है कि इन्होंने प्राचीन भारतीय चिन्तन में निहित प्रकृतिवादी एवं भौतिकवादी सूत्रों का चयन कर यह दिखलाने का प्रयास किया है कि भारतीय जीवन की सफलता इन्हीं भौतिकवादी सूत्रों की तार्किक परिणति में निहित है।

एम्. एन्. राय के भौतिकवादी विचार परम्परागत अध्यात्मवादी विचार की समीक्षा तथा पाश्चात्य जगत् में व्याप्त वैज्ञानिक विचार के गहन अध्ययन का फल है। ये भारतीय सामाजिक जीवन का ह्रास, राजनैतिक दासता, आर्थिक पिछड़ापन, बौद्धिक जड़ता एवं सांस्कृतिक पतन का कारण भारतीय अध्यात्मवाद को मानते हैं।[१] यहाँ राय यह मानते हैं कि भारतीय जीवन की ग्रंथियों के सड़न के लिए अध्यात्मवाद ही उत्तरदायी है।[२] इनके अनुसार आज इस बात की आवश्यकता है कि इन सड़ी हुई ग्रंथियों को निकालकर भारतीय जीवन में नये प्राण फूंके जाय।[३] इससे यह स्पष्ट है कि राय भौतिकवाद के प्रबल पक्षधर है।

एक सफल भौतिकवादी एवं निष्ठावान् मार्क्सवादी चिन्तक की तरह राय यह मानते हैं कि दर्शन का कार्य विशुद्ध चिन्तन या निष्क्रिय मनन नहीं है, बल्कि जगत् एवं जगत् की वस्तुओं के उद्भव एवं विकास का समीक्षात्मक विवेचन ही दर्शन का प्रमुख कार्य है।[४] ऐसे सच्चे ज्ञान की प्राप्ति भौक्तिवादी दर्शन के माध्यम से ही सम्भव है जिसके सहारे मनुष्य जगत् के स्वरूप को परिवर्तित कर मानव जीवन को सुखी तथा जीने योग्य बना सकता है। राय के अनुसार भौतिकवाद मात्र एक क्रान्तिकारी विचारधारा ही नहीं, अपितु प्राच्य एवं पाश्चात्य जगत् में व्याप्त सबसे पुरातन विचार-पद्धति है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष १०, अंक ३, जून, १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राय के अनुसार आध्यात्मिक दर्शन मानव जीवन की सच्ची व्याख्या नहीं करता। ऐसे विचार को सत्यान्वेषण न मान कर स्वप्निल विचार की संज्ञा दी जा सकती है। यह ज्ञान का सही मार्ग न होकर विपर्यय का मार्ग है। यह हमें 'हेत्वाश्रित निरपेक्ष सत्ता' तथा अनुभूत जगत् के आधार स्वरूप अननुभूत सत्ता की ओर ले जाता है तथा इसके सहारे मानव-जीवन को पूर्णतः मृग-मरीचिका की ओर अग्रसर करता है।[५] अपने इस विचार के समर्थन में ये प्रमुख भौतिकवादी विचारक फायरबाख को उद्धृत करते हैं, 'यह एक ऐसे भूखे पशु के तरह की व्यर्थ की भाग-दौड़ है, जिसे लगता है कि कोई दुष्टात्मा दौड़ा रहा हो, जब कि इसके चारों ओर हरे-भरे घास का मैदान है।'[६] यही कारण है कि राय मानव जीवन की समृद्धि के लिए भौतिकवादी विचार को प्रतिस्थापना करते हैं।

एन्. एन्. राय के अनुसार भौतिकवाद का विकास पूर्णतः स्वाभाविक एवं सामान्य रूप में देखा जा सकता है। इसमें आस्था के कारण मनुष्य में आत्म-विश्वास का जन्म होता है, जिससे वह अस्तित्व की रक्षा के लिए किए जाने वाले संघर्ष में पूर्ण शक्ति का अनुभव करता है। इससे मनुष्य स्वतन्त्रता की चेतना एवं जीवन संग्राम में अजेय शक्ति की स्थिति का अनुभव करता है। इस अर्थ में श्री. राय यह मानते हैं कि मनुष्य की जन्मजात आध्यात्मिकता की विकृति का नाम भौतिकवाद नहीं है, बल्कि यह मनुष्य की शक्ति के विकास का स्वाभाविक फल है, जहाँ वह प्रारंभिक अज्ञान से सिद्धांतों की कृत्रिम बाधाओं से या तत्त्वमीमांसा के अंधविश्वास से मुक्त होता है।[७]

श्री. राय के अनुसार भारतीय चिन्तन में भी भौतिकवाद का विकास स्वाभाविक रूप में देखने को मिलता है। वेदों में व्याप्त प्राकृतिक धर्म की व्याख्या एवं अनुपालन से असंतुष्ट होकर बाद के मनुष्य वस्तुओं की स्वाभाविक उत्पत्ति की खोज करते हुए दिखते हैं। भारतीय दर्शन का क्रमिक विकास इन तथ्य का साक्षी है। विभिन्न उपनिषदों से अनेकानेक उद्धरण उपस्थित कर राय ने यह दिखलाया है कि वेदों एवं उपनिषदों में भौतिकवाद एवं अनीश्वरवाद का अंकुर वर्तमान है। मुण्डक उपनिषद् का उदाहरण उपस्थित करते हुए ये बतलाते हैं कि यज्ञों एव यज्ञ-विधानों में वैदिक अध्यात्मवादी धर्मों के प्रति यहीं विरोध का भाव देखा जा सकता है— 'प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपाः अष्टादशोक्तम् अवरयेषु कर्म। एतत्श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मुढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति ।। मुण्डकोपनिषद्, २-७ इसी प्रकार ऋग्वेद में कहीं-कहीं इन्द्र के अस्तित्व को भी अस्वीकारा गया है। (ऋग्वेद १४, १० १९ और ११.१२.५, १० ३) विश्व की वस्तुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के मत श्वेताश्वेतर उपनिषद् में देखने को मिलते हैं— कालस्वभावो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नियतयंदर्चाभूतानि योनिः पुरुषा इति चिन्त्यम्" (श्वेताश्वेतर उपनिषद, १-२) इस प्रकार राय यह बतलाते हैं कि उपनिषदों में न केवल अज्ञेयवादी, प्रकृतिवादी तथा बुद्धिवादी विचारों के सूत्र मिलते हैं बल्कि यहाँ अनीश्वरवाद एवं भौतिकवाद की भी मान्यता देखी जाती है।

श्री राय के अनुसार वैशेषिक दर्शन का अणुवाद, सांख्य दर्शन की प्रकृति एवं विकासवाद, बौद्धों का क्षणिकवाद तथा चार्वाक दर्शन का भौतिकवाद जगत् की वस्तुओं की स्वाभाविक एवं भौतिकवादी व्याख्या के स्पष्ट उदाहरण हैं।

श्री. राय के अनुसार वैशेषिक दर्शन भी भौतिकवाद का समर्थन करता है। कणाद द्वारा समर्थित अणुवाद यह बतलाता है कि जगत् की प्रत्येक चीज अंशों में बनी होती है जिनका नाम अणु है। ये अवयवहीन एवं अविभाज्य होते हैं। न्यायसूत्र में गौतम ने इसे "परमवान्नुतेह" कहा है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र में कणाद ने इसे नित्य माना है, "नित्यम् परिमण्डलम्"।[९] इससे यह स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन बहुत हद तक भौतिकवादी ही है। श्री. राय के अनुसार सांख्य दर्शन भी भौतिकवाद का उदाहरण है। कपिल के सांख्यदर्शन का विवेचन करते हुए राय लिखते हैं कि इन्होंने पूर्ण भौतिकवादी आधार से अपने को अलग रखने का प्रयास किया है तथा बुद्धिवादी एवं प्रकृतिवादी तत्त्वमीमांसा को अपनाने का प्रयास किया है तो भी भौतिकवाद के सिद्धांतों का दार्शनिक विवेचन कपिल ने किया है।[१०] श्री. राय के अनुसार चार्वाक दर्शन तो भौतिकवादी दर्शन है ही जहाँ प्रकृतिवादी, बुद्धिवादी, संशयवादी, अज्ञेयवादी, तथा भौतिकवादी विचारों की चरम परिणति देखने को मिलती है।[११] चार्वाक दर्शन में जड़ तत्त्व को परम सत्ता माना गया है तथा इसके माध्यम से ही जगत् की व्याख्या की गई है। बौद्ध एवं जैन दर्शनों में ब्राह्मणों द्वारा चलाई गई पुरोहित प्रथा के प्रति विद्रोह देखने को मिलते हैं। मनुष्य एवं मानवीय शक्ति को प्रधानता देने के कारण बहुत हद तक ऐसे विचार को भौतिकवादी एवं बुद्धिवादी विचार की संज्ञा दी जा सकती है।

एम्. एन्. राय ने विश्व की भौतिकवादी व्याख्या की है। सामान्यतया ईश्वर को इस विश्व का सृष्टिकर्त्ता एवं नियन्ता माना जाता है। श्री. राय इस विचार को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार इस विश्व के नियन्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि यह विश्व आत्मनियंत्रित एवं आत्मपूर्ण है। फलतः नियन्ता के रूप में किसी बाह्य शक्ति की अपेक्षा इसे नहीं है। इस जगत् में निवास करनेवाले मनुष्य मूलतः विवेकशील हैं। अतः इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जगत् की व्याख्या भौतिवादी दर्शन के माध्यम से ही सम्भव है। इसी व्याख्या के लिए ईश्वर अथवा किसी भी अलौकिक शक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है। अपने इस विचार को वे भौतिकवाद की संज्ञा देते हैं तथा इसे ही वे वैज्ञानिक मानवतावाद भी कहते हैं, क्योंकि इनके अनुसार यह मानवतावाद विभिन्न विज्ञानों के निष्कर्षों पर आधारित है। श्री. राय ने बहुत जोरदार शब्दों में यह स्वीकार किया है कि भौतिकवाद के अतिरिक्त किसी अन्य दर्शन की सम्भावना है ही नहीं। अतः इन्होंने स्पष्ट शब्दों में माना है कि मानव समाज के उदय के साथ जितनी भी दार्शनिक पद्धतियों की रचना हुई है तथा जिन्हें विचार के इतिहास में स्थान मिला है, वे अनिवार्यतः भौतिकतावादी हैं।[१२]

अज्ञान के कारण कुछ लोग भौतिकवाद को ''खाओ-पीओ, मौज करो'' जैसे विचारों के संकीर्ण घेरे में बांधते हैं तथा अन्य कई तर्कहीन बातों को इसके साथ सम्बद्ध कर देते हैं। राय के अनुसार भौतिकवाद की इतनी गलत व्याख्या की गई है, इसके स्वरूप तथा स्वभाव को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि जिस क्षण कोई व्यक्ति अपने को भौतिकवादी कहता है उसको लोग बिना नैतिकता, बिना सिद्धांत के गला काटनेवाले व्यक्ति के साथ तादात्म्य स्थापित कर देते हैं।[१३] ये विचार शुद्ध भ्रान्तियों पर आधारित हैं। इनके अनुसार भौतिकवाद पूर्ण नैतिक तथा सम्यक् सिद्धांत पर आधारित विचार है। यह बिना किसी अलौकिक में विश्वास किये विश्व की एकवादी व्याख्या है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु का आधार जड़ तत्व है।

श्री. राय के अनुसार भौतिकवाद ही वस्तुतः नैतिकता की प्रेरणा प्रदान करता है। एक प्रबल मार्क्सवादी की तरह यह मानते हैं कि मनुष्य अपने समस्त नैतिक एवं बौद्धिक जीवन की प्रेरणा सामाजिक वातावरण से ग्रहण करता है। इनके अनुसार भौतिकवाद नैतिकता को वास्तविक आधार प्रदान करता है। यहाँ राय यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वर के भय से नैतिक नियमों का पालन करता है तथा कोई व्यक्ति बिना ईश्वर में विश्वास किये नैतिक नियमों का पालन करता है तो दोनों में से कौन व्यक्ति वस्तुतः नैतिक है? निःसंदेह दूसरे प्रकार के व्यक्ति को ही नैतिक कहा जा सकता है। अतः राय की मान्यता है कि न केवल भौतिकवादी आचारशास्त्र की सम्भावना है, बल्कि इसे ही एक मात्र संतोषप्रद आचारशास्त्र माना जा सकता है। यह सारे अन्धविश्वासों को नष्ट करता है तथा मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं निर्माता मान कर उसे मुक्त जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करता है।[१४] इतना ही नहीं जब मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि वह अपने भाग्य का विधायक स्वयं है तब वह अपने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को आध्यात्मिक तत्त्वमीमांसीय विचार की कड़ी से अलग कर लेता है तथा ओढ़े हुए नैतिकता के निरंकुश बोझ को अपने ऊपर से उतार फेंकता है। इस संदर्भ में श्री. राय ने लिखा है कि धार्मिक व्यक्ति की नैतिकता या तो पाखण्ड है अथवा किन्हीं दबावों के अन्तर्गत है। किन्तु भौतिकवादी व्यक्ति नैतिकता का पालन विवेक के आधार पर उन नैतिक नियमों में अपनी आस्था के कारण करता है।[१५] इस प्रकार राय सैद्धांतिक दृष्टिकोण से भौतिकवादी आचारशास्त्र को अधिक संतोषप्रद मानते हैं।

चेतना की उत्पत्ति की व्याख्या की समस्या भौतिकवाद की प्रमुख समस्या है। राय के अनुसार जीवों की उत्पत्ति की व्याख्या सुनिश्चित रासायनिक परिवर्तनों के आधार पर सैद्धान्तिक धरातल पर की जा सकती है, किन्तु इसे प्रायोगिक रूप में उपस्थित करना अत्यन्त ही कठिन है। इस संदर्भ में ईश्वर द्वारा जीवों की रचना, कार्बनिक पदार्थों द्वारा जीवों का उद्भव, प्राणवादी एवं नव प्राणवादी विचारों में प्रस्तुत जीवोत्पत्ति की व्याख्याओं की समीक्षा कर राय यह बतलाते हैं कि ये विचार सम्यक् नहीं हैं। इन विचारों को राय ने काल्पनिक एवं कवित्वपूर्ण माना है।[१६] इसके अनुसार वस्तुत: जीवों का उद्भव भौतिक पदार्थों के विकास के क्रम में ही देखा जा सकता है।

राय ने जीव तथा जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सृष्टिवाद का दृढ़तापूर्वक खंडन किया है। सृष्टिवाद मानता है कि एक विशेष क्षण में ईश्वर ने एक विशेष आज्ञप्ति जारी कर इस पृथ्वी पर प्रत्येक प्रकार के जीवों की सृष्टि की है। राय के अनुसार ऐसे विचार त्रुटिपूर्ण है। इसकी सर्वप्रमुख त्रुटि यह कही जा सकती है कि यद्यपि यह ईश्वर को इस जगत् का स्रष्टा स्वीकार करता है किन्तु ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए वह कोई ठोस प्रमाण उपस्थित कर पाने में असफल रहता है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयास में सृष्टिवादी विचारक जितने भी प्रमाण उपस्थित करते हैं वे बौद्धिक विवेचना के उपरान्त खंडित हो जाते हैं। अन्तत: ईश्वर के अस्तित्व को आस्था का विषय स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु आस्था कोई ऐसी वैज्ञानिक आधारशिला नहीं है जो मनुष्य के विवेक को संतुष्ट कर सके। पर यदि एक क्षण के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर भी लिया जाय तो सृष्टिवादी विचारधारा में ईश्वर द्वारा जिस तरह जगत् की सृष्टि की बात कही गई है वह तार्किक दृष्टिकोण से सिद्ध नहीं हो सकती। सृष्टिवाद यह स्वीकार करता है कि ईश्वर ने जगत् की सृष्टि शून्य से की है किन्तु शून्य से तो कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसी प्रकार सृष्टि-वाद कभी यह भी मानता है कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि अपने ही अन्दर के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपादान से की है और जगत् ईश्वर का ही अंग है। परन्तु ऐसे विचारों को स्वीकार कर लेने पर ईश्वर में जगत् के सभी प्रकार के अशुभों एवं पापों का आरोपण हो जाता है, चूंकि ये सभी उसी के अग हो जाते हैं।

सृष्टिवाद के सम्बन्ध में एक और प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि यदि जगत् की सृष्टि ईश्वर ने की तो ईश्वर की सृष्टि किसने की? इसके उत्तर में सृष्टिवादी ईश्वर को अनादि और अजन्मा बताते हैं। किन्तु तब यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि ईश्वर को अनादि और अजन्मा माना जाय तो क्यों नहीं जगत् को ही अनादि और अजन्मा मान लिया जाय ?

पुनः सृष्टिवादी ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वशुभ, दयालु, पूर्ण आदि मानते हैं। लेकिन इनके सम्बन्ध में भी शंका उत्पन्न हो जाती है कि यदि ईश्वर इन सारे सद्‌गुणों से युक्त है तो उसने ऐसे जगत् की सृष्टि क्यों की जो अपूर्ण तथा अनेक प्रकार के अशुभों से भरा है ?

इन दोषों के अतिरिक्त भू-आकृति-विज्ञान की खोजों के आधार पर भी सृष्टि-वाद का खंडन हो जाता है। भू-आकृति-विज्ञान यह मानता है कि पृथ्वी बहुत दिनों तक जीवों के रहने लायक नहीं थी। इसलिए जीवों का शाश्वत काल से पृथ्वी पर अस्तित्ववान् होने के विचार को नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर श्री. राय यह बतलाते हैं कि सृष्टिवाद आत्मविरोधी तथा कई तार्किक दोषों से ग्रस्त है। जीवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सृष्टिवादी विचार बौद्धिक व्यक्ति के हृदय तथा मस्तिष्क को संतुष्ट नहीं कर पाते हैं।

जीव तथा जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राणवाद तथा नव-प्राणवाद को भी श्री. राय ने अस्वीकार किया है। प्राणवाद वह सिद्धांत है जो यह मानता है कि जीवन की उत्पत्ति अभौतिक शक्ति से हुई है। इसे ड्रेसेच ने 'एन्टेलेकी' तथा बर्गसाँ ने 'एलाँ विते' की संज्ञा दी है। यह सिद्धांत जैविक यंत्रवाद, जो जीवों की व्याख्या भौतिक और रासायनिक शब्दावली में करने की चेष्टा करते करते हैं, के विरोधी है। ऐसे विचार अरस्तु, देकार्त आदि के दर्शनों में भी देखे जाते हैं किन्तु ड्रेसेच तथा बर्गसाँ के विचारों में इनकी पुनर्स्थापना हुई है। इस दृष्टि से इसे नव-प्राणवाद कहा गया है।

राय के अनुसार बर्गसाँ का सृजनात्मक विकासवाद संतोषप्रद नहीं है। सके अनुसार सिर्फ प्राण या एलाँ विते ही सत् है। जगत् की विविध वस्तुएँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी मूल तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। अत: इसके अनुसार इस सतत परिवर्तनशील जगत् के पीछे एक सर्वव्यापक तत्त्व है जो स्वयं सतत प्रयत्नशील है। राय के अनुसार बर्गसाँ की यह मान्यता निराधार है। उन्होंने विश्व की विविध वस्तुओं को समुद्र में उत्पन्न बुलबुलों की भाँति क्षणिक बना दिया है वस्तुत: ऐसे किसी आध्यात्मिक तत्त्व को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विकास-प्रक्रिया बिना किसी "एलाँ विते" जैसे आध्यात्मिक तत्त्व को स्वीकार किये स्वयं व्याख्येय है।

पुन: राय के अनुसार बर्गसाँ का प्राण-तत्त्व को बुद्धि–रहित मानना आत्म-विरोधी है। जीव–विज्ञान का यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि बुद्धि तथा प्रयोजन विकास की बाद की अवस्था में देखने को मिलते हैं। बर्गसां ने अपने को इस तथ्य के अनुकूल रखने के लिए प्राणतत्त्व को बुद्धि–रहित माना है। किन्तु यदि प्राणतत्त्व एक प्रेरक शक्ति से युक्त है तो यह बुद्धि–रहित नहीं हो सकता है। यह बुद्धि के बिना कार्य नहीं कर सकता है। अत: राय के अनुसार एक बुद्धिरहित सोद्देश्य प्रेरणा आत्मविरोधी अवधारणा है।[१७]

बर्गसाँ के सृजनात्मक विकासवाद के संदर्भ में राय ने यह भी प्रश्न उठाया है कि यदि विकास एक दिव्य या तत्त्वमीमांसीय "जीवनशक्ति" का परिणाम है तो इस में अपूर्णता क्यों है ? उन्होंने कहा है, "विकास के पीछे निहित उद्देश्य, जिसकी उत्पत्ति सम्भवत: दिव्य तथा तत्त्वमीमांसीय है, अपने को मूर्तरूप देने में इतना चक्करदार एवं नष्टकारी प्रक्रिया को क्यों अपनाता है ? यह क्यों नहीं जीवन के उच्च स्तरों को सीधे उत्पन्न कर देता है ? ये देखा जा सकता है कि स्पष्टत: धार्मिक सिद्ध सृष्टिवाद भी बर्गसाँ के वैज्ञानिक दर्शन से अधिक तर्कसंगत है।[१८]

उपर्युक्त दोषों के कारण राय बर्गसाँ के प्राणवाद को अस्वीकार कर देते हैं। इनके अनुसार बर्गसाँ का यह विचार वस्तुत: नये बोतल में पुराने शराब की तरह है जहाँ एलाँ विते विश्व–चेतना की धारणा का ही नया नाम है।

जीवोत्पत्ति सम्बन्धी सृष्टिवादी, प्राणवादी, नव–प्राणवादी इत्यादि सिद्धांतों की आलोचना के बाद राय जीव की उत्पत्ति की वैज्ञानिक व्याख्या, जिस पर विकासवाद का सिद्धान्त आधारित है, में अपना विश्वास व्यक्त करते हैं। यहाँ राय यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि ऐसी स्वाभाविक प्रक्रिया के द्वारा जीव की उत्पत्ति अकार्बनिक जड़ तत्त्व से हुई है। इस सम्बन्ध में वे स्वत: उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं तथा विकास की प्रक्रिया को सर्वथा यांत्रिक मानते हैं। यहाँ वे डार्विन के विचारों के निकट प्रतीत होते हैं। क्योंकि डार्विन ने भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विकास-प्रक्रिया में प्रयोजन को अस्वीकार किया है। इस संदर्भ में राय जीव के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या तथा कार्बनिक एवं अकार्बनिक के बीच भेद करते हुए विकास-सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हैं।

पैट्रिक की तरह राय भी मानते हैं कि सजीव पदार्थों के दो महत्त्वपूर्ण गुण हैं– संवेदनशीलता तथा प्रजनन।[१९] ये गुण सभी जीवों में पाये जाते हैं, चाहे वे पौधे हों, पशु हों या मनुष्य। इन दोनों गुणों का संगठन जब विकसित होते हुए बहुत ही जटिल एवं सर्वोच्च संगठित जैविक शरीर तक पहुँचता है तो कई अन्य गुणों का प्रादुर्भाव होता है। जैसे– मूल प्रवृत्ति, चयनात्मकता, स्मृति, बुद्धि, चेतना आदि। गुणों के इस समूह को ही जीवन कहा जाता है। इस प्रकार श्री. राय मानते हैं कि जीवन जड़ तत्त्व का श्रेष्ठ एवं विकसित संगठन है। इसके अनुसार जीवन रहस्यमय अभौतिक शक्ति का बोधक नहीं है। बल्कि यह निर्जीव जड़ तत्त्व से संगठन हो एक विशेष स्थिति में उत्पन्न होता है। बुद्धि एक शारीरिक क्रिया है। मस्तिष्क शरीर का अंग है तथा विचार मस्तिष्क का कार्य है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात, जिस ओर राय ध्यान आकृष्ट करते हैं, वह है कार्बनिक तथा अकार्बनिक के बीच का भेद। कुछ दिनों पूर्व तक वैज्ञानिक यह मानते थे कि जीवों के अन्तर्गत प्राणशक्ति की उपस्थिति ही ऐसे भेद का कारण है। किन्तु बाद के अन्वेषणों के क्रम में यह देखा गया है कि कार्बनिक एवं अकार्बनिक तत्त्वों के बीच अनिवार्य भेद है। रासायनिक तत्त्वों, जैसे– कार्बन, ऑक्सीजन, हाईड्रोजन, सल्फर आदि से भौतिक शरीर का निर्माण होता है। ऐसे ही रासायनिक तत्त्व वनस्पतियों एवं पशु शरीरों में भी देखें जाते हैं। इतनी दूर तक इनमें कोई भेद नहीं होता। किन्तु इनके बीच प्राणशक्ति का भेद है जो संवेदनशीलता एवं प्रजनन के द्वारा जानी जाती है। अर्थात् अकार्बनिक जड़ तत्त्व में संवेदनशीलता एवं प्रजनन अनुपस्थित रहता है। किन्तु भेद शरीरशास्त्र के क्षेत्र में कोशों के कारण अब समाप्त हो गया है। जैविक शरीर को इनके निर्माण करने वाले कोशों की गतियाँ एवं आकार का योगफल माना जा सकता है। अतः कोश ही प्रमाण तत्त्व के भी नियामक हैं, जो जैविक शरीरों के आधार हैं। इन तथ्यों के आधार पर राय निष्कर्ष निकालते हैं कि कार्बनिक तथा अकार्बनिक तत्त्वों के बीच कोई भेद नहीं है। मूलतः सभी जीव प्रोटोप्लाजम लोंदे की तरह होते हैं, ये कार्बन के साथ ऑक्सीजन का तथा हायड्रोजन के साथ नायट्रोजन से संगठन हैं।

इस प्रकार राय ने यह दिखलाया है कि कैसे स्वाभाविक प्रक्रिया के द्वारा जीव की उत्पत्ति अकार्बनिक जड़ से हुई है। इस सम्बन्ध में वे स्वतः उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं तथा विकास की प्रक्रिया के क्रम में किसी भी प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के प्रयोजन के विचार को स्वीकार नहीं करते। स्वतः-उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा है कि जबतक जैविक रूपों की उत्पत्ति एवं विकास के यन्त्रवादी नियमों का अन्वेषण नहीं हुआ था, जटिल तथ्यों के बीच रहस्यमय सृष्टि के विचारों पर विश्वास किया जाता था, जहाँ यह माना जाता था कि ऐसी सृष्टि किसी सार्वभौम मशीन द्वारा ईश्वरीय प्रयोजन से की गई। जैविक जगत् का कारण आश्चर्यजनक ही बना रहा। इसके बीच कोई भेद नहीं रहा कि ऐसे आश्चर्य वैयक्तिक ईश्वर द्वारा किये जाते रहे या रहस्यमय प्राण के द्वारा। अन्ततः डार्विन ने प्रयोजन की शक्ति को समाप्त कर दिया या आकारिक जीव विज्ञान से इसे हटा दिया गया।

स्वतः-उत्पत्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध भी आपत्ति की गई है। उन्होंने इन आपत्तियों की चर्चा की है तथा इनका स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्बन-संघात ही जीवन का सबसे सरल रूप है। इसके विरुद्ध यह प्रश्न किया जा सकता है कि कार्बन-संघात ही सबसे पहले क्यों संरचित हुए हैं? अब क्यों नहीं इनका प्रादुर्भाव होता है? राय इस प्रश्न के उत्तर देने के क्रम में यह कहते हैं कि यह सर्वथा संभव कि स्वतः-उत्पत्ति अब नहीं होती है क्योंकि जल, वायु एवं वातावरण में परिवर्तन आ चुका है। अतिप्राचीन समय में कार्बन का आधिक्य था, फलस्वरूप उस समय में इनसे कार्बनिक जड़ तत्त्व स्वतः अस्तित्व में आ गये होंगे।

एक और आपत्ति इस विचार के विरुद्ध की गई है, जो मुख्यतः यांत्रिक विकासवाद के विरुद्ध है न कि स्वतः-उत्पत्ति के विचार के प्रति। इसके अनुसार हम जड तत्त्व, जीवन एवं मन के बीच गुणात्मक अन्तर पाते हैं। किन्तु जब विकासवादी विकास की प्रक्रिया को क्रमगत मानते हैं तो कैसे अचानक परिवर्तन होने की बात को स्वीकारा जा सकता है?

राय के अनुसार इसे समस्या का रूप नहीं माना जा सकता। विकास की प्रक्रिया जटिल अवश्य है किन्तु इसे रहस्यपूर्ण नहीं माना जा सकता। प्रकृति में पूर्ण समरूपता नहीं देखी जाती। विकास की प्रक्रिया में अचानक गुणात्मक रूप ले लेते हैं।

इसी प्रकार राय अपने स्वतः-उत्पत्ति के सिद्धान्त के द्वारा जीव तथा जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं तथा मानते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीव की उत्पत्ति अकार्बनिक जड़ तत्त्वों के द्वारा हुई है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जीव की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न विचारों की विवेचना करते हुए राय इसके सम्बन्ध में उत्पन्न विभिन्न विवादों को समाप्त करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे विवेचन के क्रम में राय यह स्वीकार करते हैं कि भौतिकवाद बिना किसी अलौकिक सत्ता के जीवन के रहस्य का विवेचन करता है। लॅमार्क तथा हेकेल के विचारों से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए राय मानते हैं कि जीवन पूर्णतः भौतिक जगत् का बोधक है। इनके अनुसार यह उच्च स्तरीय जड़ तत्त्व के संगठन से अधिक और कुछ नहीं है। इस प्रकार राय के अनसार जीव की उपपत्ति जड तत्त्व से हुई है। अपने इस विचार को स्पष्ट करते हुए राय ने लिखा भी है, "इसलिए जीव की उत्पत्ति को तत्त्वमीमांसीय रहस्य में ढके हुए अब नहीं रखा जा सकता है। जड तत्त्व की विकास प्रक्रिया में जो नवीनताओं की उत्पत्ति को सन्निहित किये हुए हैं जीवन भौतिक जगत् के संदर्भ में नवीनता के रूब में उत्पन्न हुआ है।"[२०]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि एम्. एन् राय का भौतिकवाद वैज्ञानिक मानवतावाद का समर्थन करता है तथा जीव एवं जगत् की व्याख्या भौतिकवादी वस्तुवाद के रूप में करता है। साथ ही राय की यह भी मान्यता है कि अध्यात्मवाद हमारे पीछड़ेपन का बोधक है। अतः राय भारतवासियों को यह संदेश देते हैं कि उन्हें यह जानना चाहिए कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। कर्मवाद, भाग्य, पुनर्जन्म, ईश्वर की दया जैसे विचार भरे हुए अतीत के पिशाचों तरह हैं। अतः भविष्य में उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि हम भौतिकवादी दर्शन को अपनायें। ऐसे भौतिकवाद से ही बुद्धि-सम्मत नैतिकता का उद्भव सम्भव है तथा यह मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति का उद्घोषक है।

दर्शन विभाग
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)

ललित किशोर गुप्त

टिप्पणियाँ

१. एम् एन्. राय, फ्रेग्मेण्टस् ऑफ ए प्रिजनर्स डायरी, खंड–१, पृ.–६५
२. वहीं, पृ. ६६
३. वहीं, पृ. ६९
४. एम्. एन्. राय, मॅटेरियालिज्म, पृ. १

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५ वहीं, पृ. ४
६. वहीं, पृ. ५
७. वहीं, पृ. १४
८. गौतम, न्याय सूत्र–४.२.१६
९. कणाद, वैशेषिक सूत्र–७.१.२०
१०. एम्. एन्, राय, मैटेरियालिज्म, पृ. ८७
११. वही, पृ. ९४
१२. एम्. एन्. राय एण्ड पी. स्प्रैट, बियोण्ड कम्युनिज्म टु ह्यूमेनिज्म, पृ. ४२
१३. वहीं, पृ. ४२
१४. एम्. एन्. राय, हेरेसीज ऑफ द ट्वेन्टीएथ सेंचुरी, पृ. १३२
१५. एम् एन्. राय, फ्रेगमेण्ट्स ऑफ ए प्रिजनर्स डायरी, खंड–२, पृ. २४२
१६. एम्. एन्. राय, साइन्स ऑफ फिलासॉफी, पृ. १६५
१७. वहीं, पृ. १६७
१८. वहीं. पृ. १६४
१९. जी. टी. डब्ल्यू. पैट्रिक, इण्ट्रोडक्शन टु फिलासॉफी, पृ. ९७
२०. एम् एन्. राय, साइन्स एण्ड फिलासॉफी, पृ. १४६.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शक्ति-दर्शन में शक्ति का स्वरूप

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की तरह दुःख-निवृत्ति एवं मुक्ति हेतु शाक्त-दर्शन का प्रारंभ आगम ग्रंथों के आधार पर हुआ। आनन्द की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। संसार के सभी प्राणी, देवादि से लेकर कीट पतंग आनन्द के साधनों की खोज में सतत् प्रयत्नशील हैं। वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति नहीं होती; अतः उपनिषदों में ज्ञान-मार्ग का उपदेश किया गया है, जिसमें संसार से मुक्ति का एक मात्र साधन ज्ञान माना गया है। दूसरा मार्ग आगम द्वारा प्रतिपादित है जिसके द्वारा अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के उपाय बुद्धि में आते हैं। इस मार्ग में ज्ञान के साथ क्रिया का सामंजस्य निरूपित किया गया है। ज्ञान के बिना क्रिया तथा क्रिया के बिना ज्ञान की सत्ता असंभव है। ज्ञान और क्रिया में अविनाभाव संबंध है। आगमशास्त्र वस्तुतः उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान मार्ग का वैज्ञानिक एवं विस्तृत स्वरूप है।[1] जिन विषयों का वेद एवं उपनिषद् ग्रंथों में बीज रूप से संकेत है उन विषयों का आगम शास्त्र में स्पष्ट निरूपण उपलब्ध होता है। आगम ग्रंथों पर आधारित एवं निःसृत शाक्त दर्शन भी एक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय है। शाक्त-दर्शन साधनापरक अद्वैतवादी है जिसके अनुसार परमतत्त्व शक्ति है जिसमें शिव सदैव सम्मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव और बहिर्मुख होने पर शक्ति है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख दोनों भाव सनातन हैं।[2] इसी सामरस्य-भाव को त्रिपुट सुन्दरी, ललिता, तारा, काली आदि विभिन्न नाम से मातृरूप में कल्पना करके शक्ति के जडत्व को दूर कर उसकी चित्स्वरूपता को प्रकट किया, और भक्ति एवं साधना की प्राप्ति का साधन स्वीकार किया।

'शक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति शक्लृ शकौ धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने से हुई, जिसके अनुसार अपृथक्—सिद्ध कार्योत्पानोपयोगी धर्म-विशेष को शक्ति कहते हैं।[3] जैसे अग्नि दाह उत्पन्न करती है अतएव अग्नि में दाहोपयोगी शक्ति है अर्थात् शक्ति वह वस्तु है जो कारण या पदार्थ के साथ अपृथक्-सिद्ध रहकर कार्योत्पादन में

परामर्श (हिन्दी), वर्ष १०, अंक ३, जून, १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपयोगी होती है। कारण अथवा पदार्थ अनन्त हैं इसलिए शक्तियाँ अनन्त है। तत् और त्वं पदार्थ के शोधन में तत्त्व का स्वार्थ निहित है अतः शक्ति को जाने अथवा बिना जाने समस्त जगत् शक्ति-युक्त है। जैसे दार्शनिक शक्ति-तत्त्व का, वैयाकरण शब्द शक्ति का, साहित्यिक तथा कवि अर्थ शक्ति का, वैज्ञानिक भौतिक शक्ति का और राजनीतिज्ञ राजनैतिक शक्ति का विवेचन करते हैं।

वैज्ञानिक भौतिक शक्ति को जगत् का प्रमुख कारण मानते हैं। शक्ति की विविध मात्रा में फैली हुई तरंगें ही कहीं रंग, कहीं स्थूलता आदि रूपों में परिणत होकर इस वैचित्र्य-सम्पन्न जड़ चेतन विश्व को जन्म देती है। हेनरी बर्गसां के अनुसार समस्त विश्व की सञ्चालिका एक शक्ति है जिसके अनन्त रूप हैं। एक परमाणु से लेकर अनन्त ब्रह्माण्डों तक यह शक्ति सर्वथा ओतप्रोत है। वैज्ञानिक और पाश्चात्य दार्शनिक शक्ति को आदि तत्त्व एवं जगत् का आधार तो मानते हैं लेकिन शक्ति को जड़ रूप स्वीकार करने के कारण उसे उपास्य, और पूज्य नहीं मानते हैं। जब कि इसके विपरीत शाक्त दार्शनिक भारतीय परम्परा का निर्वाह करते हुए शक्ति-तारतम्य और उद्देश्य-तारतम्य के आधार से शक्ति को देवी और मातृ रूप में कल्पना करके उसे चेतन एवं उपास्य स्वीकारते हैं।[४] उनके अनुसार चेतनत्त्व उसका कूटस्थ है। इस प्रकार अल्पशक्ति महाशक्ति का आराधन कर महत्ता को प्राप्त कर सकती है। परन्तु वस्तुतः उपाधि-भेदों को छोड़ कर शक्ति-शक्ति में कोई भेद न रहने से एक विराट् शक्ति अथवा अनन्त शक्ति है जिसे शुद्ध आदि नामों से पुकारा गया है। समस्त पूर्ण सत्ता का प्रमाण अनन्त ज्ञान है। अस्ति का प्रमाण भाति ही है। कोई भी जड पदार्थ अपनी अथवा दूसरे की सत्ता को जान नहीं सकता। अतः उसके अस्तित्व का प्रमाण भी चेतन ही है। इस कारण सत् के साथ चित् का सहकार अनिवार्य है। इस अनन्त शक्ति में उद्देश्य ज्ञान ही एक मात्र शक्ति का चरम फल है और यही उपासना का प्रेरक है। लोक, परलोक अथवा आत्म-तृप्ति, आप्तकाम, पूर्णकाम तथा परमनिष्काम इस उपासना के संचालक उद्देश्य हैं। इस प्रकार पुरुष रूप में उपासना करने वाला भगवती, माता, शक्ति आदि नामों से व्यवहार करता है।[५]

सृष्टि के आदि में अनादि काल से जो अव्यक्त, पूर्ण निराकार और शून्य स्वरूप वस्तु विराजमान है, वह तत्त्वातीत, प्रपंचातीत तथा व्यवहार पथ के भी अतीत है। वही शाक्तों की महाशक्ति है और शैवों के परमशिव है।[६] शाक्त मतानुसार आदिशक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी नित्यानन्दमय है। न तो कोई उससे अधिक है और न समकक्ष ही। वह दृश्यमान चराचर विश्व की जन्मदात्री है, स्वयं प्रकाश स्वरूप शिव भी इस स्फुरणशील विमर्शरूपी दर्पण में अपने आपके प्रतिबिम्ब को देख कर स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करते हैं। शिव से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेकर पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वमय समस्त संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय उसकी लीला एव क्रीडा है।

महाशक्ति का परमशिव को प्राणेश्वरी के रूप में चिन्तन किया गया है। जब परमशिव में महाशक्ति लीन रहती है तब यह अखण्ड पद शिव के नाम से संबोधित किया जाता है। इच्छारूपिणी ईक्षणात्मक महाशक्ति के द्वारा जब प्राण का संचालन होता है तब परमशिव का शिव एवं शक्ति के रूप में आविर्भाव होता है।[७] प्राण की विभिन्न अवस्थायें ही शक्ति का स्वरूप हैं। सुषुप्ति, स्वप्न, जागृत, तुर्य एवं तुर्यातीत नामक पाँच अवस्थाओं को शक्ति के वाम, दक्षिण, योनि, मुख एव हृदय नामक अगों के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

प्रत्यक्षतः अनुभव होता है कि दक्षिण अंग सक्रिय होता है एवं जागृत दशा भी प्रत्यक्षतः क्रियात्मक होती है अतः जागृत अवस्था को महाशक्ति का दक्षिण अंग निरूपित किया गया है। वाम अंग निष्क्रिय होता है तथा सुषुप्ति अवस्था भी निष्क्रिय होती है अतएव सुषुप्ति दशा महाशक्ति का वाम अंग है। योनि उत्पत्ति का कारण है। सर्व प्रथम विकल्प की उत्पत्ति स्वप्न में होती है। अतः स्वप्न दशा को महाशक्ति का योनि भाग निरूपित किया गया है। चतुर्थ अवस्था तुर्य है। इस अवस्था में चित् का अनुसंधान होता है। अतः यह दशा शिवात्मक है। इस दशा में जागृत आदि तीनों दशाओं की अभेद अनुभूति होती है, तथापि सर्वत्र चित्रूपता के कारण तुर्य दशा को एकरूप प्रतिपादित किया गया है। इस दशा में जागृतादिगत वैचित्र्य का अभाव होता है। अतः इसको महाशक्ति का मुख भाग निरूपित किया गया है। तुर्यातीत दशा में तुर्य सहित जागृत् आदि समस्त दशाओं की प्राणरूप होने से तुर्यातीत का महाशक्ति का हृदय-प्रदेश निरूपित किया गया है। जिस प्रकार हृदय से समस्त नाड़ियों का निर्गमन होता है, एव हृदय में ही समावेश हो जाता है उसी प्रकार विश्रान्ति रूप तुर्यातीत नाम हृदय प्रदेश से प्राण-कला के रूप में परमशिव के प्राणों की ईश्वरी अर्थात् सत्ता-सम्पादिनी महाशक्ति का स्फुरण होता है तथा तुर्यातीत में ही लय हो जाता है। सुषुप्ति, स्वप्न, जागृत् क्रम से भेद-रूप संसरण जीवात्मक है तथा जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति क्रम से अभेद रूप से संसरण शिवात्मक है।[८] भेद-संसरण का नाम प्रवृत्ति एवं अभेद-संसरण का नाम निवृत्ति है। भेदाभेद रूप यह संसरण महाशक्ति का स्वभाव है।

पंचावस्थात्मक महाशक्ति का बोध महामंत्र से होता है। जिस प्रकार दशाओं के सुषुप्ति आदि पांच भेद हैं उसी प्रकार महामंत्र भी स्वर, स्पर्श अन्तस्थ ऊष्माण एव कूटस्थ पाँच प्रकार का है। स्वर आदि वर्णों से क्रमशः सुषुप्ति, जागृत् स्वप्न तुर्य एव तुर्यातीत दशाओं का बोध होता है।[९] दशायें एवं वर्ण प्राण की ही परिणति है। मूलाधार में स्थित प्राणात्मिका परावाक् नामक शक्ति का जब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्थान होता है तब प्राणवायु नाभि आदि विभिन्न चक्रों में होकर मुख से कण्ठ तालु आदि स्थानों से आहत होकर बाहर निर्गमन करती है जिससे शब्द का उच्चारण होता है। उच्चारण हेतु किये गये इस प्रयत्न से प्राण वायु का कण्ठ आदि स्थानों से संघटन अथवा विघटन होता है जिसके कारण वर्णों के आकार में प्राण की परिणति हो जाती है। व्याकरण-शास्त्र में यह उच्चारणात्मक प्रयत्न दो प्रकार का निरूपित किया गया है। (१) आभ्यन्तर प्रयत्न, (२) बाह्य प्रयत्न। आभ्यन्तर प्रयत्न पुनः चार प्रकार का है (१) विवृत (२) स्पृष्ट (३) ईषत् (४) ईषत् विवृत।[१०] कण्ठ, तालु आदि के उर्ध्व एवं अधोभागों के संघठन का नाम विवृतता है। स्वरों के उच्चारण में विवृत प्रयत्न, स्पर्शवर्णों के उच्चारण में स्पृष्ट प्रयत्न, अन्तस्थवर्णों के उच्चारण में ईषत्-स्पृष्ट-प्रयत्न एवं उष्माण वर्णों के उच्चारण में ईषत्-विवृत-प्रयत्न घटित होता है। जिस प्रकार उच्चारण प्रयत्न से प्राणवायु का सकोच एव विकास होता है उसी प्रकार अवस्थाओं के स्फुरण के समय भी प्राणवायु का संकोच एवं विकास होता है। प्राण के संकोच ग्रहण एव संकोच-त्याग रूप सादृश्य के कारण वर्णों तथा दशाओं में व्यग्य-व्यंजक अर्थात् बोध्य-बोधक संबंध निरूपित किया गया है। सुषुप्ति अवस्था में प्राण की पूर्ण विवृतता एवं जाग्रत् में पूर्ण संकोच होता है। अतः इन दो दशाओं को पूर्ण दशा निरूपित किया है तथा स्वप्न में प्राण का ईषत् संकोच और तुर्य में ईषत् विवृतता होती है; अतः यह दशायें अपूर्ण निरूपित की गई हैं। बाह्य प्रयत्न के द्वारा कण्ठ, तालु आदि उच्चारण स्थान के उच्चय एवं अपचय के आधार पर दशाओं के उच्चय और अपचय का प्रतिपादन तथा वर्णों के द्वारा पृथ्वी से शिव पर्यंत छत्तीस तत्त्वों की बोधता का निरूपण किया गया है। इस प्रकार पंचांगी वर्णमाला के सभी अक्षर मिलाकर पराशक्ति के दिव्य विग्रह को प्रकट करते हैं। शिवादि धरती पर्यन्त छत्तीस तत्त्व इसी के परिणाम हैं। समस्त प्रपंच उसी का स्वरूप है।[११]

महाशक्ति एवं महामंत्र का अवेदात्मक स्वरूप शब्द एवं अर्थ की एकरूपता का प्रतिपादन करता है। परावाक् मूलाधार में शक्ति का नादरूप में प्रथमावतार है। इस रूप का अनुभव अन्तःकरण में ही होता है। यह मन तथा वाणी से अगोचर सब का कारण है। यही महाशक्ति परावाक् नाभि चक्रों में पश्यन्ति, हृदय में मध्यमा एवं कण्ठ में वैखरी बनकर अ से अः तक, क से त पर्यन्त एव ठ से क्ष पर्यन्त तीन खण्डों में परिणत है, जिसका चित्रण श्रीचक्र के रूप में किया गया है।[१२] इस प्रकार महाशक्ति एवं महामंत्र का वर्णन तीन अंगों में भी मिलता है। पाँच प्रकार के वर्णों को स्वर, स्पर्श एवं व्यापक तीन अंगों में सीमित किया गया है उसी प्रकार प्राण की पांच अवस्थाओं को स्वप्न, जाग्रत् एवं सुषुप्ति तीन में परिणत कर दिया है, और उसका निरूपण, इच्छा, ज्ञान, क्रिया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथा शिव शक्ति एवं बिन्दु रूप में किया गया है। यही त्रिगुणात्मक स्वभाव सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कारण है। इसीलिये संसार भी त्रिगुणात्मक ही है। त्रिगुणात्मक एवं पंचात्मक अवस्थायें ही शक्ति का स्वरूप एवं स्वभाव हैं। शक्ति ही एकमात्र जगत् की अधिष्ठात्री है। इसीलिये यही साध्य, साधक, उपास्य, उपासना एवं उपासक है।

— राधाधर शर्मा

दर्शन विभाग
बुन्देलखण्ड महाविद्यालय
झांसी उ. प्र)

टिप्पणियाँ

१. स्वतंत्रानन्द नाथ; मातृका चक्र विवेक, पृ. ५
२. कुलार्णवतन्त्र, १ / ६ – १०
३. कल्याण, शक्ति उपासना विशेषांक, वर्ष ६१ सन् १९८७, गोरखपुर पृ. ११६
४. वही पृ. ११७
५. राघव भट्ट; शारदातिलक की टीका, पृ. २८
६ गोपीनाथ कविराज; एस्पेक्ट ऑफ इंडियन थॉट, पृ. १६२
७. स्वतंत्रतानन्द नाथ; मातृका चक्र विवेक, पृ. १२
८. पुण्यानन्दनाथ; कामकला विलास, पृ. ७
९. राघव भट्ट; शारदा तिलक की टीका, पृ. २४
१०. स्वतंत्रानन्दनाथ; मातृका चक्र विवेक पृ. २५
११. पुण्यानन्द नाथ; कामकला विलास, पृ. १५
१२ वही, पृ. १६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सौन्दर्य के तात्पर्य की समस्या

सौन्दर्य की चर्चा हाल ही के कुछ वर्षों से जोर पकड़ते लगी है। आम तौर पर सौन्दर्य-शास्त्र को आंग्ल शब्द 'एस्थेटिक्स' का हिन्दी पर्याय माना जाता है। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि 'एस्थेटिक्स' का अध्ययन-क्षेत्र मूलतः कलागत सौन्दर्य है। अतः उसकी परिधि अपेक्षाकृत संकुचित है। जबकि सौन्दर्य-शास्त्र सौन्दर्य का अध्ययन होने के कारण कहीं अधिक व्यापक एवं विस्तृत है। सौन्दर्य-शास्त्र यदि सामान्य का अध्येता है तो एस्थेटिक्स को विशेष का अध्येता कहा जा सकता है। यद्यपि एस्थेटिक्स शब्द सामान्य तथा विशिष्ट उभय अर्थों में प्रयुक्त होता है फिर भी उसका झुकाव कलापरक होने से उसे कलाशास्त्र अथवा कला-दर्शन कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसीलिये प्रो. कान्ति चन्द्र पाण्डेय जैसे विद्वानों ने एस्थेटिक्स का हिन्दी पर्याय सौन्दर्य शास्त्र के स्थान पर स्वतन्त्र कला शास्त्र किया है।[१]

सैद्धान्तिक दृष्टि से सौन्दर्य-शास्त्र अथवा कला-शास्त्र भले ही एक अध्ययन सुकर शासन प्रतीत हो परन्तु व्यवहारिक रूप में इसके दो भेद दृष्टिगत होते हैं। एक तो प्रकृति-सौन्दर्य-अनुशीलन जो दार्शनिक अध्ययन है और दूसरा कला-सौन्दर्य-अनुशीलन जो मुख्य रूपेण साहित्यिक अथवा समीक्षात्मक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित है।

इसी प्रकार हम सौन्दर्य को भी दो कोटियों में रख सकते हैं; एक तो प्रकृति-जन्य सौन्दर्य में मनुष्य का कोई योगदान नहीं है और जिसे देखकर मानवीय कल्पना भी मर्यादित होने लगती है। ऊंची पर्वत चोटियां, उमड़ाता हुआ समुद्र, रमणीक घाटियां तथा सुरम्य वन इत्यादि प्राकृतिक सौन्दर्य के उदाहरण हैं। इसके विपरीत ललित-कला-जन्य सौन्दर्य मानवीय कौशल का परिणाम होता है और उसका रसास्वादन कर मानवीय कल्पना कुण्ठित होने की बजाय उड़ान की नयी मन्जिलें तय करने लगती हैं।

परामर्श (हिंदी), वर्ष १०, अंक ३, जून, १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकृतिजन्य सौन्दर्य तथा कलाजन्य सौन्दर्य को जब हम एक ही नजर से देखने लगते हैं और उन्हें एक ही कोटि में रखकर समझने और विश्लेषित करने का प्रयास करने लगते हैं तब हम ऐसी भूल करते हैं जिससे समस्या सुलझने की जगह उलझने लगती है। यही कारण है कि दार्शनिक तथा कला-चिन्तन का यह अत्यधिक परिचित शब्द होते हुये भी तथा इस पर अनेक दृष्टियों एवं कोणों से विचार होने पर भी आज तक सौन्दर्य का सर्वमान्य प्रतिमान तो क्या बहुमान प्रतिमान तक स्थापित नहीं हो पाया। यदि दार्शनिकों की बात छोड़ भी दी जाये, जो सहमत ही असहमत होने के लिये होते हैं, और यदि केवल सामान्य बोध तथा कला, साहित्य-समीक्षा इत्यादि में प्रयुक्त इस शब्द के अर्थों को ही ध्यान में रखा जाय तो भी बात नहीं बनती। सौन्दर्य के विभिन्न सन्दर्भों में न केवल अलग-अलग अर्थ किये जाते रहे हैं अपितु एक ही सन्दर्भ में इसकी अनेकार्थकता देखी जाती है। सौन्दर्य सम्बन्धी व्यक्तिनिष्ठ अवधारणायें यदि अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हैं तो तथाकथित वस्तुनिष्ठ विवेचनों में अतिव्याप्ति दोष विद्यमान है।[२]

सौन्दर्य वस्तुतः अनुभूति है अथात् सौन्दर्य का अर्थ उसकी अनुभूति किये जाने में है और सौन्दर्य की अनुभूति कोई सतत होने वाली क्रिया नहीं है; प्रत्युत क्षणिक या काल-विशेष तक सीमित है। यही कारण है कि सौन्दर्य को वाणी-व्यापार में नहीं ढाल सकते। जब कभी सौन्दर्य को परिभाषित करने का प्रयास किया जाता है तो उन घटकों अथवा गुणों इत्यादि की चर्चा से ही सन्तोष करना पड़ता है जो सौन्दर्य-प्रतीति में सहायक माने जाते हैं। जिस प्रकार क्रोध-कर्ता तथा क्रोध-निरीक्षक एक ही व्यक्ति एक ही साथ नहीं हो सकता उसी प्रकार सौन्दर्य की अनुभूति और सौन्दर्य-विश्लेषण हम एक साथ नहीं कर सकते और अनुभूति के उपरान्त जो विश्लेषण हम करते हैं वह अतीत विषयक होने से नितान्त सत्य तथा सुस्पष्ट नहीं हो सकता। सौन्दर्य के बाह्य घटकों की व्याख्या इत्यादि तो की जा सकती है किन्तु उसके आन्तरिक प्रभाव एवं प्रक्रिया, जो उसके अनिवार्य रूप से घटक हैं, को समझना और परिभाषित करना सम्भव नहीं है। मनोविज्ञान में आत्म-निरीक्षणविधि की जो कठिनाइयाँ है वहीं यहां भी उपस्थित होती हैं।[३] भले ही अभ्यास के द्वारा व्यक्ति अपना आत्म-निरीक्षण एक हद तक करने में सक्षम हो जाये किन्तु उसमें वैसी पूर्णता का अभाव ही रहता है जैसी वस्तुनिष्ठ पद्धति में सम्भव है। यही कारण है कि एक वस्तु से अनेक प्रकार अथवा स्तर का सौन्दर्य बोध होता है और इसीलिये शायद सौन्दर्य का निश्चित प्रतिमान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थापित करना सम्भव नहीं है। फिर भी सौन्दर्य के विषय में प्रचलित धारणाओं और मतों में से कुछ की चर्चा कर लेना यहां पर अप्रासंगिक न होगा।

'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग जितना ही सामान्य एव व्यापक है इसका अर्थ उतना ही रहस्यपूर्ण और विवादास्पद है। यही कारण है कि कलाकार सौन्दर्य-शास्त्री होने के स्थान पर सौन्दर्य-सृजन में अधिक ध्यान लगाते हैं। पं. ओम्कार नाथ ठाकुर तथा पटवर्धन जैसे महान् संगीतकार कहा करते थे कि "हम आम खाते हैं, पेड़ नहीं गिनते हैं"।[४] सौन्दर्य कोई सापेक्ष तत्त्व है अथवा निरपेक्ष मूल्य, इस सम्बन्ध में विवाद का कोई अभाव नहीं है।

सौन्दर्य को अनेक पर्यायवाची शब्दों के द्वारा समझने समझाने का प्रयास होता रहा है तथा सौन्दर्य को जिस रूप में चिन्तक ग्रहण करता है वह वैसी ही उसकी व्याख्या करने का प्रयास करता है। भारतीय चिन्तन में रसलालित्य, रमणीयता इत्यादि प्रत्ययों का व्यवहार सुप्रसिद्ध है। इसी प्रकार पाश्चात्य चिन्तकों का भी पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण देखा जा सकता है। उदाहरण के लिये क्रोचे ने सौन्दर्य के स्थान पर अभिव्यंजना अथवा अन्तःप्रज्ञा की अभिव्यजंना जैसे शब्दों का प्रयोग किया है।[५] फ्रायडवादियों ने सौन्दर्य का अभिप्राय "इच्छा-पूर्ति" या उदात्तीकरण किया है। ह्वाइट ने इसे अर्थ देने के लिये "परानुभूति" का सहारा लिया है। लेकिन इन सारी व्याख्याओं में एक ही बात समान लगती है कि ये सारे ही विचारक अपने व्यक्तित्व से बाहर किसी मूल्य का उल्लेख न कर अपनी अनुभूतियों को नाम देने का प्रयास करते हुयें जान पड़ते हैं। अतः गोस्वामी तुलसी दास की निम्न पंक्तियां इस प्रसंग में बड़ी प्रासंगिक मालूम पड़ती हैं जिनमें उन्होंने व्यक्तिगत अनुभूतियों के पार्थक्य का कारण मानवीय भावना को बताया है-"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।"[६] यदि दार्शनिक रीति से विचार करें तो उपर्युक्त चिन्तकों के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे उस सौन्दर्यानुभूतियों का उल्लेख तो करते हैं जिन्हें कोई कलाकृति उनके मन में जागृत तो करती है लेकिन उनके मूल में अवस्थित कारणों की उपेक्षित कर जाते हैं। सत्य यह है कि पदार्थ जगत् की हमारी धारणा हमारे अपने स्वभाव, आग्रहों, दुराग्रहों से मिली जुली होती है। यथार्थ और पदार्थ के हमारे बोध के बीच एक बहुत बड़ी खाई सदैव विराजमान रहती है। इस सीमित यथार्थ को ही व्यक्त करने में हमारी भाषा चुक जाती है, पूर्ण यथार्थ को न तो हम अनुभूत ही कर सकते हैं और उसे अनुभूत कर भी लें तो उसे व्यक्त करने का कोई समर्थ साध हमारे पास नहीं है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो सौन्दर्य को "सुरुचि" के आधार पर समझने की कोशिश करते हैं किन्तु सुरुचि को यदि सौन्दर्य का आधार मान लें तो सौन्दर्यबोध का दायरा छोटा हो जायेगा। कारण कि सुरुचि कुछ शिक्षित तथा सुसंस्कृत लोगों का विशेषाधिकार मानी जाती है। स्वतः बहुसंख्यकों का सौन्दर्य से नाता टूटने का खतरा उपस्थित होता है। तथाकथित सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्तियों की रुचि सदा समान नहीं होती है, बल्कि रुचि-परिष्कार की क्रिया अनवरत चलती रहती है। यह युग-सापेक्ष होती है, और इस प्रकार इसको मापदण्ड मानकर सौन्दर्य की व्याख्या करना तर्क का तिरस्कार तथा अनुभव का अपमान करना होगा।

कुछ लोग सौन्दर्य को एक जीवन्त विकास के रूप में लेते हैं जिसे मात्र तर्क-वितर्क से समझना अथवा समझाना सम्भव नहीं है, क्योंकि तर्क द्वारा काट-छाँट तो सम्भव है परन्तु ऐसी शल्य-क्रिया से सौन्दर्य का अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है। किसी सुन्दर चित्र को देखकर यदि हम उस पर तर्क की तलवार चलाना शुरू कर दें और उस चित्र में प्रदर्शित गाय इत्यादि के सींग, कान, पूंछ इत्यादि के अनुपात उसकी जाति, सादृश्यता, रंग और दूध देने की सामर्थ्य इत्यादि के विषय में तर्क और विश्लेषण आरम्भ कर दें तो चित्रगत सौन्दर्य समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार किसी संगीत रचना को सुन कर उसके आधार राग, वादी, संवादी, थाट, श्रुति, अंतराल इत्यादि का विश्लेषण करने लगें तो वह संगीत रचना आनन्द का कारण न बन कर सिर धुनने का कारण बन जायेगी।

सौन्दर्य के विश्लेषण में दो तथ्यों को ध्यान में अवश्य रखना चाहिये-सन्दर्भित वस्तु का गुण और उसके द्वारा जागृत मनोभाव। यह भी स्पष्ट है कि मनोभाव की विद्यमानता से उस गुण का उद्घाटन होता है। ऐसी स्थिती में यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि चूंकि सौंन्दर्य की प्रतीति के लिये मनोभावों की अपेक्षा होती है, अतः मनोभावों के विश्लेषण से सौन्दर्य का विश्लेषण स्वयमेव हो जायेगा। यह वैसे ही होगा जैसे दर्पण में बिम्बित वस्तु-जगत् की व्याख्या के लिये दर्पण की संरचना की व्याख्या की जाए। यदि यह बात सत्य है कि वस्तु-जगत् का अस्तित्व दर्पण में प्रतिबिम्बित होने से है तो विज्ञान को अपनी बुनियादी धारणाओं में संशोधन करना पड़ेगा और इसी प्रकार सौन्दर्य-शास्त्री के लिये प्रेक्षक पर पड़ने वाले प्रभाव की सम्यक् प्रक्रिया के विश्लेषण की आवश्यकता होगी. सौन्दर्य-शास्त्री इस सीमा तक आकर रुक गये हैं। यह ठीक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैसे ही हुआ जैसे कारणों की खोजबीन किये बिना किसी रोग के लक्षणों का उल्लेख कर दिया जाए।

कुछ लोग सौन्दर्य का सम्बन्ध सुख या आनन्द से जोड़ते हैं। अतः सौन्दर्य का एक अनिवार्य परिणाम उनकी दृष्टि में आनन्द है। इसीलिये सौन्दर्य को वांछनीय माना जाता है। सन्त थॉमस ने कहा कि सौन्दर्य वह है जो देखे जाने पर सुखानुभूति कराये। यह सुखानुभूति प्रेक्षक को मिलती है लेकिन किस प्रक्रिया से वह सम्भव हुई ? सुखानुभूति केवल देखने भर से नहीं होती, सुखानुभूति इच्छा-पूर्ति से होती है। इच्छायें संयोग नहीं है: वे आदतों से नियमित होती हैं। मनुष्य की इच्छायें उसके अनुभवों का परिणाम होती हैं। सौन्दर्य की उसकी धारणा उसकी स्मृतियों एवं अनुभवों से निर्मित होती है।[७] यथा सौन्दर्य के नियामक तत्त्वों में काल, देश, व्यक्ति-परम्परा इत्यादि भी शामिल किये जाते हैं।

सौन्दर्य क्या है इस प्रश्न को कुछ लोग इस प्रकार रूपान्तरित करने की कोशिश करते हैं कि सौन्दर्य की पहिचान कौन कर सकता और कैसे। मानवीय सन्वेदना भी काल-सापेक्ष होती है। काल-चेतना किसी भी युग की रुचियों को प्रभावित करती है। वैज्ञानिक-विधि प्रमाणों का संग्रह और उनके आधारों पर किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन सौन्दर्य के विश्लेषण में सहायक नहीं हो सकता। क्योंकि सौन्दर्य में जहाँ वस्तुनिष्ठता से इन्कार नहीं किया जा सकता वहीं व्यक्तिनिष्ठता को भी चुनौती नहीं दी जा सकती है। रुचि और सुरुचि का भेद भी इस प्रसंग में विचारणीय है क्योंकि इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है-रुचि, जिसका तात्पर्य होता है गुणों के एक अनुक्रम के समक्ष वरीयता देना, और "सुरुचि' जिसका सम्बन्ध इस मान्यता से होता है कि कुछ गुण दूसरों की अपेक्षा अधिक श्लाघ्य होते हैं। वरीयताओं का आधार प्रेम को माना जा सकता है और प्रेम स्वयं मूल्यों के ऐसे अनुक्रम पर आधारित होता है जिसे चेतन अथवा अचेतन के रूप में स्वीकारा जाता है। सौन्दर्य की समस्या का स्त्रोत यहीं कहीं खोजा जा सकता है।[८]

सौन्दर्य की समस्या का विश्लेषण करने पर कुछ रुचिकर तथ्य उद्घाटित होते हैं। प्रथम महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि अधिकांश चिन्तकों ने 'सौन्दर्य" क्या है ?" इस प्रश्न के स्थान पर यह समझाने का प्रयास किया है कि सौन्दर्य किसके समान है। किसी ने सौन्दर्य को रुचि के साथ मिलाने का प्रयास किया है तो और किसी ने सौन्दर्य को सुख के साथ एकीकृत किया। ए. के. कुमार स्वामी जैसे लोग सौन्दर्य में लावण्य, भाव, रूप, भेद इत्यादि को समीकृत करते हैं।[९] वहीं रोजर फ्राई जैसे लोग सीमिट्री, काण्ट्रास्ट तथा हॉर्मनी को सौन्दर्य का घटक मानते हैं। ए. जे. एयर जैसे कलाविद्, "पसन्दगी" के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य खोजते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं।[10] सारांश यह कि सौन्दर्य अपने आप में क्या है यह प्रश्न गौण हो गया है और मुख्य प्रश्न यह बना दिया है कि मुझे (अमुक को) क्या चीज सुन्दर लगती है और कैसे ?

यदि सौन्दर्य के आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ घटकों की दृष्टि में मूल्यांकन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि प्रकृतिवादी आत्मगतता को अधिक महत्त्व देते हैं जबकि कलावादियों का जोर वस्तुगतता पर है। इसी प्रकार विभिन्न कलाओं के परिप्रेक्ष्य में भी सौन्दर्य का घटक-सन्तुलन एक सा नहीं है। उदाहरण के लिये चित्रकला-प्रेमी आकृति, रंग-आयाम तथा सन्तुलन इत्यादि को सौदर्न्य घटक मानते हैं किन्तु संगीत-प्रेमी के लिये उसी सौन्दर्य के घटक स्वरों की कोमलता, तीव्रता, राग की बढ़त, सुरीलापन इत्यादि हैं।

सौन्दर्य के तात्पर्य की समस्या को हल कर पाना आसान कार्य नहीं है क्योंकि इससे सम्बन्धित तथा इसमें समाहित समस्याओं की परिधि असीमित है। अत: जिन बिन्दुओं को सुलझाने का प्रयास होता है वे बचे हुये बिन्दुओं के सामने नगण्य लगते हैं। फिर भी सौन्दर्य के विषय में इस तथ्य को हम उजागर कर सकते हैं कि उस में आत्मगतता तथा वस्तुगतता दोनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इनमें से कोई भी अकेले सौन्दर्य निष्पादन में सक्षम नहीं है। प्रथम के बिना द्वितीय और द्वितीय के बिना प्रथम उसी प्रकार अपूर्ण है जिस प्रकार काण्ट की ज्ञान मीमांसा में प्रत्यक्ष और इन्द्रिय सन्वेदन। प्रकृति-सौन्दर्य हो अथवा कला-सौन्दर्य उन दोनों में ही अनुभूति के स्तर पर आत्मगतता और वस्तुगतता किसी न किसी अनुपात में प्रस्फुटित रहती है। गणित की भाषा में यदि कहा जाय तो यह कहना शायद पर्याप्त होगा कि सौन्दर्यानुभूति उपरियुक्त दोनों तत्त्वों का गुणनफल है जिस में से यदि एक भी शून्य हो तो परिणाम भी शून्य ही होगा।

निष्कर्ष में यह कहना सम्भवत: समीचीन होगा कि भले ही संगीत-कला में स्वर-कृति अथवा चित्रकला में अनुकृति, मूर्ति कला में उपयोगिता अथवा वास्तु-कला में उपभोक्ता का प्राधान्य हो किन्तु सौन्दर्य का सृजन आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ घटकों के सन्तुलन पर ही निर्भर है।

एस. के. त्रिपाठी (मूर्ति)

दर्शन विभाग
बुन्देलखण्ड महाविद्यालय,
(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय),
झांसी (उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य, के. सी. पान्डेय कृत, स्वतन्त्र कलाशास्त्र
२. द्रष्टव्य, थ्री क्लासिक्स ऑव ऐस्थेटिक्स
३. द्रष्टव्य, मरफीकृत, इन्ट्रोडक्शन टु सॉइकॉलजी
४. द्रष्टव्य, प्रणव भारती
५. प्राब्लम्स ऑव एस्थेटिक्स
६. तुलसी कृत रामचरित मानस
७. द्रष्टव्य, एडवर्ड ब्लो कृत, सॉइकीकल डिस्टैन्स
८. द्रष्टव्य, रामकीर्ति शुक्ल कृत, सौंदर्य का तात्पर्य
९. द्रष्टव्य, कुमार स्वामी कृत, ट्रान्सफॉरमेशन् इन् आर्ट
१०. द्रष्टव्य, गोविन्दचन्द्र पान्डेय कृत, मूल्यमीमांसा.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हक़ीकी सौन्दर्य-शास्त्र : पद्मावत

प्रकाश का एक अनन्त प्रसार है हमारे चारों तरफ़- ऊपर-नीचे, अंदर-बाहर—वृत्ताकार, चक्राकार, ब्रह्माण्डीय (Spherical)। इसका स्रोत कोई महार्घ परा बिंदु है जो असीम और अनन्त है लेकिन ब्रह्माण्ड की ससीमता और सान्तता में सघन होता हुआ सृष्टि रचना करता है। यह चेतना का आदि बीज और मूल है। यही आनंद का बृहदारण्य है जो धरती के भीतर जड़ीभूत है, और उसे चारों तरफ से आच्छादित किये हुये हैं। इसे हम देख नहीं पाते क्योंकि हम अपनी सीमित बुभुक्षाओं, अहंमन्य आकांक्षातृप्तियों के नागपाश में इस तरह फँसे हुये हैं कि जब तक इसमें घुटन नहीं महसूस होती, हमारी शिरायें प्रकाश की तरफ हरकत भी नहीं करतीं। इसे हम रहस्यमय मानने लगे हैं क्योंकि हम इससे अनभिज्ञ हैं, और कभी इसे 'रहस्यवाद' का नाम तो कभी 'तसव्वुफ़' की संज्ञा देते रहे हैं। पर है यह सृष्टिव्यापी प्रकाश— सृष्टि में प्रतिबिंबित, इसलिये ग्राह्य और गोचर। इसकी ग्राह्यता इंद्रियों को आप्तकाम बना देती है। इसलिये भूल से लोग इसे अतीन्द्रिय कहते हैं। हर दर्शन हमें 'पश्यन्ती' के उस द्वार तक पहुँचाता है जहाँ से सृष्टि की अद्भुतता का साक्षात्कार होता है, उसके आल्हाद का झरोखा खुलता है। यही सूफ़ियों का 'नूर' है। नूर या प्रकाश के बिना गोचर सृष्टि का रहस्य समझ में ही नहीं आ सकता। अंधेरे में रहस्य को टटोलना भटकना है, उजाले में या तीव्र प्रकाश (नूर) में उसे देखना उसके ताने-बाने को संपूर्णतः समझना है। सूफ़ियों के अनुसार यह तीव्र प्रकाश 'हक़' के पुंजीभूत ज्ञान का नहीं, सौंदर्य का है। और सृष्टि का तान-बाना इसी सौंदर्य के प्रति प्रेमाकुलता और तादात्म्य की समाधि का है - एक ऐसी सजग समाधि जो जाग्रत है, सृष्टि की ओर सन्मुख है और निरन्तर उस कालातीत प्रकाश के सौंदर्य का पान कर रही है जो सृष्टि के कण कण में बिखरा है, पर उससे परे भी है। यही सूफ़ीमत का हक़ीकी सौंदर्य-दर्शन है। यदि वह सृष्टि में बिछ कर चुक जाय तो वह असीम नहीं रह जायगा। और सीमा हमें सब जगह खटकती है। हम निर्बन्ध, अबाध, अमेय स्वाधीनता चाहते

परामर्श (हिंदी), वर्ष १०, अंक ३, जून, १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं (बक़ा या मुक्ति)— यह स्वाधीनता प्रकाश में है, नूर के सौंदर्यपरक साक्षात्कार में। मनुष्य अनादिकाल से अल्लाह के इस जमाल से छड़ा रहा है। उसका सारा तप इस सौंदर्य साक्षात्कार से प्राप्त आल्हाद के लिए ही उदग्रीव रहा। प्रकाश का सौन्दर्य या नूर-ए-हुस्न उस अमृततत्त्व की ओर ले जाता है जो मनुष्य मात्र के हृदयतल ('कल्ब') में है। उसी मानसरोवर की जलराशि के हिलने पर वह 'पद्मावती' हृदयपटल पर प्रतिबिम्बित होती है जो रूप की राशि नहीं, नूर की रूपराशि है। इसलिए इसके प्रति प्रेम का उदय मानवी प्रेम में सीमित नहीं किया जा सकता, उसे इश्क-हक़ीकी तक अनुभव करना पड़ता है। बुद्धि की खोज से हम यह कह सकते हैं कि जायसी सूफी नहीं थे पर क्या हम किसी तर्क से यह कह सकते हैं कि पद्मावत में अभिव्यक्त सौंदर्य-प्रेम मधुररस की साधना नहीं है, बल्कि 'बौद्धिक सघनता' से प्राप्त श्रृंगाररस है? वस्तुतः अपने युग की मानसिकता को मध्यकाल पर थोपना उसकी उपलब्धि को अनदेखा करना है और उस काल की प्रतिमा को छोटा करना है। आधुनिक होने मात्र से कोई अनुभव समग्र नहीं हो जाता और बौद्धिक सघनता प्राप्त कर लेने से ही अनुभव अद्वितीय नहीं हो जाता। संपूर्ण पूर्व मध्यकाल प्रेम की उस अलौकिक मूर्तता के लिए बेचैन था जो सीमाबद्ध प्रेम को बहुत खींचने और उस पर बेहद रीझने पर भी नहीं मिलती। सारे भक्तों के जीवन में किसी रमणी से सम्बन्धित किंवदन्तियाँ इसी बात की सूचना देती हैं। रूप भी उपासना का विषय हो सकता है, उसमें अकूत चैतन्य का प्रकाश छिपा हुआ है और इस चेतन साक्षात्कार का आनन्द जीवन और जगत् के अनुभवों को अपने में सरोबोर कर डालता है - यह मध्यकालीन भक्तों के हृदय की तड़पन बना रहा। सूफी साधकों में यह तड़पन अतिरिक्त विद्युतशक्ति की ऊर्जा लिये हुये है। इसकी वजह 'तसव्वुफ़' दर्शन में एकेश्वरवाद पर अद्वैतवाद को वरीयता नहीं है, अनलहक़ नहीं है, बल्कि सौंदर्य को वह कलंक है जो वेद और वेदान्त, पुराण और कुरान, आगम-तंत्र सबमें अनुपस्थित या क्षीण है। उपनिषद् प्रकाश का आख्यान प्रस्तुत करते हैं, उसका सौंदर्य नहीं। पुराण असीम चैतन्य को अवतरित करते हैं चरित और लीला की प्रधानता में, सौंदर्य के प्रसार में नहीं। कृष्णभक्ति ने अवश्य सौंदर्योपासना का वरण किया, पर इसे इन्कार नहीं किय जा सकता कि यह भारतीय मनस् पर सूफी प्रभाव ही था, स्वयं भारत के अध्यात्म का उतना प्रतिफलन नहीं। यह भारतीय चेतना की एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक उपलब्धि थी, जिसमें फारसी रंग गहराया और घुल गया। दिनकर जी ने साफ कहा है कि 'सूफियों ने इश्कमजाज़ी को इश्क हक़ीकी का सोपान कहा था। वे परमात्मा को परम सौन्दर्य (परिणामतः प्रमिका) के रूप में भजते थे।.....

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमात्मा के साथ पतिपत्नी का संबंध जोड़ने के पीछे सूफियों का प्रभाव था, इस अनुमान को माने बिना चल नहीं सकता है।"[1]

जायसी के पद्मावत में उस इश्क़ का ही आख्यान है जो 'हुस्न' से उपजता है; उसमें न लीला है, न चरित, शुद्ध हुस्नपरस्ती का केन्द्रीय व्यापार है। इसी नाभिकेन्द्र के चारों ओर पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की कथायें चक्कर काटती हैं। प्रतिपाद्य सौंदर्य की लोक-अलोक-व्यापिनी महिमा है-चाहे अलाउद्दीन का लोलुपमन हो चाहे रत्नसेन का सर्वत्यागी योगी चित्त। जायसी की सौन्दर्योपासना में जो विशेष बात है वह है उसकी अलौकिक दीप्ति की अभिव्यंजना। कृष्णभक्ति काव्य को नखशिख-वर्णन की परम्परा ने इतना जकड़ लिया कि कृष्ण के सौन्दर्य की अलौकिकता तिरोहित सी होने लगी, रह गई लीलायें, या बाद का नायिका-नायक भेद। सूफ़ियों की इस विशिष्टता को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लक्षित किया है, जो अन्य इतिहासकारों और आलोचकों से अलक्षित रह गई। वे कहते हैं-- "तीन प्रकार के भक्तों में इस साधना ने तीन रूपों में अपने को प्रकट किया है। निर्गुणमार्गी भक्तों में, सूफी साधकों में और सगुणमार्गी भक्तों में"...।[2] जाहिर है कि आचार्य द्विवेदी सूफी-साधकों में मधुररस को निर्गुणमार्गी तथा सगुणमार्गी दोनों भक्तों से अलग प्रकार का मानते हैं।

इस अवधारणा के मूल में सौन्दर्योपासना का वह रूप है जो न सगुण में अवतरित होकर पूरा मानवीय बन जाता है, और न त्रिगुणातीत होकर पूरा निर्गुण बना रहता है। जायसी की सौन्दर्यसाधना तीसरे प्रकार की है, इसीलिये वह सगुण की तरह एकदम "मजाज" का भ्रम नहीं पैदा करती और न निर्गुण की तरह 'हक़' की परात्परता का बोध उत्क्षिप्त किये रहती है। वह हकीक़त को मजाजी बनाती है, परात्पर सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित करती है। 'रूह' को कल्ब में प्रतिबिम्बित करके उसे ठोस आकार और गुणवत्ता से मण्डित करती है। पद्मावती सौन्दर्य का यही सन्धिस्थल है। इसलिये जायसी के सौन्दर्यशास्त्र को समझने के लिए 'परा' या 'परात्पर' शब्द की अपरिहार्यता है। Transcendental aesthetics तो पश्चिम के द्विधाग्रस्त स्वभाव का परिणाम है। मध्यपूर्व एशिया या भारत में परात्पर विश्वसत्ता में घुलामिला रहा है। इसलिये यहाँ के सौन्दर्य-दर्शन में प्रकृतिवादी और परात्परवादी (naturalist and transcendentalist) विचार-धाराओं की द्विधा स्थिति नहीं रही। सौन्दर्य का सम्पूर्ण, समग्र तथा अखण्ड अनुभव प्रकृति को शक्ति-रूप में और शक्ति को प्रकृति-रूप में देखता रहा है। सौन्दर्य की यह वह शारदीया प्रतिमा है जो जीवन जगत् के अंधकार में उभर कर न केवल असुर-संग्राम को सक्रिय करती है, बल्कि हृदय के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विमोचन का द्वार भी खोलती है। नूर के इस सौन्दर्य का साक्षात्कार जायसी ने अपने प्रबन्ध पद्मावत में किया है। वस्तुतः यह साक्षात्कार ताल के जिस आल्हाद में, स्वरों के जिस उद्दाम गगनभेदी पुकार में–संगीत के समारोह में–रूपायित होता है वह उसकी अनुभूति का सही वाहक होता है। इसीलिए इस्लाम की मनाही के बावजूद सूफी संगीतप्रेमी थे। 'कव्वाल' हुस्न के जमाल का असली मर्मी है। कथा-वर्णन की मसनवी शैली में उतर कर निश्चय ही 'हुस्न' ने गंभीरता धारण करली, किन्तु यह गंभीर अंतर्मंथन भी बौद्धिक सघनता के मूड में पढ़े गये पद्मावत–वाचन से उतना नहीं छाना जा सकता जितना रासबन्ध परम्परा की मसनवी–गायकी से। पता नहीं इस गायकी का कोई स्वरूप मध्यकाल में था या नहीं जैसा कि आल्हा का है, या राम चरित मानस का अब तक है। आलिम (इल्म) और मारूफ़ (मारिफ़त) में फ़र्क है। मंसूर हल्लाज का कहना है कि ईश्वर को इल्म के द्वारा नहीं पहचाना जा सकता। "एक चीज की हकीकत तक पहुँच बगैर आप कह सकते हैं कि वह चीज मुझे मालूम है या मैं उसको जानता हूं। लेकिन मारिफ़त उसको नहीं कहते। सूफ़ियों की दृष्टि में हकीकत तक पहुँचने का नाम मारिफ़त है। ऊपर ऊपर चीज को देखना और मालूम करना इल्म है।"[३] "मारिफ़त का पक्षी बनकर ही इस मार्ग की पहाड़ियों और चोटियों की यात्रा की जा सकती है।"[४] और स्पष्ट कहा गया है कि "जो कुछ उसे दिया जा रहा था (नूर) प्रकाश की शक्ल में था। वह एक (नूर) प्रकाश से दूसरे (नूर) प्रकाश की ओर था।"[५] जब यह नूर सविशेष होता है तब सौन्दर्य बनकर प्रतिभासित होता है। प्रो. श्याम मनोहर पाण्डेय की टिप्पणी है "इसका अर्थ है कि हल्लाज का हक़ या खुदा सर्वातीत होते हुए भी विशेषताओं से युक्त है।.... इसीलिए सम्भवतः यह विरोधाभास दिखाई पड़ता है कि हल्लाज का हक़ प्रायः अमूर्त होते हुए भी कभी कभी मूर्त प्रतीत होता है।"[६]

अमूर्त–मूर्त सन्धिस्थल पर खड़ा है जायसी की पद्मावती का सौन्दर्य। अमूर्त को मूर्त द्वारा बिम्बित करना जायसी का उद्देश्य नहीं था, वरन् मूर्त द्वारा प्रतिबिम्बित करना था। इसमें, एक तरह से, मूर्त के भीतर से अमूर्त का संकेत देना होता है या अमूर्त द्वारा मूर्त का आप्लावित और अतिक्रांत होना दिखाया जाता है। दोनों ही स्थितियों में बिम्ब की अपेक्षा प्रतीक का आश्रय मध्यकाल की इस अपरूप सौन्दर्य–व्यंजना के लिए अनिवार्य हो उठा। इसके भूमिका स्वरूप पद्मावती के पिता का नाम गंधर्वसेन और माता का चम्पावती होना सटीक बैठता है। पार्थिव रूप आपार्थिकता का सङ्केत तभी दे पाता है जब उस में गंधर्व लोक की सूक्ष्मता हो। और पद्म की सी दिव्य सुगंध फैलाने के पूर्व शरीर–चेतना का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चम्पा जैसा स्वर्णगंधा होना भी समीचीन ही है। यह प्रतीकात्मकता रत्नसेन हीरामन आदि के द्वारा पल्लवित होती है। अच्छा होता यदि प्रतीक रूपकतत्व में उसी तरह निभाया जाता जैसे कामायनी में। किन्तु कथा के पूर्ण ऐतिहासिक निर्वाह के कारण, शैतान आदि की भूमिका पूरी करने के कारण, पद्मावत को कथा का रूपक-तत्त्व अन्त तक निभाया नहीं जा सका। फिर भी प्रतीकात्मक रूप में पात्रता विश्वसनीय है। सिंहलद्वीप सौन्दर्य की प्रस्तावना है, उसका उचित परिवेश और धाम। पक्षी तक उसी सौन्दर्य की उत्कट आस्पृहा से बेचैन हैं–

भोर होत बोलहिं चुहचूही। बोलहिं पाँडुक 'एकै तूही'॥
सारौं सुआ जो रहचह करहीं। कुरहिं परेवा औ करबरहीं॥
'पीव पीव' कर लाग पपीहा। 'तुही तुही' कर गडुरी जीहा।' ७

सिंहलद्वीप की पनिहारिनें तक पद्मिनी नायिकायें हैं–'पदुमगंध तिन्ह अंग बसाहीं।' कवि कहता है :– 'जेहि के अस पनिहारी सो रानी केहि रूप॥'

इस विशिष्ट स्थान में स्थल, जल, पल्लव, पुष्प सभी विशिष्ट हैं। नीर और क्षीर की दो नदियाँ हैं इसके गढ़ में। विवेक को प्रतीकात्मता सुस्पष्ट है। तथा मोतियों के चूर से निर्मित एक जलकुंड है। इसका पानी अमृत स्वरूप है, कीचड़ कपूर स्वरूप। और इसको पीकर मनुष्य का अवृद्ध रह जाना स्वाभाविक है। शाश्वत सौन्दर्य की विशेषता ही है शाश्वत यौवन। इस शरीर को नष्ट करती है व्याधियाँ। वहाँ कचनवृक्ष रूपी कल्पतरू फल खाकर ये समूल नष्ट हो जाती हैं। इस 'फल' के आस्वादन के लिए आदम और हौवा बनने की जगह राजा को भी 'जोगी' बनना पड़ता है—

राजा भए भिखारी, सुनिव वह अमृत भोग।
जेइ पावा सो अमर भा, ना किछु व्याधि न रोग॥८

इन जराव्यधि-रहित अमृतकुंड में पद्मावती है। सिंहलद्वीप जैसे स्थान में वह ज्योति प्रज्वलित होती है– 'जा अस दिया बरा तेहि ठाऊँ।'

सूर्य की किरणों से कढ़ी हुई यह सूर्यपद्मा उसकी कलाओं से बढ़कर है, अँधेरे में भी अपनी ज्योति सहित उदित रहती है। और रूपमूर्ति बनकर पूर्णचन्द्र को भी क्षीण कर डालती है। वह निष्कलंक दूज की चन्द्रप्रभा है। दोनों ज्योतियों के संगम के अमृतजल से उपजी पद्मावती की पद्मगंध से सारा जग बिंध जाता है। यह चाँद का भूमि पर उगना और उससे आकाश का छिपना है। रूप में अरूप का अवतरण जायसी की प्रिय शैली रही है :

... . पदुमावती कन्या औतरी॥
जानौ सूर किरन हुति काढ़ी। सुरज कला घाटि, वह बाढ़ी॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भा निसि महँ दिन कर परकासू । तब उजियार भएउ कबिलासू ॥
इते रूप मूरति परगटी । पूनो ससी छीन होई घटी ॥
घटतहि घटत अमावस भई । दिन दुइ लाज गाड़ि भुई गई ॥
पुनि जो उठी दुइज होई नई । निहकलंक ससि बिधि निरमई ॥
पदुम गंध बेधा जग बासा । भौंर पतंग भए चहुँ पासा ।[९]

इस ज्योति का प्रथम पार्थिव साक्षात्कार गंध के द्वारा ही होता है, क्योंकि प्रकाश का साक्षात्कार करने के लिए जिस अंतचंक्षु की जरूरत है वह रत्नसेन की साधना के बाद ही मिलता है। देश देश के वर आते हैं, पर गंधर्वसेन की आंख के नीचे नहीं उतरते। इधर वह पुनीत सौंदर्यमादन धरती पर उतरने को तैयार है—

'जीवन मोर भयउ जस गगा। देह देह हम्ह लाग अनगा ॥[१०]

सौंदर्य का प्रमुख तत्त्व है मादन भाव। यही आनंद की सांद्र प्रस्तावना है। किन्तु इस मादनता को साधारण मादकता से एकाकार न कर दिया जाय इसलिए जायसी ने उस अद्भुत सौंदर्य की 'शक्ति' का स्फुरण किया है— खास शक्ति की ऊर्जा के रूप में, आकर्षण— शक्ति तक ही सीमित नहीं। सौंदर्य शक्तिशाली तत्त्व भी है मात्र मादकतापूर्ण नहीं,— यह उसकी ज्योतिस्वरूपता, विद्युत्कला की शक्ति के कारण है। पद्मावती के नेत्र, दर्शन, नाभि आदि के वर्णन में यह द्रष्टव्य है। नूर स्वरूपा सौंदर्य को यद्यपि 'नखशिख' शैली के अंतर्गत उपमान-परंपरा में उतारा गया है किन्तु उपमानों की अयोग्यता उस अमुक्त सौंदर्य के लिए स्वतः सिद्ध है—

बरनि सिंगार न जानेऊँ नखशिख जैस अभाग ।
तस जग किछुइ पाएऊँ, उपमा देऊँ आहि जाग ॥[११]

वह अनुपमेय है, क्योंकि वही मूल बिंब है, सारा जगत् उसका प्रतिबिम्ब। इस प्रतिबिम्बवाद के कारण ही वस्तुनिष्ठ उपमान योजना की जरूरत पड़ी, अन्यथा सौंदर्य का प्रभाव व्यंजित करने के लिए बिम्बगठनयुक्त शैलियाँ ज्यादा विधेय हैं। सारी सृष्टि उसके 'रूप' से ओतप्रोत है इसलिए मात्र रूपातीत स्थिति में उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह ज्योति होते हुए भी आकारहीन नहीं है, क्योंकि सृष्टि उसी ने उत्पन्न की है अपने प्रतिबिम्ब स्वरूप। और सृष्टि आकृतिमूला है, इसलिए वह नूर आकृतिमूलक उपमान भी धारण कर सकता है, बशर्ते कि ये उपमान उसे खाली न कर दें, उसकी शक्तिसत्ता का अतिरिक्त प्रपात बनाये रखें या उसकी मधुरिमा का अतिरिक्त स्वाद छिपाये रखें। उसका रहस्य अमूर्तता में नहीं, सृष्टि-मूर्तता में है, प्रतिबिम्बित बिम्बों की अतिरिक्त आभा में और उनमें प्रतिच्छायित शक्ति के स्रोतों में, जिससे कि पंचमहाभूत एक दिव्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऊर्जा से भर उठते हैं। इसलिये जायसी ने पद्मावती के हर अंग के वर्णन में चौपाइयों के बीच, या अधिकांशत: दोहों में उस उस अंग की सरूपता की दिव्यता का न केवल संकेत दिया है बल्कि खुलकर स्थापन किया है। राधाकृष्ण के नख-शिख वर्णन से इसीलिए पद्मावती का 'नखशिख' (खण्ड) ज्यादा व्यंजक है। मजाजी और हक़ीकी का मिलनबिंदु उसमें ज्यादा महसूस होता है, क्योंकि वह उत्कीर्ण है। नहीं तो नागमती और पद्मावती के आकृतिमूलक सौन्दर्य में कोई विशेष अंतर नहीं रहा होगा। नागमती को परम रूपवती होने का एहसास ही नहीं गर्व है। किन्तु रूप कब नागपाश की तरह घातक होता है, कब पद्मनाल की तरह तारक यह नागमती और पद्मावती के बीच अंतर, बिष और अमृत के प्रभाव के बीच विवेक, उन्माद और मादन, मूर्च्छा और समाधि, जड़ता और चैतन्य, अवमानवीय नागगंध और अतिमानवीय पद्मगंध के अनुभव से सिद्ध हो जाता है। नागमती का जो भी संस्कार होता है अंत में होता है। 'पारसरूप' की सार्थकता उसमें नहीं ही है। इसलिए 'नागमती सुआ संवाद खण्ड' में 'नागमती रूपवन्ती रानी सब रनिवास पाट परधानी' के रूपगर्व पर हीरामन तोता हँसा!! वह रूप में अभिव्यक्त गुणात्मक भेद को जानता है। बगुला और हंस यद्यपि वर्णसाम्य रखते हैं, कुछ कुछ रूपसाम्य भी लेकिन जब तक मनुष्य हंस नहीं देखता तभी तक बगुला को हंस कहता है। जब तक मनुष्य नूरानी सौंदर्य नहीं देखता तभी तक गर्वान्ध रूप असली सौन्दर्य समझता है। जबकि हक़ीकत कुछ और है :

> सुमिरि रूप पद्मावति केरा। हँसा सुआ, रानी मुख हेरा।
> जेहि सरवर महँ हंस न आवा। बगुला तेहि सर हँस कहावा॥
> ....
> का पूछहु सिंघल के नारी। दिनहिं न पूजै निसि अँधियारी।
> पुहुप सुवास सो तिन्ह के काया। जहाँ माथ का बरनौं पाया॥[१२]

नागमती के विपरीत पद्मावती है — गुणात्मक भेद तो है ही, मानव चेतना पर अपने रूपान्तरकारी प्रभाव के कारण ही वह अनमोल है। उसके पांव का स्पर्श करके रूप निर्मल होता है। वस्तुत: सारा रूप उसी रूप को देखकर अपने अस्तित्व को पाता है, किन्तु उसकी तरह निर्मल नहीं होता, विकाररहित, मलरहित करने की सामर्थ्य नहीं होती जागतिक रूप में, मजाजी सौन्दर्य में। मनुष्य-जीवन के सारे ताप पद्मावती के तन के मलयवास से शीतल हो जाते हैं। पुनीतीकरण (purification) का यह रूपान्तरकारी गुण अन्यत्र संभव नहीं। वस्तुत: पाप और कुछ नहीं आत्मा की पवित्रता (पुण्य) का क्षय है। जहाँ पद्मावती देखती है वहाँ प्रकाश हो जाता है— 'मैं तहँ ओप जहाँ जेइ देखा।' पारस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप की यह विशेषता है कि जो नेत्र उसे देख सकते हैं वे कमलवत् कल्मषहीन (अपायविद्ध) हो जाते हैं, जहाँ वह पद्मावती विहार करती है उस मानसरोवर के नीर को देखकर मानवशरीर निर्मल हो जाता है। और इस निर्मलता में कमलनेत्रद्वारा उस 'दसन जोति नग हीर' की हँसी देखकर मन हस हो जाता है। वस्तुतः पारसरूप मनुष्य को इसी देह में परमहंस बना देता है–

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।।
\- -
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर।।[१३]

इसी अर्थ में पद्मावती का सौन्दर्य मजाजी नहीं हक़ीकी है, और जायसी का समस्त नखशिख-वर्णन बीच बीच में उस हक़ीकी सौन्दर्य का शास्त्र-वाक्य बन जाता है। कनकदंड रूपी भुजाओं का वर्णन करते हुये जब वे कमलहथेलियों के वर्णन पर उतरते हैं तो मानों उन हथेलियों में मनुष्यों का कामनारक्त प्रभातरवि की तरह टपकन से भरा खिलता है, पर नितान्त आप्तकाम- 'जूड़ी', बेहद शांत। 'हक़' की वे रक्तांगुलियाँ हृदय निकाल कर अपने हाथ पर रख लेती हैं। उसके द्वारा हस्तगत किये जाने पर जग निष्प्राण हो जाता है, क्योंकि जीव उसकी मुट्ठी में बंध जाता है। यह रक्तकमल के बीच सम्पूर्ण जीवाकांक्षा या जगप्रक्रिया का संपुटित हो जाना है–

कनक दंड दुइ भुजा कलाई। जानौ फेरि कुंदेरे भाई।।
कदलि गाभ कै जानौ जोरी। औ राती ओहि कँवल हथोरी।।
जानो रक्त हथोरी बूड़ी। रवि परभात तात, वै जूड़ी।।
हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा। रुहिर भरी अँगुरी तेहि साथा।।
औ पहिरें नग जरी अँगूठी। जग बिनु जीउ, जीउ ओहि मूठी।।[१४],

रक्त और रुधिर शब्दों की आवृत्ति केवल फ़ारसी मानसिकता के कारण नहीं है बल्कि इसलिए भी कि अपार्थिव सौन्दर्य नितांत पार्थिवज्योति है, प्रभातसूर्य की तरह, किन्तु शीतल और प्रभुतासंपन्न। और यह प्रभुता हमारी आतमा पर ही नहीं, मांस-मज्जा भेदती हुई हमारे रक्त पर भी शासन करती है– रक्त की सारी आकांक्षाओं पर। इसी अर्थ में कवि उस हक़ीकी सौन्दर्य के लिए कह उठा– 'जीव ओहि मूठी।।' जिसके ललाट में भाग्य चमक उठा हो वही इस हक़ीकी सौन्दर्य का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकता है। जिस पद्मावती के पायल के बीच चन्द्र और सूर्य चूर्ण होकर झनकार करते हों, जिसके अनवट बिछियों में नक्षत्र और तारे शरण खोजते हों, उसके पाद-पद्मों तक कौन पहुँच

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकता है ? इसलिए सारा रूपवर्णन करने के बाद उस ब्रह्माण्ड व्यापी हकीकी नूर के आगे जायसी का कवि निरस्त हो जाता है–

माथे भाग कोउ अस पावा । चरन कँवल लेई सीस चढ़ावा ।।
चूरा चाँद सुरुज उजियारा । पायल बीच करहिं इनकारा ।।
अनवट बिछिया नखत तराई । पहुँचि सकै को पायँन ताई ।।[१५]

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद (उ. प्र.)

मीरा श्रीवास्तव

टिप्पणियाँ

१. संस्कृति के चार अध्याय, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३५०
२. मध्यकालीन धर्मसाधना, (सूफीसाधकों की मधुर साधना) प्रथम संस्करण पृ. २०५
३. सूफी मसूर हल्लाज की बानी, (किताबुत्तवासीन अनु. प्रो. श्याम मनोहर पाण्डेय, साहित्य भवन प्रा. लि. इलाहाबाद, पृष्ठ ७१-७६
४. वहीं, पृष्ठ २५ (बिंदु का चिराग–२१)
५. वहीं, पृष्ठ २५ (वही–२०)
६. वहीं, भूमिका, पृष्ठ १६
७. जायसी ग्रंथावली, सं. पं. राम चन्द्र शुक्ल, (सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड) पृष्ठ १०
८. वहीं, पृष्ठ १५
९. वहीं, जन्मखण्ड, पृष्ठ १८
१०. वहीं, पृष्ठ २०
११. वहीं, पृष्ठ ४४
१२. वहीं, नागमती–सुआ–संवाद खण्ड, पृष्ठ ३१
१३. वहीं, मानसरोदक खण्ड, पृष्ठ २३
१४. वहीं, नखशिख खण्ड, पृष्ठ ४२
१५. वहीं, पृष्ठ ४४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद : एक मूल्यांकन

मानवतावाद धर्म का वह रूप है जिसके अनुसार बिना मानवेतर श्रेष्ठतर सत्ता की सहायता के मानव अपने ही प्रयास से अपना सर्वोच्च विकास कर सकता है। यह मानव के सम्मान और अधिकार से सम्बन्धित सिद्धान्त है जो उसके (मानव के) कल्याण, सर्वतोमुखी विकास एवं सामाजिक जीवन के लिए समुचित वातावरण की स्थापना में विश्वास करता है।[1] "मानव का धर्म लोक-सेवा और लोक-कल्याण की भावना से नियन्त्रित होकर कर्म करने में है। अनुभवातीत स्रोतों से नियंत्रित होने की जो कल्पना धर्म में मिलती है, उसे मानवतावाद स्वीकार नहीं करता, जो भी प्रेरणा मानव-जीवन की व्यवस्था के लिए आवश्यक है उसे मनुष्य अपने अन्दर से ही प्राप्त करता है।[2] यों तो मानवतावाद अति प्राचीन मत है। चीन भारत, यूनान आदि के विचारों में मानवतावाद पाया जाता है, परन्तु पुनर्जागरण काल में मानवतावाद विशेष रूप से उभर कर सामने आया। इटली में १४ वीं व १५ वीं शताब्दी में मानवतावाद का नारा लगाया गया। एक मानवतावादी विश्व-धर्म की चर्चा बीसवीं शताब्दी में विशेष रूप से होने लगी है। इस शताब्दी में ईसाई विचारकों ने ऐहिक सुख पर अधिक जोर दिया। परहित एवं मानव-दुःख निवारण को धार्मिक पूजा का आवश्यक एवं सच्चा अंग माना। इस मत को १९ वीं शताब्दी में काम्ते (१७९८ से १८५७) और जान स्टुअर्ट मिल (१८०६ से १८७३) ने सुधारवाद की संज्ञा दी थी। इससे प्रभावित होकर बीसवीं शताब्दी में विलियम जेम्स और अलबर्ट श्वाईत्सर ने मानव-दुःखों के निवारण एवं मानव हितों के सम्वर्द्धन को धार्मिकता का मुख्य अंग माना। फिर जी. बी. फास्टर ने मानव-हितों को जीवन का परम लक्ष्य माना।[3] आधिदैविकता-विरोधी मानवतावाद उग्र रूप से १९३३ के मई माह के घोषणा पत्र से प्रारंभ होता है। सम्भवतः इसी मानवतावादी घोषणा पत्र से प्रभावित होकर जान ड्यूवी ने १९३४ में एक कामन फेथ नामक पुस्तक में प्रकृतिवादी मानवतावाद को प्रस्तुत किया। फिर ड्यूवी से प्रेरणा प्राप्त करके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कार्लिस लामोण्ट ने मानवतावाद की विस्तार से व्याख्या की। पश्चिम की इस वैचारिक क्रान्ति का प्रभाव भारतीय राष्ट्रवादी विचारकों पर भी भरपूर पड़ा।[४] उनके विचारों में मानवतावाद की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। आधि-दैविकता-विरोधी मानवतावाद में प्रकृतिवादी मानवतावाद (जॉन ड्युवी, लामोण्ट आदि), वैज्ञानिक अथवा प्रजातान्त्रिक मानवतावाद (प. नेहरू), जड़वादी अथवा एकाधिकारवादी मानवतावाद (साम्यवाद) को शामिल किया जाता है। इस मानवतावाद में दैवी सत्ता का विरोध, प्रकृति के साथ सामंजस्य एवं एक-रूपता, विज्ञान के प्रति मोह, बौद्धिकता का उदय, धार्मिक मूल्यों में शंका एवं अविश्वास, रूढ़िवादिता का विरोध, मानव कल्याण को सर्वोपरि मानना, मानव प्रयत्न में (कर्म में) भरपूर विश्वास आदि तथ्यों के दर्शन होते हैं।

(२)

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी प. जवाहरलाल नेहरू मानवता के सजग प्रहरी और जनता के सच्चे सेवक थे। जैसा कि प्रसिद्ध लेखक नारमन कजिन्स्क ने कहा है, "वह एक व्यक्ति नहीं थे, बल्कि व्यक्तियों के हुजूम थे। आप एक साथ उन में एक राष्ट्रीय नायक, राजनीतिक, दार्शनिक, इतिहासकार, लेखक-शिक्षक का रूप देख सकते हैं।"[५] नेहरू के विचार पाश्चात्य सभ्यता से काफी प्रभावित थे। १९१४ से १९१८ के बाद पश्चिम के सामाजिक विचारों में जो क्रान्ति हुई उसका प्रभाव नेहरू-दर्शन पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। बुद्धिवाद, भौतिकवाद, पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति क्षोभ, साम्राज्यवादी नीति के प्रति आक्रोश, धार्मिक मूल्यों के प्रति शंका, समाजवादी विचारधारा, साम्यवाद, विज्ञान का बढ़ता महत्त्व, मानवीय मूल्यों में विश्वास, राज्य का जनतांत्रिक ढाँचा आदि से सम्बन्धित जो भी विचार पश्चिम में उदित हुए उन सबका समन्वय हम नेहरू-दर्शन में देख सकते हैं। नेहरू के पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होने के कारण गांधी जो उन्हें "भारतीय चमड़ी में अंग्रेज" कहा करते थे।[६] एक बार उन्होंने (गांधी जी ने) कहा था, "सचमुच वह अपने विचारों एवं साज-सज्जा में भार, तीय की अपेक्षा अंग्रेज अधिक है। वे भारतीयों की अपेक्षा अंग्रेजों के साथ आसानी से समायोजन कर लेते हैं।"[७] लेकिन इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी श्रद्धा नहीं थी। वे भारतीयता के सच्चे पुजारी थे और अन्तरराष्ट्रीय जगत् की तमाम आधुनिकता के बीच भारत के स्वर्णिम भविष्य की नींव रखना चाहते थे। वे सच्चे राष्ट्रवादी थे। उनकी राष्ट्रीयता स्वस्थ अन्तरराष्ट्रीयतावाद के धरातल पर टिकी थी।[८]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उन्होंने समग्र मानव जाति के हित को सोचा और इन्सानियत के स्तर को उंचा उठाया। इस प्रकार उन्होंने पूर्व और पश्चिम को सभ्यताओं का समायोजन मानवतावाद के सन्दर्भ में किया।

नेहरू की दृष्टि में इस युग के दो सर्वोच्च आदर्श हैं : मानवतावाद और वैज्ञानिक परम्परा।[९] इन दोनों आदर्शों का समन्वयात्मक रूप नेहरू के वैज्ञानिक मानवतावाद के रूप में उभर कर सामने आता है।[१०] उनकी दृष्टि में मानव का विकास भौतिक जड़ की विकासात्मक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप होता है। मानवता प्रकृति की देन है। वह प्रकृति के विकास का मुख्य साधन भी है। प्रकृति के साथ एकरूपता स्थापित करके, बिना अलौकिकता की शरण लिए, मानव अपनी बुद्धि के बल पर अपनी प्रगति कर सकता है।[११] कल्पना मानव मात्र में निहित अवश्य है लेकिन रचनात्मक होने के लिए यथार्थता की शरण लेनी चाहिए। प्रकृति की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक विधि एक मात्र विश्वसनीय विधि है। इसलिए मानवतावादी को विज्ञानपोषी होना जरूरी है। ड्यूवी की तरह नेहरू का मत था कि चूंकि प्रकृति एक ही है और मानव शक्ति से निस्सृत विज्ञान-विधि भी एक ही है और फिर चूंकि इस प्रकृति पर आधिपत्य सभी मानवों की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के सहयोग से प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए वैज्ञानिक मानवतावाद विश्व-समाज की कल्पना करता है।

रचनात्मक कल्पना स्वतंत्र मानव की स्वतंत्र इच्छा का स्फुरण है। बाहरी दबाव तथा अन्तर्द्वन्द एव आन्तरिक संघर्ष के रहने पर कल्पना की रचनात्मकता थोथी हो जाती है। अतः स्वतंत्र मानव को अपने स्वतंत्र निर्णय से प्राप्त आदर्श से उत्प्रेरित होकर इस विश्व को स्वतंत्र मानव-समाज का कर्मक्षेत्र बनाना चाहिए। इस प्रकार नेहरू जनतंत्र के पोषक हैं और विश्वव्यापी जनतंत्रों के संघ की कल्पना करते हैं। भारत में जनतंत्र के समर्थक एवं इसके विकास के लिए तकनीक और विज्ञान द्वारा राष्ट्रीय औद्योगीकरण के मुख्य कर्णधार माने जाते हैं। इस दृष्टि से इनके समाज-दर्शन को प्रजातांत्रिक मानवतावाद की भी संज्ञा दी जा सकती है।

कामटे की तरह नेहरू का भी कहना है कि मानवता ही ईश्वर है और समाज-सेवा इसका मुख्य धर्मानुष्ठान।[१२] उन्होंने यह महसूस किया कि पुरानी धार्मिक नीवें कमजोर होती जा रही हैं। पुराने धर्म, दर्शन तथा कट्टरपंथी धर्म का समय जाता रहा है। "पुराना जमाना श्रद्धा का– अंधी और असंशय श्रद्धा का जमाना– था ... उस श्रद्धा के दिन अब नहीं रहे हैं।"[१३] नेहरू ने अपने विचार को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्ट करते हुए कहा है, "हमारा युग दूसरी तरह का है। यह भ्रान्ति के निवारण, संदेह, अनिश्चितता और शंका का युग है। अब हम बहुत से प्राचीन विश्वासों और दस्तूरों को स्वीकार नहीं कर सकते। क्या एशिया, क्या योरोप और क्या अमरीका, सब जगह लोगों की श्रद्धा इन पर से हट गयी है। इस कारण हम नये मार्ग खोजते हैं और सत्य के ऐसे नये स्वरूप को खोजते हैं, जिनकी हमारे चौगिर्द से अधिक संगति हो।"[१४] नेहरू की आध्यात्मिकता मानव के प्रति प्रेम, मानव के दुःख-निवारण, उसके विकास के लिए किए गए प्रयत्नों में आंकी जा सकती है। उन्होंने कभी संकीर्ण धर्म के संदर्भ में इसका प्रयोग नहीं किया।[१५] नेहरू ने परम्परागत रूढ़िवादी धर्म की मुख्यतः निम्न आधारों पर आलोचना की है:

(अ) धर्म परलोकवादी होता है न कि ऐहिक। यह वर्तमान जीवन की वास्तविक समस्याओं के समाधान में समीचीन नहीं होता।[१६]

(ब) धर्म श्रुति और इल्हाम की दुहाई देकर वैज्ञानिक खोज में अड़चन पहुंचाता है।[१७]

(स) धर्म विभाजक होता है।[१८]

(द) धर्म समाजसुधार और देश-क्रान्ति के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होता है।[१९]

नेहरू का मानवतावादी दर्शन आधिदैविकता-विरोधी है। उन्हें परलोक-विचार रुचिकर नहीं लगता था। यही कारण है कि वे जीवन और राजनीति को धार्मिक दृष्टि से देखने के दिन पर दिन अधिक विरुद्ध होते गये।[२०] इस संसार के कर्तव्य निश्चित करना और उनका पालन करना ही उन्हें पर्याप्त मालूम होता था। उनकी दृष्टि में एक सच्चे दार्शनिक और धार्मिक व्यक्ति का कर्तव्य विचार और कल्पना के जगत् में विचरण करने की अपेक्षा जीवन के वास्तविक धरातल पर रहकर मानव के दुःख को समझना एवं उसके निवारण की चिन्ता करना है। "विश्व के सौन्दर्य की सराहना तथा विचार और कल्पना के जगत् में विचरण करना आसान है। परन्तु इस तरह दूसरों के दुखों से कतराने का प्रयत्न करना और इस बात की चिन्ता न करना कि दूसरों पर क्या बीतती है, न तो साहस का लक्षण है और न सहानुभूति की भावना का। विचार तभी सार्थक माना जा सकता है जब उसका फल कर्म के रूप में प्रकट हो।[२१] इस महान् मानव-आदर्श के प्रति नेहरू सदा समर्पित रहे और दलित वर्गों के उत्थान एवं समाजसेवा का व्रत कभी नहीं छोड़ा।

एक वैज्ञानिक-मानवतावादी-विचारक होने के कारण नेहरू कर्म-संन्यास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और भाग्यवाद के विरुद्ध थे। वे मानते थे कि मानव सामाजिक जीव है। इसलिए किसी सामाजिक व्यवस्था में रहकर लोक-कल्याण के आदर्श का अनुशीलन कर वह अपनी अनुद्घाटित सम्भावनाओं एवं शक्तियों का चरम विकास कर सकता है। कुछ भी नतीजा हो इन्सान को हर हालत के लिए मुस्तैदी से कमर कस कर तैयार रहना चाहिए।[२२] नेहरू जी सच्चे अर्थों में कर्मयोगी थे। वे कर्म में विश्वास रखते थे, फल की प्राप्ति में नहीं। उन्होंने कहा है-"लोगबाग कर्म से अक्सर इसलिए कतराते हैं कि वे परिणामों से डरते हैं क्योंकि कर्म का अर्थ है जोखिम और खतरा।"[२३] कर्म ही विचार का अन्तिम लक्ष्य है। जो विचार कर्म की ओर प्रवृत्त न हो, वह सब का सब निरर्थक है और विश्वासघाती है। इसलिए नेहरू की दृष्टि में हम विचार के दास हैं तो हमें कर्म के भी दास होना चाहिए।[२४] जीवन में कर्मठता और जोखिम को वे महत्त्व देते थे।

अपनी मानवतावादी विचारधारा के अनुकूल नेहरू लोकतांत्रिक मूल्यों में अटूट विश्वास रखते थे। ड्यूवी और लामोण्ट की तरह वे तानाशाही के विरुद्ध थे। वे मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र और स्वाधीन है। परन्तु वह आत्म-केन्द्रित इकाई नहीं है। व्यक्ति अपनी परिस्थिति और समाज के प्रति अनुक्रिया-शील रहा करता है। इसलिए व्यक्त को प्रोन्नत होने के लिए राजनीतिक एवं आर्थिक रीति से स्वतन्त्र रहना चाहिए। यही कारण था कि नेहरू ने स्वतन्त्र मतदान का अधिकार प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति को वैधानिक रीति से प्रदान किया तथा इस बात पर बल दिया कि प्रत्येक राष्ट्र का शासन संसदीय सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा होना चाहिए। लोकतंत्र की मान्यता में ठोस विश्वास के कारण ही वे उपनिवेशवाद, सामन्तवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध थे। इन वादों में मानव का शोषण निहित है और मानवतावादी नेहरू कभी इसे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। भारत को ब्रिटिश उपनिवेशवाद से मुक्त कराने एवं स्वतंत्रता दिलाने में नेहरू के प्रयत्न को इतिहास भुला नहीं सकता। इसके साथ ही एशिया और अफ्रीका के देशों से उपनिवेशवाद को समाप्त करने में उनका योगदान सराहनीय है। जनवरी १९४९ में दिल्ली में "अठारह एशियाई राष्ट्र सम्मेलन" में उन्होंने इण्डोनेशिया को डच शासन से मुक्त कराने का प्रस्ताव रखा और इस दृढ़ता से काम किया कि जनवरी १९५० में इण्डोनेशिया स्वतंत्र हो गया।[२५] बर्मा की समस्या को भी उन्होंने सुलझाया। आज़ादी के बाद नेहरू ने सामन्तशाही के विरुद्ध अभियान छेड़ा तथा तत्कालीन गृहमंत्री पटेल की सहायता से भारत की तमाम छोटी बड़ी देशी रियासतों का विलय कर दिया। हैदराबाद के निजाम और काश्मीर की रियासतों के विलय के समय जिस दृढ़ता का परिचय उन्होंने दिया वह अविस्मरणीय है।[२६]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पूंजीपतियों के चुंगुल से भारतीयों को मुक्त कराने की दिशा में भी उन्होंने सराहनीय कार्य किया। वे पूंजीपतियों को "शान्ति का दुश्मन" कहते थे।[२७] यही कारण था कि उन्होंने अनेक धन्त्रों का राष्ट्रीयीकरण किया तथा अनेक राष्ट्रीय योजनाओं के अन्तर्गत विशाल उद्योगों की स्थापना की। बोकारो, राउरकेला, भिलाई, दुर्गापुर, के विशाल उद्योग इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। साथ ही साथ उन्होंने मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के निर्देशन एवं अधिकार सीमा में रखकर व्यक्तिगत पूंजी निवेश का मार्ग प्रशस्त किया। लोकतांत्रिक विचार का होने के कारण नेहरू ने कभी अपने विचारों को किसी पर थोपा नहीं। प्रेस की आजादी, सरकार की तीखी आलोचना के वे हिमायती थे। प्रेस की आजादी में नेहरू को बहुत अधिक दिलचस्पी थी। इसे वह लोकतांत्रिक प्रक्रिया का हिस्सा मानते थे। एकबार उन्होंने कहा था, "यह सच है कि सत्ता में बैठे व्यक्ति की आलोचना होनी चाहिए, बल्कि लगातार आलोचना होनी चाहिए और मैं मित्रवत् आलोचना की नहीं बल्कि उतनी तीखी आलोचना की, जितनी उसे आप पसंद करते हैं, उम्मीद करता हूँ।"[२८]

नेहरू जी फासीवादी विचारधारा के कट्टर विरोधी थे। वे इसकी साम्राज्यवादी नीति के खिलाफ थे। अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है—"यही फासीवाद है जो अनेक प्रकार से हमें मध्य युगों में वापस ले जाता है। यह नस्ल के प्रभुत्व को सर्वोपरि मानता है और स्वेच्छाचारी बादशाह के दैवी अधिकार की जगह इसमें एक सर्वसत्ताधारी नेता का दैवी अधिकार रखता है।"[२९] नेहरू इसे लोकतंत्र का दुश्मन मानते थे। उनकी दृष्टि में फांसीवाद हर प्रकार के लोकतंत्री सिद्धान्तों तथा आजादी व सभ्यता की धारणाओं पर एक आक्रमण है।[३०]

विज्ञान, तकनीक, राष्ट्रीय औद्योगीकरण, समाजवाद आदि साम्यवादी विचार धारा के प्रतीक हैं। चूंकि इन साधनों को नेहरू ने अपनाया अतः वे साम्यवाद के नजदीक थे। साम्यवाद की प्रशंसा में उन्होंने इस प्रकार कहा है, "सारे सोवियत संघ में संस्कृति तथा शिक्षा की दृष्टि से और बहुत सी अन्य बातों में अपूर्व प्रगति हुई है। इस प्रगति को जारी रखने तथा अपनी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था को ठोस बनाने के इरादे से रूस ने अन्तर्राष्टीय मामलों में शांति की नीति का बराबर पालन किया है। राष्ट्र-संघ में वह काफी निःशस्त्रीकरण, सामूहिक सुरक्षा और आक्रमण के विरुद्ध मिल कर कार्यवाही करने के लिए बराबर लड़ता रहा है।"[३१] अन्तर्राष्ट्रीय नीति में नेहरू साम्यवादी रूस के साथ सांठ-गांठ किए हुए थे। परन्तु नेहरू साम्यवाद की तानाशाही के विरुद्ध थे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानवता समग्र मानव जाति का उद्बोधन करती है। वैज्ञानिक मानवतावाद के अनुकूल नेहरू "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्त में विश्वास करते थे और विश्व परिवार का सपना देखते थे। जिस प्रकार एक व्यक्ति किसी समाज का अंग होता हैं, कोई समाज किसी जाति अथवा राष्ट्र की इकाई होता है उसी प्रकार प्रत्येक जाति तथा राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अंग होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को किसी एक राष्ट्र का सदस्य रहकर अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों का पालन करना चाहिए। केवल राष्ट्रीयता का लक्ष्य नेहरू को तंग एवं नाकाफी मालूम होता था।[३२] प्रत्येक व्यक्ति के समान प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सदस्य होकर पारस्परिक सहयोग के आधार पर अपना विकास कर सकता है और अपनी समस्याओं का समाधान कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कलह और विश्वयुद्ध को नेहरू अशुभ मानते हुए मानवता का विनाश करने वाला बताते हैं। विश्वशांति के अग्रदूत के रूप में वे तृतीय विश्वयुद्ध की बिभीषिका का वर्णन करते हुए कहते हैं "अगर युद्ध छिड़ जाता तो यह अन्देशा है कि युद्ध-प्रवृत्त राष्ट्रों पर शत्रु के वायुयान तुरन्त आक्रमण कर देगें .. इन वायुयानों से बरसने वाले बमों से विषैली गैस निकल कर चारों ओर फैल जायेगी और उस क्षेत्र भर में छा जायेगी और जहाँ तक ये पहुँचेगी वहाँ तक सारे जीव दम घुट कर मर जायेंगे... अगर योरोप में युद्ध हुआ तो लंदन, पेरिस और बर्लिन कुछ ही दिनों या हफ्तों के अंदर शायद सुलगते हुए खण्डहरों के ढ़ेर हो जायेगें।"[३३]

नेहरू के वैज्ञानिक मानवतावाद के अनुसार किसी देश के ऊपर दबाव डालना गलत है। व्यक्ति के समान प्रत्येक राष्ट्र को भी स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह अपना विकास कर सके। यही कारण है कि उन्होंने राष्ट्रों के बीच सह-अस्तित्व तथा असलग्नता की नीति अपनायी। १९४६ से १९६१ के काल को असंलग्नता नीति की स्थापना का युग कहा जाता है। इस युग में इस नीति के तीन प्रसिद्ध प्रवक्ता थे। भारत के पंडित जवाहरलाल नेहरू, युगोस्लाविया के मार्शल टीटो और मिस्र के कर्नल नासिर। प. नेहरू इस नीति और विचार धारा के अग्रदूत थे।[३४] इस नीति के दो पक्ष थे: नकारात्मक और स्वीकारात्मक। नकारात्मक रूप में असंलग्नता की नीति का अर्थ है कि असलग्न राष्ट्र विश्व के किसी शक्ति गुट में सम्मिलित नहीं होगा। वह किसी महाशक्ति के साथ सैनिक गठबंधन नहीं करेगा। स्वीकारात्मक पक्ष में इस नीति की सार्थकता अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के संबंध में निर्णय और पहल की स्वतंत्रता का उपयोग करना है। दूसरे, असंलग्नता विश्व-शांति का पक्षधर है। असंलग्नता का तीसरा पक्ष सह-अस्तित्व है।[३५] इसे पंचशील के सिद्धान्त के रूप में भी जाना जाता है। इस सिद्धान्त का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिपादन नेहरू जी तथा चीनी प्रधान मंत्री चाऊ एन लाई ने २० जून १९५४ को एक संयुक्त घोषणा में किया। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में पांच सिद्धान्तों के पालन की प्रतिज्ञा की। कोलंबिया विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए १९४९ में पंडित नेहरू ने कहा था, "इस असंलग्नता नीति के मुख्य उद्देश्य हैं, शांति की खोज, मुख्य शक्तियों के किसी गुट के साथ संलग्नता के द्वारा नहीं वरन् विवाद-ग्रस्त और कलहकारी मामलों के प्रति एक स्वतंत्र दृष्टिकोण के द्वारा, आधीन लोगों की राष्ट्रीय और व्यक्तिगत दोनों स्तर पर स्वतंत्रता, प्रजातीय भेदभाव का अंत तथा दरिद्रता, रोग और अराजकता का अंत जिससे विश्व की जनसंख्या का अधिक-संख्यक भाग पीड़ित है।"[३६]

इस प्रकार असंलग्नता नीति स्वतंत्रतता का दावा है। यह उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, वंशवाद जैसे तत्त्वों का विरोध करती है। चूंकि यह शान्ति की नीति है अतः यह राष्ट्रों के मध्य मित्रता-पूर्ण संबंधों की स्थापना पर बल देती है।[३७] मानवतावादी दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में स्थापित नेहरू की इस असंलग्नता नीति के परिणामस्वरूप आज भारत समेत अन्य निर्गुट राष्ट्र एक तिसरी दुनिया के रूप में उभर कर सामने आये हैं और उसकी सार्थकता को चरितार्थ करने में लगे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद एक आदर्श मानव समाज की स्थापना पर बल देता है। विश्वबंधुत्व, मानव-मानव की तात्त्विक एकता, मानवाधिकार, प्रेम, मैत्री, सह-अस्तित्व सहभागिता, स्वतंत्रता, विश्वशांति आदि मूल्यों की संरक्षा ही नेहरू के जीवन-दर्शन की वास्तविक अभिव्यक्ति कही जा सकती है। परम्परागत धर्मों के बाह्य पक्ष एवं रूढ़िवादिता की अवहेलना करते हुए उन्होंने धर्म के मर्म को समझा जो मानव-कल्याण एवं लोकसंग्रह में निहित है। "परहित सरिस धर्म नहीं भाई। पर-पीड़ा सम नहीं अधमाई" (तुलसीरामायण) तथा "आत्मनः सर्वभूतेषु सर्वभूतेषु चात्मनि" (गीता) के अनुरूप ही नेहरू का मानवतावाद मानव-कल्याण एवं मानव की एकता पर बल देता है। भारतीय संविधान में निहित धर्म-निरपेक्षता का स्वरूप नेहरू के इसी आदर्श का यथार्थ चित्रण है।

— ३ —

नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद अति उदार और एक सामयिक संदेश कहा जा सकता है। बदलते हुए परिवेश एवं नवसृजित मानव-मूल्यों के साथ समायोजन स्थापित करना हर विचारक का धर्म होता है। नेहरू इसके अपवाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं थे। एक खास ऐतिहासिक प्रक्रिया के तहत नेहरू के अवदान को हम तीन रूपों में देख सकते हैं– (के) समतामूलक समाज व्यवस्था का निर्माण, (२) औद्योगिक युग की शुरूआत और (३) धर्म-निरपेक्ष समाज-व्यवस्था। यहाँ हम विचार करें कि नेहरू का उपर्युक्त समाज-दर्शन भारतीय परिप्रेक्ष्य में कितना सार्थक एवं अनुकूल सिद्ध होता है। आर्थिक, वैज्ञानिक और टेक्नालाजी के क्षेत्र में कोई देश छलाँग लगा सकता है। पर विचार-धारा के क्षेत्र में यह संभव नहीं है। अनेक विधि-निषेधों, रीति-नीतियों और प्रदीर्घ परम्पराओं को छोड़कर सहसा किसी दूसरी विचारधारा को अपनाना न तो संभव है और न काम्य। दूसरे देश की परम्पराओं और विचारधारा से देशी परम्परा और विचारधारा की टकराहट होती है। इसके फलस्वरूप देशी विचारधारा किन्हीं अंशों में परिवर्तित होती है लेकिन उसका रूपान्तर नहीं होता।[३९]

जैसा कि पहले ही दर्शाया जा चुका है, नेहरू का मानवतावाद पश्चिमी विचारधारा से काफी प्रभावित है। वस्तुतः उनके जीवन-काल में ही उनकी यह विचारधारा काफी क्षतिग्रस्त हुई और सफलता के सोपान पर आरूढ न हो सकी। उनके वैज्ञानिक मानवतावाद के भारत पर सफल प्रभाव में कमी के निम्नलिखित कारण दिए जा सकते हैं।

१. नेहरू का यह दर्शन बुर्जुआ दर्शन है। इसमें बुद्धि को प्रधानता दी गयी है तथा भाव-संवेग एवं अनुप्रेरणाओं को उतना महत्व नहीं दिया गया है। वस्तुतः भाव-संवेग एवं अनुप्रेरणाओं से ही मानव का जीवन संचालित होता है। इस रूप में यह समाज के मध्यम वर्गीय व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ बौद्धिक आधार पर विशेष बल दिया गया है।[४०]

२. भारत का आर्थिक पिछड़ापन भी नेहरू के दर्शन की विफलता का एक कारण है। समाज में शोषित, तिरस्कृत, पिछड़े तथा दरिद्र व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है। इनके लिए भोजन, वस्त्र, आवास तथा जीवन-निर्वाह की वस्तुओं की उपलब्धि आवश्यक है। बिना इनका उद्धार किए समाज में कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। बौद्धिक स्तर पर निबाहे गये आदर्शों से इस प्रकार के लोगों में कभी किसी प्रकार की उत्प्रेरणा सम्भव नहीं है। नेहरू भारतीयों की आर्थिक स्वतन्त्रता के हिमायती थे लेकिन उनका स्वप्न सिद्धान्तों तक ही सीमित रहा उनका आदर्श यथार्थ के धरातल पर नहीं था। गांधी और नेहरू में यही अन्तर था। गांधी जी मानते थे कि व्यक्ति के समान देश की इकाई ग्राम है। वे प्रत्येक ग्राम को स्वावलबी बनाकर स्वतंत्र इकाई रखना चाहते थे। गांधी जी ग्रामोद्योग, लघु इकाइयों से ग्रामों का विकास चाहते थे। नेहरू के अनुसार किसी ग्राम को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वावलंबी तभी किया जा सकता है जब ग्रामवासियों की आवश्यकता को अति-सीमित रूप में रखा जाय। सभ्य जीवन के लिए उद्योग, तकनीक, विज्ञान आदि अति महत्त्वपूर्ण हैं और अनेक राष्ट्रों के सहयोग से ही औद्योगीकरण सम्भव है। नेहरू के अन्तिम दिनों में यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा था कि पूंजीपतियों की चालों से शासकों के भाई भतीजावाद से, घसखोरी तथा अन्य खामियों से राष्ट्रीय उद्योग असफल हो रहा है।[४१] विकास कार्यक्रमों के नियोजन और कार्यान्वियन में कहीं कुछ ऐसी विसंगति रही जिस से विकास असन्तुलित रहा। धनी वर्ग के और धनी होने और आगे बढ़े क्षेत्रों के ही और समृद्ध होने से आर्थिक व्यवस्था में जो विषमता पैदा हुई उसका सामाजिक स्थिति पर भी प्रभाव पड़ा। देश के बहुसंख्यक लोगों के पीछड़े रहने और विकास के लाभ से वंचित रहने के कारण नेहरू का समाजवाद का सपना पूरा होता नहीं दिखायी दिया।

३. जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, नेहरू आधिदैविकता के विरोधी थे। उनका विश्वास था कि ज्ञान की वृद्धि के साथ धर्म के प्रति लोगों को आस्था और जातिवाद अपने आप विलीन हो जायेगें। आधुनिकता और तर्कशक्ति से भरपूर उनके मनोवैज्ञानिक मानवतावाद को लोग स्वतः अपना लेंगे। लेकिन यह नेहरू का अपना विश्वास था। उन्हें भारतीय परम्परा में सांस्कृतिक मूल को दृढ़ता का आभास नहीं था। वे भारतीय जनमानस की आध्यात्मिकता से पूरी तरह परिचित नहीं थे। वस्तुतः उनके जीवन पर विज्ञान की अपेक्षा धर्म का विशेष प्रभाव रहा है। धर्म के नाम पर ही भारत का विभाजन हुआ, गाँधी जी की हत्या हुई, परिवार नियोजन पूरी तरह सफल नहीं रहा और जातिवाद के कारण ही राष्ट्र-भावना भारतीयों में ठीक से जग नहीं पायी। ये सब घटनायें नेहरू जी के जीवन-काल में घटीं। अपनी उदार नीति के कारण सभी जातियों एवं धर्मों का उन्होंने समादर किया और अपने संरक्षण में रखा। इससे साम्प्रदायिकता एवं जातिवाद को बढ़ावा मिला और उसका खण्डन नहीं हो पाया। दलों और नेताओं में सत्ता और स्वार्थ की राजनीति में संकीर्ण क्षेत्रीयता और साम्प्रदायिक वैमनम्य की भावना में आये उभार के कारण लोकतंत्र और धर्म-निरपेक्षता दोनों ही सिद्धान्तों को आघात पहुँचा। आज देश में लोकतंत्र व्यक्तितंत्र और जातितंत्र में बदला हुआ है और धर्मों के प्रति समभाव का स्थान धार्मिक उन्माद और धार्मिक संकीर्णता ने ले लिया है।

४. नेहरू विचार से मानवतावादी थे, परन्तु आचार से बुर्जुआवादी थे। उनके आचार एवं विचार में पूर्णतः तालमेल न होने के कारण भी उनका दर्शन एक अजीब सा सम्मिश्रण बन कर रह गया। उन्होंने स्वयं इसको महसूस किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उन्होंने लिखा है, "शायद मेरे विचार और मेरी जीवन-दृष्टि पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है, लेकिन भारतमाता अनेक रूपों मे अपने अन्य बालकों की भांति मेरे हृदय में भी विराजमान है और अन्तर के किसी अनजान कोने में, कोई सौ पीढ़ियों के ब्राह्मणत्व के संस्कार छिपे हुए हैं। मैं अपने पिछले संस्कार और नूतन ज्ञान से मुक्त हो नहीं सकता। यह दोनों मेरे अंग हो गये हैं और जहाँ वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनों से मिलने में सहायता करते हैं, वहाँ साथ ही न केवल सार्वजनिक जीवन में बल्कि समग्र जीवन में एक मानसिक एकाकीपन का भाव पैदा करते हैं। पश्चिम में मैं विदेशी हूँ, अजनबी हूँ। में उसका हो नहीं सकता। लेकिन अपने देश में भी मुझे कभी ऐसा लगता है मानों मैं देश निर्वासित हूँ।"४२

५. नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद भारतीय संदर्भ में समय से पूर्व था भारतीयों के सहस्त्र वर्षों से पिछड़े रहने के कारण उनकी समस्याएँ अनेक थी। दयनीय सामाजिक स्थिति, आर्थिक विषमता, धार्मिक संकीर्णता, जातिवाद आदि अनेक ऐसे तथ्य समाज मे थे जिनका निवारण पहले जरूरी था। ऐसे परिवेश में उनके मानवतावाद की विफलता उसकी स्वाभाविक नियति थी।

६. अन्तरराष्ट्रीयतावाद और विश्व-लोकतंत्र के विकास के लिए अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में सहयोग सद्‌भाव और भाईचारे की भावना से युक्त जिस अलंलग्नता और सहअस्तित्व की नीति नेहरू ने अपनायी उस पर भी प्रतिकूल असर पड़ा। १९४८ में पाकिस्तान ने अपने सशस्त्र घुसपैठिए काश्मीर में भेजकर भारत के विरुद्ध संघर्ष और साजिश का जो सिलसिला शुरू किया था, वर्ष १९६५ और १९७१ के दो युद्धों के बाद भी उस सम्बन्ध का तनाव अब भी कायम है। आन्तरिक और बाहरी खुराफातों की वजह से काश्मीर में आज भी राजनीतिक अस्थिरता बनी हुई है। पंचशील सूत्र की घोषणा सम्बन्धी सम्मेलन के तत्काल बाद ही चीन द्वारा भारत पर हमला किए जाने और एक बड़े क्षेत्र पर कब्जा कर लेने से पंचशील नीति को और स्वयं नेहरू जी की आस्था को जबरदस्त धक्का लगा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद बुद्धिवादी एव बुर्जुआवादी होने के कारण सिद्धान्त तक ही सीमित रह गया। व्यवहार में इसका प्रस्फुटीकरण नहीं हो पाया। भारतीय जनजीवन पर इसका प्रभाव विशेष नहीं पड़ा। धर्म-तंत्र, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, शासकों की लोलुपता, क्षेत्रीयतावाद आदि विघटनकारी प्रवृत्तियाँ जो नेहरू के जीवन-काल में उनके व्यक्तित्व के कारण दबी थीं, उनके मरते के बाद और प्रबल हो रही हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपर्युक्त विफलताओं के बाद भी नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद अपनी एक अलग पहचान लिए खड़ा है। यह नेहरू के आदर्शों का ही प्रतिफल है कि जिस भारत में आजादी के पूर्व सूई से लेकर मोटरगाड़ी तक का आयात होता था, उसी भारत में उपभोक्ता क्षेत्र की तमाम तरह की वस्तुओं के निर्माण के साथ ही मोटरगाड़ियों तथा रेल इंजनों और दूसरी मशीनों का निर्माण ही नहीं हो रहा है, इनका दूसरे देशों में निर्यात भी हो रहा है, जिनमें से कई पहले से ही उन्नत और औद्योगिक देश समझे जाते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के तहत जिस असंलग्नता नीति का सूत्रपात नेहरू ने किया था, उसी के परिणाम स्वरूप आज तीसरे विश्व के देश कटिबद्ध होकर उपनिवेशवाद, साम्राज्यवादी नीति के विरोध में संघर्ष कर रहे हैं। पारमाणविक अस्त्रों पर रोक, निःशस्त्रीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे के बारे में कुछ सार्थक कार्य होते दिखाई पड़ रहे हैं जिनकी अभी हाल तक आशा नहीं थी। नेहरू जी की अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे, सद्भाव और मैत्री की नीति के इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सफलता के आसार दिखाई पड़ते हैं। आवश्यकता है देश में आन्तरिक क्षेत्र में भी आर्थिक, सामाजिक विषमता दूर कर समाजवाद, लोकतंत्र और सर्वधर्म समभाव के नेहरू के सपनों को साकार करने की। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनके इस जीवनदर्शन को कायम रखने और निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के किए कार्य करने, की जिम्मेदारी नयी पीढ़ी पर है। २१ वीं सदी का भारत उनके वैज्ञानिक मानवतावाद का अनुशीलन कर विश्व में अग्रगण्य बन सकता है और विश्व-शान्ति एवं विश्व-बन्धुत्व का सफल पाठ पढ़ा सकता है।

दर्शन विभाग
श्री. मु. म. टा. स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बलिया
(उ. प्र.)

ललित किशोर लाल श्रीवास्तव

टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य डिक्शनरी आफ फिलासफी, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, १९८४ पृ. १७८
२. समकालीन भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, १९७४ पृ. १८५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. द्रष्टव्यः धर्मदर्शन : प्राच्य एवं पाश्चात्य, वाई. मसीह; भारतीय भवन पटना १९२३, पृ. ६०२-३
४. द्रष्टव्यः सोशल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म, ए. आर. देसाई, बाम्बे, पापुलर प्रकाशन १९६६, पृ. २९८-३००
५. "आज" पृष्ठ ६ वाराणसी अंक, १४ नवम्बर १९८८, लेख "तीखी और कड़ी आलोचना का स्वागत करने वाले नेहरू जी" द्वारा इन्द्र कुमार गुजराल में उद्धृत
६. द्रष्टव्य-इण्डिया फ्राम कर्जन टु नेहरू एण्ड आफ्टर-दुर्गादास, १९७४, पृ. २६१
७. नेहरू : दी मेकिंग आफ इण्डिया, एम. जे. अकबर से उद्धृत- टाइम्स आफ इण्डिया ६ नवम्बर १९८८ (सण्डे रिव्यू) पृ. ।
८. वहीं,
९. द्रष्टव्य-दी डिस्कवरी आफ इण्डिया, लन्दन, १९६० पृ. ५२७ तथा विश्व-इतिहास की झलक (संक्षिप्त संस्करण) १९९४, पृ. २
१०. वहीं,
११. द्रष्टव्य-धर्म-दर्शन, वाई. मसीह पृ. ६१४-१५
१२. द्रष्टव्य- दी डिस्कवरी आफ इण्डिया पृ. ५२७
१३. विश्व इतिहास की झलक-पृ. ४८४
१४. वहीं
१५. द्रष्टव्य-मेरी कहानी-पं. नेहरू (अनुवादक हरि भाऊ उपाध्याय) सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, १९८८, पृ. ५०१
१६ विश्व इतिहास की झलक (मूल) पृ. ८५
१७. वहीं, भाग पृ. ६८५ तथा डिस्कवरी पृ. ११-१२, पृ. ५२४ और मेरी कहानी पृ. ३७७
१८. मेरी कहानी पृ. १०३-१०५
१९. वहीं, पृ. १३४-३५
२०. वहीं पृ. १०१,
२१. विश्व इतिहास की झलक पृ. ४८४-८५
२२. मेरी कहानी, पृ. २२५,
२३. वहीं पृ. २८३ तथा विश्व इतिहास की झलक
२४. वहीं पृ. ४८५,
२५. द्रष्टव्य-इण्डिया फ्राम कर्जन टु नेहरू एण्ड आफ्टर पृ. २८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२६ वहीं पृ. २८४–८५,
२७. वहीं पृ. २८८
२८ आज वाराणसी) १४ नवम्बर पृ. ६
२९. विश्व इतिहास की झलक पृ. ४८६
३०. वहीं
३१. वहीं, पृ. ४९५
३२. मेरी कहानी, पृ. ११०
३३. विश्व इतिहास की झलक, पृ. ४६१
३४. द्रष्टव्य–अन्तर्राष्ट्रीय संबध, पी. डी. कौशिक, पृ. ५००
३५. वहीं पृ. ४९३–९५
३६ जे. एल. नेहरू : इण्डियाज फारेन पालिसी : सेलेक्टेड स्पीचेस, सितम्बर १९४७–१९६१, पब्लिकेशन डिवीजन, भारत सरकार १९६१, पृ. ४०१
३७. द्रष्टव्य–अंतर्राष्ट्रीय संबंध, पी. डी. कौशिक पृ. ५९०
३८. आज (वाराणसी) १७ नवम्बर १९८८ पृ. ६
३९. वहीं
४०. द्रष्टव्य– धर्म दर्शन : प्राच्य और पाश्चात्य पृ. ६१६–१७
४१. वहीं तथा इण्डिया फ्राम कर्जन टु नेहरू एण्ड आफ्टर पृ. २९४–९५
४२. मेरी कहानी पृ. २८३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामाजिक स्वातन्त्र्य की बुनियाद
(मानवाधिकार : दार्शनिक सन्दर्भ)

मानवाधिकारों की बात जब भी की जाती है तो उस का सन्दर्भ अधिकांशत: राजनीतिक असहमति की अभिव्यक्ति तक सीमित होता है। राजनीतिक असहमति की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति निस्सन्देह एक बुनियादी मानवाधिकार है लेकिन वह एकमात्र मानवाधिकार नहीं है—बल्कि मानवाधिकारों की सम्भावना एक व्यापक जीवन-दर्शन पर आधारित संकल्पना है जिसके घेरे में समूचा जीवन और समाज-व्यवस्था आ जाती है। इसलिए राजनीतिक सन्दर्भ में उस पर विचार करने से पूर्व उस बुनियाद को समझना आवश्यक है जो मानवाधिकारों की आधारभित्ति है।

मानवाधिकारों की संकल्पना की बुनियाद है मनुष्य को सब कुछ का पैमाना मानना। "मैन इज दी मेजर ऑफ ऑल थिंग्ज।" इसी बात को कार्ल मार्क्स ने 'मैन इज दि रूट ऑफ मैनकाइन्ड" कह कर व्यक्त किया है। मनुष्य मानवता की जड़ है। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, मनुष्य चीजों का मापदण्ड है, मनुष्य ही एकमात्र सत्य है—इस तरह की बातें इस विचारधारा को मानने वाले लोगों से अक्सर सुनने को मिल जाती हैं। वैज्ञानिक मनुष्य को जीवों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। दार्शनिक उस में चेतना की चरम अभिव्यक्ति खोजते और सृष्टि का केन्द्रीय स्थान उसी को देते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य के इतिहास को एक यान्त्रिक प्रक्रिया के रूप में देखने और मानवीय नियति को यान्त्रिक स्तर पर नियन्त्रित कर सकने की आशा करने वाले लोग भी अपने प्रयत्नों का प्रयोजन मनुष्य का कल्याण ही मानते हैं।

इस में कोई सन्देह नहीं कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था की कसौटी और बुनियादी प्रेरणा भी यही है कि उस के अन्तर्गत मनुष्य के बहुआयामी विकास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को किस सीमा तक एक अनुकूल वातावरण व सुविधाएँ मिलती हैं। जो व्यवस्था मनुष्य के विकास की सम्भावनाओं को मानसिक, आध्यात्मिक अथवा सामाजिक-आर्थिक स्तर पर रोकती है, उसे हम मानवीय और नैतिक व्यवस्था नहीं कह सकते। इसी प्रकार यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मनुष्य जैविक विकास का सर्वश्रेष्ठ स्तर है, कि उस में जीवन और चेतना की अद्यतन सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है और भविष्य में इस के गुणात्मक उत्कर्ष की अपेक्षा भी मनुष्य से ही की जा सकती है। इसलिए यह मान लेने में कोई एतिराज नहीं हो सकता कि वह अन्य जीवों से श्रेष्ठ है।

लेकिन मनुष्य को अन्य जीवों से श्रेष्ठ मान लेने का ध्वन्यार्थ क्या है? क्या हमारा तात्पर्य यह है कि मनुष्य अन्य जीवों से अधिक समर्थ, सचेत और श्रेष्ठ है अत: शेष जीवन और जगत् की सुरक्षा और सम्पोषण का दायित्व भी उसी पर है, अथवा यह कि वह सबसे श्रेष्ठ है इसलिए सब कुछ उस के अबाध उपयोग के लिए है–जिसे वह स्वैराचारी तरीके से इस्तेमाल कर सकता है? वह श्रेष्ठ है इसलिए प्रकृति और जीव–जगत् का शोषण, दोहन और दमन करने का उसे अधिकार है, कि अधिक से अधिक उसका दायित्व अपनी ही जाति के अन्य सदस्यों तक ही नहीं बल्कि धर्म या राष्ट्र के सदस्यों के प्रति भी है। साथ–साथ क्या हम यह मानें कि अन्य राष्ट्रों के लोगों और प्रकृति या मनुष्येतर जीवन के प्रति उसका कोई दायित्व नहीं है?

अक्सर हम ऐसा मान लेते हैं और ऐसा मानते हुए अपने ही तर्क के निहितार्थ की अनदेखी कर जाते हैं। क्या ऐसा स्वीकार करते हुए हम यह भी स्वीकार नहीं कर लेते कि श्रेष्ठतर को यह अधिकार है कि वह अपने से हीन का अपने लिए उपयोग कर सके? प्रकृति और पशु–जगत् जीवन और चेतना के विकास में मनुष्य से नीचे के स्तर पर हैं यही चीज तो मनुष्य को उनसे श्रेष्ठतर बनाती है और उनके इस्तेमाल के बारे में एकतरफा निर्णय लेने का अधिकार मनुष्य को देती है। यदि हम यही तर्क मानव–समाज पर भी लागू कर दें तो क्या हम यह मानने को राजी हैं कि अधिक विकसित और शक्तिशाली वर्गों या राष्ट्रों का यह स्वाभाविक अधिकार है कि वे अपने से कमजोर और हीन मनुष्यों, समाजों या राष्ट्रों का उपयोग अपने लिए कर सकें।

कुछ लोग इसे तर्क को टाँग खींचना कह सकते हैं। उनकी आपत्ति यही होती है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति व्यवहार और उसका मनुष्येतर जीवन के प्रति व्यवहार दो अलग-अलग बातें हैं और उनके लिए एक ही कसौटी नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बनायी जा सकती। मनुष्य और पशु में फ़र्क है। अतः उन के प्रति आचरण में फ़र्क होना स्वाभाविक है। इस तर्क को मान लेने पर क्या यह ध्वनित नहीं होता कि मनुष्य और पशु द्वारा किये जाने वाले आचरण में भी फ़र्क होना चाहिए? मनुष्य किसके प्रति आचरण कर रहा है, इससे पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि आचरण करने वाला मनुष्य है। इसलिए उसके हर आचरण में मानवत्व हर स्तर पर प्रतिबिम्बित होना चाहिए। ऐसा नहीं है कि वह मनुष्यों के बीच ही मनुष्य रहता है और प्रकृति में अथवा अन्य जीवों के बीच मनुष्य नहीं रहता। ऐसी स्थिति में जहाँ उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मनुष्य और मनुष्येतर जीवन के साथ आचरण करते हुए इन दोनों के फ़र्क को समझे और तदनुकूल आचरण करे, वहीं यह भी उतना ही आवश्यक है कि वह इस तथ्य को न भूले कि वह मनुष्य है। अतः उस के आचरण में वे प्रवृत्तियां और विशेषताएं चरितार्थ होनी चाहिए जो उसे मनुष्य बनाती हैं। मनुष्य जीवन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। अतः जीवनमात्र से जुड़ना, उसका संरक्षण और सर्जनात्मक विकास उस के मनुष्य होने का अनिवार्य नैतिक और भावनात्मक शर्त है। जब मनुष्येतर जीवन के साथ मनुष्य अस्तित्वगत रिश्ता अनुभव करता है, तभी वह वास्तविक अर्थों में मानवत्व के अर्जन की दिशा में प्रेरित आचरण कर सकता है।

मानवत्व के विकास की सही दिशा क्या है? इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट समझ लेना जरूरी है कि मनुष्य की हमारी अवधारणा क्या है? आखिर वह क्या बात है जो मनुष्य को पृथ्वी पर पाये जाने वाले अन्य प्राणियों से विशिष्ट करती है? क्योंकि मनुष्य होने का मतलब ही उन विशेषताओं से सम्पन्न होना है जो उसे अन्य जीवों से भिन्न करती और मानवत्व के अर्जन की दिशा में प्रेरित करती हैं। मानवीय समझी जाने वाली सभी आचरण विशेषताओं की बुनियाद में जाकर देखें तो जो बातें मनुष्य को बुनियादी तौर पर दूसरे प्राणियों से अलग करती हैं वे है उसका अन्तःकरण अर्थात् चेतना और इस में निहित सर्जनशीलता। पशु अथवा अन्य मनुष्येतर प्राणियों में इसलिए जो क्रियाएं सहज होती हैं वे भी मानवीय जीवन में एक प्रकार के मूल्यबोध से अनुप्राणित और अनुशासित होने लगती हैं क्योंकि उसकी चेतना और सर्जनशीलता मिल कर मानव जीवन के सभी पक्षों—उसके प्राकृतिक कार्य व्यापार से लेकर सामाजिक व्यवहार तक—में उत्तरदायित्व का बोध विकसित करती है। यह उत्तरदायित्व उन मूल्यों के प्रति होता है जिनका स्त्रोत मनुष्य की चेतना स्वयं है। अतः यह उत्तरदायित्व उसका अपने प्रति उत्तरदायित्व ही है और यही बात जो उसके आचरण को अर्थवत्ता या सार्थकता देती है, उसे मानव बनाती है। इस प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानव होने का मतलब है चेतनासम्पन्न, सर्जनशील और उत्तरदायी होना। मनुष्य नामक जैविक अस्तित्व में इन गुणों का विकास ही उसे वास्तविक अर्थों में मानव का दर्जा देता है। यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य में ये गुण जितने विकसित होते जाते हैं उतना ही वह पूर्ण मानव होता जाता है। अतः मनुष्य जीवन का लक्ष्य और इसलिए मानवाधिकारों का लक्ष्य भी प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य और मानवजाति में इन गुणों का सर्वाधिक विकास है। चेतना और सर्जनशीलता के साथ ही दो अन्य बातें भी अनिवार्यतः जुड़ी हैं। बल्कि वे अन्योन्याश्रित हैं और वे हैं स्वतन्त्रता और सामाजिकता। कुछ लोगों को स्वतन्त्रता और सामाजिकता एक दूसरे के विरुद्ध लगती हैं, लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं है। यदि स्वतन्त्रता को हम एक मूल्य मानते हैं तो फिर वह कोई सुविधा या अधिकार न रहकर एक दायित्व हो जाती है क्योंकि तब अपनी स्वैराचारिता नहीं, मानवमात्र की स्वतन्त्रता हमारा इष्ट हो जाती है और दूसरे की स्वतन्त्रता का सम्मान व उसके लिए संघर्ष करना कहीं अधिक वाञ्छनीय हो जाता है। सार्त्र की उक्ति "हेल इज दी अदर पीपुल" के समान्तर यह उक्ति उचित ही गढ़ी गई है, "फ्रीडम इज दी अदर पीपुल"। इसी प्रकार दूसरे के स्वतन्त्र चेतनासम्पन्न व्यक्तित्व का सम्मान सामाजिकता का ही रूप है। इसी कारण मनुष्य का सामूहिक जीवन पशुओं में पाये जाने वाले सामूहिक जीवन से भिन्न एक सामाजिकता में विकसित होने लगता है। क्योंकि उसका आधार एक मूल्यबोध या दायित्वबोध हो जाता है। तभी स्वतन्त्रता निरंकुश स्वैराचार एवं परहन्ता आचरण में नहीं बदल पाती और सामाजिकता किसी जैविक या अन्य मजबूरी के तहत साथ जीवन बिताने की विवशता नहीं हो कर अपने और दूसरे के बीच एक सर्जनात्मक रिश्ते का अनुभव हो जाती है।

इस प्रकार चेतना, स्वतन्त्रता, सृजनशीलता और सामाजिकता ऐसे पहिये हो जाते हैं जिन पर मानवीय उत्कर्ष की यात्रा होती है। इन मूल्यों के आधार पर विकसित होने का तात्पर्य जीवन और अस्तित्व मात्र का पुष्ट और विकसित होना है क्योंकि जीवन, जो सभी मूल्यों का स्त्रोत है, इन्हीं मूल्यगत प्रवृत्तियों में गुणात्मक उत्कर्ष प्राप्त करता है। अपने विभिन्न पक्षों मे मानवीय जीवन कहाँ तक सही दिशा की ओर उन्मुख है, इस का एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि मानवीय चेतना, स्वतन्त्रता, सर्जनशीलता और सामाजिकता की भावनाएँ कहाँ तक पोषित होती हैं। इन प्रवृत्तियों का पोषण जितना अधिक होता जाता है मानव में निहित सम्भावनाएँ भी उतनी ही उजागर होती जाती हैं। सभी मानवीय रिश्तों और संस्थाओं का अन्तिम उद्देश्य इन मूल्यों का पोषण करना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही है और यदि वे ऐसा नहीं करती हैं तो समाज के सही विकास में सहायक होने की बजाय बाधा या विकृति बन जाती है। हमारी राजनीति और सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का तभी औचित्य समझा जा सकता है जब वे इन मूल्यों से अनुप्राणित हों और अपने आचरण द्वारा इन्हें पुष्ट करें।

राजनीतिक या सामाजिक-आर्थिक प्राणी होने के साथ साथ मनुष्य एक नैतिक प्राणी भी है। कोई राजनीति या सामाजिक-आर्थिक शक्ति यदि मानव समाज में बेहतर बदलाव के लिए प्रयत्नशील है तो वह तब नैतिक कोशिश है—एक ऐसी नैतिक कोशिश जिसकी प्रेरणा मनुष्य के अस्तित्व में ही निहित है। इसलिए निरन्तर यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि हम अपनी मूल्य-प्रेरणा और सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक आचरण में संगति रख पायें। नैतिकता-विहीन आचरण का मूल्यांकन सफलता के आधार पर होता है, सार्थकता के आधार पर नहीं। जीवन एक समग्र प्रक्रिया है। उसका कोई पक्ष एक दूसरे से कटा हुआ नहीं है। यदि हम मानव-जीवन का उद्देश्य यह मानते हैं कि विभिन्न क्षेत्रों में व सभी स्तरों पर उन मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, जो स्वयं उसकी सार्थकता है, तो हमें अपनी राजनीति. अर्थ-व्यवस्था और समाज रचना को तदनुकूल विकसित करना होगा। यदि कोई समाज, सरकार या संगठन ऐसा नहीं करता तो मानना होगा कि वह सही अर्थों में मानवीय और नैतिक नहीं है।

इस पृष्ठभूमि में देखने पर ही संयुक्तराष्ट्र संघ मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का वास्तविक महत्त्व समझ में आ सकता है। जैसा कि मैंने शुरू में कहा अधिकांशतः मानवाधिकारों को केवल असहमति व्यक्त करने के अधिकार तक सीमित कर पूंजीवादी राष्ट्र उसका उपयोग अपनी विदेशनीति के हित में करते रहे हैं और अपनी व्यवस्था में असहमति की अभिव्यक्ति के अधिकार की औपचारिक और लगभग प्रभावहीन स्वीकृति के माध्यम से अपने को लोकतान्त्रिक और मानवाधिकारों का समर्थक बताने का प्रयास करते रहे हैं। लेकिन यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के मानवाधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा पत्र की प्रस्तावना और घोषणा को पढ़ा जाये, जिसे महासभा ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है, तो मालूम होगा कि शायद ही कोई राष्ट्र होगा जो वास्तव में अपने नागरिकों एवं अन्य देशों के निवासियों के जीवन को मानवाधिकारों की भावना के अनुकूल विकसित करने का प्रयास कर रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के इस घोषणापत्र की प्रस्तावना के शुरू में ही माना गया है कि विश्व में स्वतन्त्रता, न्याय और शान्ति की नींव मानव-परिवार के सभी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सदस्यों की जन्मजात गरिमा और उनके अहस्तान्तरणीय तथा समान अधिकारों की स्वीकृति है। उल्लेखनीय है कि यहाँ मानव समाज की जगह मानव-परिवार शब्द का प्रयोग किया गया है जो अधिक निकटता का सूचक है तथा मानव अधिकारों को ऐसे अधिकार माना गया है जिन्हें किसी भी तरह व्यक्ति से याने मनुष्य से अलग नहीं किया जाना चाहिए– स्वय उसके चाहने पर भी नहीं।

इन अधिकारों का दायरा इतना व्यापक है कि सारे मानवीय कार्यव्यापार इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। घोषणा पत्र की प्रस्तावना में उन्हें सभी राष्ट्रों और लोगों का सामान्य लक्ष्य घोषित किया गया है जिसे प्राप्त करने पर एक ऐसे संसार का निर्माण होगा जिसमें भय और अभाव नहीं होंगे। घोषणापत्र की पहली और बाईसवीं धारा में मानवीय समानता और मानवीय व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता का आग्रह किया गया है। पहली धारा में मानवीय स्वतन्त्रता और गरिमा तथा अधिकारों की समानता को जन्मजात मानते हुए प्रत्येक मनुष्य को विवेक और अन्तःकरण से युक्त माना गया है तथा उनसे एक–दूसरे के प्रति भाईचारे की अपेक्षा की गयी है। इसी तरह बाईसवीं धारा में समाज के एक सदस्य के नाते प्रत्येक के लिए सामाजिक सुरक्षा के अधिकार को स्वीकृति दी गयी है। और यह उम्मीद की गयी है कि राष्ट्रीय प्रयत्नों और आन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से प्रत्येक राष्ट्र अपने संगठन और स्त्रोतों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के उन आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा करेगा जो उसके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के लिए आवश्यक हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में सर्वसम्मति से पारित इस घोषणापत्र पर एक मतदान में आठ राज्यों ने अपने को अनुपस्थित रखा जिसमें सोवियत रूस, सऊदी अरेबिया तथा दक्षिण अफ्रीका भी थे। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि किसी भी सदस्य राष्ट्र ने इस घोषणापत्र का विरोध नहीं किया। यह अपने आप में घोषणापत्र की नैतिक विजय का प्रमाण है।

लेकिन यह सवाल उठना लाज़िम है कि नैतिक विजय के बावजूद विभिन्न राष्ट्र मानवाधिकारों का उल्लंघन क्यों करते है ? राज्यों की अपनी व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी होती होंगी; पर सामान्य जन में मानवाधिकारों के प्रति सम्मान क्यों नहीं है– खासतौर पर अन्य के सन्दर्भ में यह अक्सर देखा गया है कि मनुष्य के कल्याण और विकास को अपना प्रयोजन मानने वाली विचारधाराएँ और उनसे प्रेरित संस्थाएँ एक दूसरे के इतना विरोध में हो जाती हैं कि वे एक-दूसरे को अपना शत्रु घोषित कर देती हैं और उनका समय और श्रम अधिकांशतः एक–दूसरे को समाप्त करने की कोशिक में ही लगा रहता है। सवाल उठना चाहिए कि लक्ष्य कि समानता के बावजूद तरीकों की भिन्नता पर एक–दूसरे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के प्रति शत्रुतापूर्ण भाव क्यों ? असहमति तो समझ में आती है पर घृणा और शत्रुता नहीं। यह भाव यदि उन लोगों में ही हो जो राजनीतिक या धार्मिक या अन्य किसी प्रकार के सत्ता संस्थान पर आसीन हैं या होना चाहते हैं तो उसका कारण भी समझ में आ सकता है। लेकिन यह प्रवृत्ति उन लोगों में भी दिखायी पड़ती है जो अपने बाकी दैनन्दिन जीवन में सरल और सादा हैं तथा जिन्हें वे ठीक मानते हैं उन विचारों के लिए कष्ट उठाने के लिए भी तैयार रहते हैं– वे सामान्य जन तो सत्ता पर आसीन नहीं होना चाहते।

ऐसा क्यों ? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम विचाराधारा से अधिक उन संस्थाओं और व्यक्तियों से जुड जाते हैं जो स्वयं को उस विचाराधारा का पोषक मानती हैं और उस विचारधारा की व्याख्या और अपने कार्य–व्यापार के औचित्य के सम्बन्ध में ऐसी किसी संस्था या व्यक्तियों के निर्णय को ही कसौटी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि कोई भी मानवपरक विचारधारा यह नहीं चाह सकती कि मनुष्य अपने आचरण के औचित्य की तलाश अपने विवेक की बजाय किसी अन्य संस्था या व्यक्ति या व्यक्ति–समूह में खोजे। ऐसी कोई भी कोशिश उस विचारधारा को मानवविरोधी बना देती है क्योंकि मनुष्य एक स्वतन्त्र चेतनासम्पन्न और विचारशील प्राणी है, अतः उसकी इस स्वतन्त्रता और विचारशीलता पर यदि कोई अन्य बात एक स्थायी बाधा हो जाती है, चाहे उस में उस व्यक्ति की सहमति भी क्यों न हो, तो उसे सार रूप में मानवविरोधी ही कहना होगा।

कई बार यह भी हो सकता है कि हम विचारधारा को भी जरूरत से अधिक महत्त्व दे देते हैं। विचारधारा का महत्त्व इस बात से निर्धारित होता है कि वह किन बुनियादी मानवमूल्यों से अनुप्राणित है और किस हद तक उन्हें पुष्ट करती है। यदि विचारधारा की विस्तृत योजना में कोई ऐसी बात आ जाती है जो उन बुनियादी मानव–मूल्यों को आघात पहुँचाती है तो उसका विरोध करना चाहिए क्योंकि ऐसा न करना उस विचारधारा की बाकी सार्थकता को आघात पहुँचाना होगा। निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियों में विचारधारा की निरन्तर व्याख्या करते रहना होता है। यह व्याख्या गलत है या सही इसका निर्णय उसकी तात्कालिक कामचलाऊ उपयोगिता पर नहीं बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि उस की संगति उन बुनियादी मानव–मूल्यों से है या नहीं जो उस विचारधारा का प्राण हैं। इस मूल्य–बोध को खो देने पर कोई भी पद्धति, विचार या संस्था एक ऐतिहासिक विकृति बनकर रह जाती है। कई दफा इस तरह की विकृती तत्कालीन परिप्रक्ष्य पर अधिक प्रभावी हो जाती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है लेकिन इस तरह प्रभावी हो जाने मात्र से उसे उचित या सार्थक नहीं माना जा सकता। बल्कि ऐसी परिस्थितियों में उन बुनियादी मूल्यों के लिए हर स्तर पर प्राणपण से संघर्ष करना और भी ज्यादा जरूरी और सार्थक हो जाता है। परिवेशगत प्रवृत्तियों से परिचित होना, उन्हें पहचानना एक अलग बात है; लेकिन उन्हें अपने पर, अपने निर्णय पर हावी कर लेना या उन में इसलिए वह जाना कि अधिकांशतः वैसा ही हो रहा है, अपने को एक स्वतन्त्र मानव-व्यक्तित्व की हैसियत से एक दर्जा नीचे उतार देना है।

कई दफा ऐसा भी होता है कि मनुष्य अपने स्वतन्त्र निर्णय और विवेक के प्रयोग के अधिकार को इसलिए छोड़ देना स्वीकार कर लेता है कि बाह्य दबावों की ताकत उसका अस्तित्व तक समाप्त कर दे सकती है। कुछ लोग आपद्धर्म के रूप में इस आचरण का औचित्य स्वीकार कर लेते हैं। यद्यपि इस पर भी काफी मतभेद की गुंजाईश है पर एक तर्क समझ में आता है कि अस्तित्व भी एक मूल्य है और उसके न रहने पर बाकी मूल्यों की सिद्धि सम्भव नहीं है। लेकिन यह भी होता है और यह ज्यादा खतरनाक है कि मनुष्य कई दफा अपनी स्वतन्त्रता की सिद्धि से भागता है, वह अपनी स्वतन्त्रता को विभिन्न बहानों से किसी न किसी तरह सत्ता को इसलिए सौंप देता है कि स्वतन्त्रता अपने मूल्यगत स्तर पर एक उत्तरदायित्व है और इस उत्तरदायित्व का बोझ इतना दुर्वह है कि वह उसे सहन करने से कतराता है। अपने स्वतन्त्र विवेक की बजाय किसी अन्य व्यक्ति, समूह या संस्था के निर्णय को इसलिए स्वीकार कर लेना कि वे उससे बड़ी किसी सत्ता के निर्णय हैं या अपने लिए निर्णय का भार उन्हीं पर छोड़ देना स्वतन्त्रता से पलायन है। एक गहरे और बुनियादी अर्थ में यह मानवत्व से भी पलायन है। लेकिन किसी भी भांति यह पलायन स्वाभाविक नहीं है, एक विकृति है और इसलिए इस तरह से पलायन का प्रयास करने वाले व्यक्तियों या समाजों में विभिन्न प्रकार की विकृतियाँ दिखायी देने लग जाती हैं। इस विकृति की विभिन्न सामाजिक, मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं; लेकिन एक बात जो इन सभी जगहों पर सामान्यतया नजर आती है वह है मनुष्य का अवमूल्यन। इस तरह की स्थिति में मनुष्य को एक यथार्थ इकाई के रूप में व्यक्ति मनुष्य को, किसी न किसी इतर सत्ता से ओछा बताया जाता है। यह इतर सत्ता जाति, सम्प्रदाय, दल, अर्थ-व्यवस्था, इतिहास या राष्ट्र कुछ भी हो सकता है। इसलिए विचारधाराओं या संगठनों से जुड़ते हुए क्या यह ध्यान में रखना आवश्यक नहीं है कि हमारा और सम्बन्धित संस्था या विचारधारा का आचरण भी उन बुनियादी मानव-मूल्यों की कसौटी पर कसा जाता रहे जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसका वास्तविक प्राण हैं। ऐसा न होने पर ही लोकतन्त्र अधिनायकवाद में, धर्म एक मानव-विरोधी सत्ता के रूप में और क्रान्तियाँ प्रतिक्रान्तियों में परिवर्तित हो जाती हैं।

जब हम कहते हैं कि वर्तमान मनुष्य विकास-प्रक्रिया का एक एक स्तर है तब उसका एक मानी यह भी होता है कि वह विकासशील चेतना है क्योंकि चेतना जीवन का ही गुणोत्कर्ष है और इसलिए जीवन की विकास-प्रक्रिया का एक अर्थ चेतना का विकास हो जाता है—खास तौर पर मनुष्य के सन्दर्भ में। आत्मरक्षा जीवन की सहज प्रवृत्ति है लेकिन चेतना का विकास होने पर आत्म का दायरा विस्तृत हो जाता है क्योंकि अपने और शेष जीवन के साथ एक तात्त्विक ऐक्य का भाव विकसित होता जाता है। सन्तान, परिवार, जाति, सम्प्रदाय, दल, राष्ट्र आदि इसी आत्म के विस्तार के दायरे हैं और दायरे हैं इसलिए इनके द्वारा होने वाली आत्म की पहचान और इनके माध्यम से सम्पूर्ण जीवन से जुड़ने की एक सीमा है जिसे न समझ सकने पर आत्मा का विस्तार और उसकी पहचान बाधित होती है। बल्कि कई बार किसी एक सीमा को अन्तिम मान लेना एक प्रकार की आत्मप्रवंचना का शिकार हो जाना है। धर्म, नस्ल, राष्ट्र, भाषा आदि के कारण इतिहास में जो कुछ अमानवीय घटित होता है वह इसी दृष्टिभ्रम का परिणाम है। यह दृष्टिभ्रम जब मनुष्य के भीतर हुए पशु के साथ मिल जाता है तो इतिहास के मंच पर हिंसाकांड घटित होने लगता है, जो अनिवार्यरूपेण विनाशकारी और मानवविरोधी होता है।

पशु में हिंसा इसलिए है कि वह शेष जीवन के साथ उस के अस्तित्वगत ऐक्य का अनुभव नहीं कर सकता जो कि मनुष्य कर सकता है। इसीलिए हिंसा की वृत्ति को पाशवी वृत्ति कहा गया है। जो लोग मानव-जीवन में हिंसा के अनिवार्य प्रयोग पर बल देते हैं वे भी यह तो मानते हैं कि यह एक पाशविक वृत्ति है, लेकिन उनकी राय में इसके बिना काम नहीं चल सकता। क्रान्ति के प्रसंग में जब हिंसा के औचित्य की बात की जाती है तब भी यही कहा जाता है कि साध्य के आधार पर साधन की पवित्रता को आंकना चाहिए। इसमें क्या यह भाव निहित नहीं है कि हिंसा अपने में काम्य नहीं है पर किसी अच्छे उद्देश्य के लिए इसका उपयोग करना ही पड़े तो वैसा किया जा सकता है। इसका सीधा मतलब यही होता है कि हिंसा अपने आप में एक अमानवीय प्रवृति है जो जीवन और चेतना की विरोधी ही नहीं बल्कि उनके विनाश की ओर उन्मुख प्रवृत्ति है और यदि कभी हिंसा को स्वीकार भी किया जाता है तो वह एक प्रवृत्ति के रूप में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं बल्कि किसी हिंसा का ही विरोध करने के अन्तिम अस्त्र के रूप में। तथापि इस पर विचार की गुंजाइश फिर भी बनी रहती है कि किस स्थिति में हम इस अस्त्र का उपयोग करें। इस पर आपत्ति भी की जाति है कि किसी भी स्थिति में इसका उपयोग उचित नहीं कहा जा सकता। लेकिन इन सवालों पर बहस को फिर कभी के लिए छोड़ कर पहले मूल बात पर विचार करें।

हिंसा अमानवीय और जीवन की तथा चेतना की विरोधी प्रवृत्ति है इसीसे यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि मूलतः अहिंसा एक ऐसी मानवीय प्रवृत्ति है जो न केवल मनुष्य को पाशविकता से ऊपर उठाती है बल्कि उसे पूरे जीवन के साथ अस्तित्वगत ऐक्य का अनुभव करवाती है। यही भाव अहिंसा का मूल भाव है और चेतना के विकास का मतलब इस मूलभाव का गुणोत्कर्ष होते जाना है। इसलिए अहिंसा कोई निषेधात्मक विचार नहीं है बल्कि यह मनुष्य होनें की मूल शर्त है। जो लोग यह कहते हैं कि हिंसा मनुष्य के स्वभाव में है वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य अभी भी विकास की प्रक्रिया का एक स्तर है और उसकी चेतना का विकास हिंसा पर नहीं अहिंसा के भाव पर आधारित है। हिंसा विकासशील मनुष्य में बचे पशु का स्वभाव हो सकती है, लेकिन मानवत्व का वास्तविक अर्जन अहिंसा में है। इसका तात्पर्य यह है कि चेतना के गुणोत्कर्ष का एक तात्पर्य मनुष्य का निरन्तर अहिंसक होते जाना है– निषेधात्मक नहीं विध्यात्मक अर्थों में। जीवनमात्र के, अस्तित्व मात्र के प्रति लगाव, प्रेम, करुणा अनुकम्पा का भाव और उस का सूक्ष्मतर बोध अहिंसा के भाव की ही गुणाभिव्यक्तियाँ हैं। अहिंसक होना ही वास्तविक अर्थों में मनुष्य होना और जीवन विकास की गति में सार्थक भूमिका निभाना है।

लेकिन जब हम हिंसा या अहिंसा की बात करते हैं तो अक्सर उसका संदर्भ बहुत स्थूल और दैहिक होता है। हिंसक मनुष्य बुद्धि का उपयोग भी करता है। और हिंसा के बहुत सूक्ष्म और बौद्धिक तरीके भी ईजाद करता है। इसलिए हिंसा सिर्फ व्यक्तिगत प्रकृति ही नहीं रहती बल्कि अक्सर वह पूरे समाज के आचरण में प्रतिबिंबित होती है। जाति, नस्ल, सम्प्रदाय, वर्ग, शब्द आदि के आधार पर अपने को श्रेष्ठ और दूसरे पक्ष से सम्बन्धित व्यक्ति को ओछा या नीच समझना हिंसा का ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक रूप है। इसलिए दैहिक बल का प्रयोग ही नहीं राजनीतिक दमन, आर्थिक शोषण, सामाजिक उत्पीड़न व अपमान एवं धार्मिक दंभ भी हिंसा की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है।

हम उसी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को मानवीय कह सकते हैं जो मनुष्य के अर्थात् चेतना के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की भूमिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निभा सके। दूसरे शब्दों में, मानवाधिकारों को पुष्ट करने वाली व्यवस्था का आधार सकारात्मक अर्थों में अहिंसा को ही स्वीकार करना होगा। तभी मनुष्य एक चेतन प्राणी होने के नाते अपने उत्तरदायित्व को निभा पायेगा। यदि वह इस उत्तरदायित्व को नहीं निभाता है तो जैविक स्तर पर वह मनुष्य कहला सकता है लेकिन सांस्कृतिक और मूल्यगत स्तर पर नहीं। विकास की प्रक्रिया बड़ी धीमी, जटिल और भटकावों से भरी है। यदि आज हमारी व्यवस्था या हमारी प्रवृत्ति इस दिशा की ओर उन्मुख नहीं है तो यही मानना होगा कि वह मानवीय इतिहास की एक और भटकन है।

स्वतन्त्रता, समानता, और बन्धुत्व के तीनों प्रेरक सिद्धान्त मूलतः अहिंसा सिद्धान्त के ही विभिन्न रूप हैं चाहे फ्रेंच क्रान्ति में इनके स्फोट का सन्दर्भ हिंसापूर्ण भी रहा हो। यही कारण है कि लोकतन्त्र, समाजवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता या वैश्विकता की धारणाएं बुनियाद में एक-दूसरे से जुड़ी धारणाएँ हैं क्योंकि उन सब का मूल उत्स सकारात्मक अहिंसा की वह प्रवृत्ति है जो मनुष्य के वास्तविक अर्थों में मनुष्य हो सकने का मूल आधार है। यह ठीक है कि अभी इन सबके रूप पूर्ण तो क्या सन्तोषजनक भी नहीं है और दुनिया की अधिकांश आबादी अपने अस्तित्व की जैविक आवश्यकताओं के संघर्ष में ही इस तरह उलझी है कि अन्य वार्ता की ओर या तो ध्यान ही नहीं जाता या उन्हें विलास मान लिया जाता है। लेकिन जैविक आवश्यकताओं के पूरा न हो सकने का भी एक मूल कारण क्या यही नहीं है कि चेतना को अपनी देह और सन्तान परिवार से लेकर सम्प्रदाय और राष्ट्र तक के छोटे बड़े दायरों में ही बाँधा जाता रहा है। उसका सही अर्थों में वैश्विक बल्कि सम्पूर्ण अस्तित्व तक विस्तार नहीं हो पा रहा है जो कि उसकी सही दिशा होती। यह ठीक है कि यह सब तुरन्त नहीं हो सकता। लेकिन आवश्यकता यह है कि हम अपनी वर्तमान दशा को पहचानें और यदि वह हमें मनुष्य होने की ओर नहीं ले जा रही हो तो उसे बदल देने के लिए सचेष्ट हों। चेतनसंपन्न होते जाने के साथ ही यह जिम्मेदारी स्वयं मनुष्य पर ही आ जाती है कि वह अपने भावी विकास की दिशा को निर्धारित और उसकी प्रक्रिया को प्रदर्शित करे। मानवीय विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण मानवाधिकारों की संकल्पना की मुख्य प्रेरणा है। मानवी विकास का तात्पर्य है मनुष्य के विवेक, उसकी गरिमा, उसकी स्वतन्त्रता और सर्जनशीलता का विकास। यही कारण है कि मनुष्य मात्र की समानता और स्वतन्त्रता मानवाधिकारों की संकल्पना का केंद्रीय आधार है। इसलिए वे सारी विचारधाराएँ और व्यवस्थाएं मानवविरोधी कही जा सकती हैं जो किसी भी कारण से मनुष्य की स्वतन्त्रता और सर्जनशीलता को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी भी प्रकार कुंठीत करती हो। इसलिए समकालीन पूंजीवादी लोकतन्त्र और सर्वसत्तावादी व्यवस्थाएं बुनियादी अर्थों में मानवाधिकारों का हनन करने वाली ही मानी जायेंगी क्योंकि दोनों परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से स्वतन्त्र सर्जन-चेतना का किसी न किसी प्रकार से दमन या जड़ीकरण करती हैं। स्वतन्त्रता और समानता को एक-साथ अर्जित कर लेना बहुत से लोगों को एक कल्पना लगती है, जबकि एक के बिना दूसरी की कोई मानवीय सार्थकता नहीं है। मानवाधिकारों के सार्वभौम घोषणा-पत्र की प्रस्तावना में मानव-परिवार के प्रत्येक सदस्य की स्वतन्त्रता, समान अधिकारों और गरिमा पर विचार करते समय 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' की उस आदर्श समाज-व्यवस्था की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है जिसमें प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास ही सबके स्वतन्त्र विकास की अनिवार्य शर्त है। निश्चय ही इसके लिए अनुदार और अमानवीय शक्तियों के विभिन्न रूपों के खिलाफ़ विभिन्न स्तरों पर विभिन्न तरीकों से संघर्ष करते रहना होगा– लेकिन इस संघर्ष में ज़रूरी है उस सुन्दर को पहचानते रहना जिसके लिए यह सारा संघर्ष है। लेकिन यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि संघर्ष की प्रक्रिया ही कहीं अमानवी या मानवाधिकारों का हनन करने वाली न हो जाय। मानव अधिकारों के घोषणा-पत्र के तीसवें अनुच्छेद में स्पष्ट कर दिया गया है कि इस घोषणापत्र को किसी भी बात की व्याख्या इस प्रकार नहीं की जा सकती जिससे किसी भी राज्य, व्यक्ति संगठन को इस घोषणा पत्र में प्रस्तावित किसी भी मानव अधिकार या स्वतन्त्रता का हनन करने वाले कार्य करने की छूट मिलती हो।

सुथारों की बड़ी गुवाड़
बीकानेर–३३४००१
(राजस्थान)

नन्दकिशोर आचार्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (११)

अवच्छेदकता

पूर्व लेख में यह बताया गया था कि अवच्छेदकता दो प्रकार की होती है—वस्तु के गुणधर्म में रहने वाली अवच्छेदकता तथा वस्तु के उसके आश्रय के साथ होनेवाले सम्बन्ध में रहने वाली अवच्छेदकता। इसी अवच्छेदकता को नव्यनैयायिक सांसर्गिक अवच्छेदकता कहते हैं। वस्तु के गुणधर्म में रहने वाली अवच्छेदकता नियम से किसी न किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। जैसे, पुस्तक के अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता पुस्तकत्व में रहती है। चूंकि पुस्तकत्व धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता समवाय सम्बन्ध से नियन्त्रित (अवच्छिन्न) कहलाती है। उसी प्रकार 'यहाँ दण्डी (संन्यासी) का अभाव है" इस प्रत्यय में दण्डी अर्थात् दण्डधारी में उक्त अभाव की प्रतियोगिता आती है; प्रतियोगिता की अवच्छेदक दण्ड वस्तु होती है; दण्ड दण्डी के हाथ में संयोग सम्बन्ध से रहता है। अतः दण्ड में रहने वाली अवच्छेदकता संयोग सम्बन्ध से नियमित होती है। इस प्रकार गुणधर्म में रहने वाली अवच्छेदकता किसी न किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। जिस प्रकार किसी वस्तु के अभाव की प्रतियोगिता उस सम्बन्ध से रहने वाले प्रतियोगि में ही रहती है उसी प्रकार किसी गुणधर्म में रहने वाली अवच्छेदकता भी उस सम्बन्ध से रहने वाले अवच्छेदक में ही रहती है। परन्तु सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता नामक अवच्छेदकता सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है या नहीं इसके बारे में नव्यनैयायिकों में मतभेद है। कुछ नैयायिक सम्बन्ध के सम्बन्ध की प्रतीति नहीं स्वीकार करते। उनके मत में संयोग आदि सम्बन्ध में रहने वाली अवच्छेदकता किसी दूसरे सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं होती है। उदाहरणार्थ, 'दण्डी (संन्यासी) नहीं है' इस अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता संयोग सम्बन्ध में है; उसे संसर्ग से नियमित मानने पर समवाय नामक सम्बन्ध से नियमित माननी पड़ेगी। संयोग पदार्थ अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त अवच्छेदकता समवाय सम्बन्ध से नियमित होगी। इसके विरुद्ध दूसरे कुछ नैयायिक सम्बन्ध में रहने वाली अवच्छेदकता यानी संसर्गता को सम्बन्ध से नियमित नहीं मानते। उनका कहना है कि किसी भी वस्तु के अभाव के प्रत्यय में प्रतियोगि का सम्बन्ध ही ज्ञात होता है, सम्बन्ध के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। अगर सम्बन्ध के सम्बन्ध का ज्ञान भी होता है ऐसा स्वीकार किया तो अनन्त सम्बधों के प्रत्यय को स्वीकार करना होगा। लेकिन इससे अनवस्था दोष पैदा होगा। अतः केवल प्रतियोगि का ही सम्बन्ध उक्त प्रतीति में भासित होने से सम्बन्ध में रहने वाली ससर्गता किसी दूसरे सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं होती है।[1] क्योंकि विशिष्ट–बुद्धि–नियामक को ही तदनुयोगिक सन्वन्ध कहा जाता है।

संसर्गता-रूप अवच्छेदकता के सम्बन्छ में ध्यान देने योग्य एक और बात यह है कि संसर्गता के अवच्छेदक धर्म में एक विशेषणता नामक विषयता रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि संसर्ग की प्रतोति भी केवल संसर्ग की प्रतीति नहीं होती है, अपितु किसी धर्म से युक्त सम्बन्ध का ही प्रत्यय होता है। उदाहरणार्थ, जब पुस्तक का मेज के साथ संयाग प्रतीत होता है तो उस में संयोगत्व भी विशेषण के रूप में प्रतीत होता है। संयोगत्व में प्रकारता नामक विषयता मानने वाले उक्त सयोगत्व में रहने वाली संसर्गता को अवच्छेदकता को किसी सम्बन्ध से नियमित नहीं मानते। जब मेज पर सयोग सम्बन्ध से पुस्तक का अभाव प्रतीत होता है तब वहाँ संयोग पुस्तक में रहने वाली प्रतियोगिता के अवच्छेदक के रूप मे प्रतीत होता है।[2] उसमें रहने वाली संसर्गता नामक अवच्छेदकता संयोगत्व रूप धर्म से नियमित तो होती है, परन्तु किसी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती। क्योकि सम्बन्ध के सम्बन्ध का प्रत्यय उक्त प्रतीति से नहीं होता है। लेकिन जो नैयायिक सम्बन्ध के सम्बन्ध को भी उक्त प्रत्यय का विषय मानते हैं उनके मत में संयोग में रहने वाली संसर्गता भी समवाय सम्बन्ध से नियमित होती है, कारण संयोग गुण होने से उसका सयोगी मेज के साथ समवाय सम्बन्ध है। गुणों का द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध होता है।[3] परन्तु संयोगत्व में रहने वाली संसर्गता की अवच्छेदकता न तो किसी धर्म से नियमित होती है और न ही किसी सम्बन्ध से।

अब यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। एक यह है कि किसी भी अभाव की प्रतियोगिता किसी सम्बन्ध से नियमित क्यों होती है? और दूसरा, प्रतियोगि जिस सम्बन्ध से अपने आश्रय मे रहता है वही सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक क्यो होता है? यद्यपि पहले प्रश्न की चर्चा अन्य सन्दर्भों में पूर्व लेखों भी की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जा चुकी है, तथापि सांसर्गिक अवच्छेदकता के सन्दर्भ में पुनश्च एक बार उसकी चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

सामान्य रूप से जब किसी वस्तु की प्रतीति हमें किसी स्थान में होती है तो उसे नैयायिक विशिष्टबुद्धि कहते हैं। किसी गुणधर्म या वस्तु से युक्त किसी वस्तु का ज्ञान विशिष्टबुद्धि है। ऐसी विशिष्टबुद्धि वस्तु या गुणधर्म के किसी वस्तु या स्थान के साथ एक विशेष के सम्बन्ध के कारण ही होता है। कोई भी सम्बन्ध प्रतीत न होने पर युक्तता-बुद्धि (विशिष्टबुद्धि) सम्भव ही नहीं है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी विशिष्टबुद्धि में सर्वदा तीन वस्तुओं का प्रत्यय होता है—विशेषण अर्थात् गुणधर्म आदि (प्रकारता), गुणयुक्त वस्तु, स्थान आदि विशेष्य (विशेष्यता) तथा संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध (संसर्गता)। ४ (नैयायिकों के मतानुसार हरेक विशिष्टबुद्धि में प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता प्रतीत होनी ही चाहिये।) उदाहरणार्थ, जब हम देखते हैं कि मेज पर पुस्तक है तो हमें पुस्तक, मेज तथा उन दोनों के बीच होने वाला संयोग प्रतीत होता है। सम्बन्ध के प्रतीत न होने पर 'अमुक वस्तु अमुक स्थान पर है' इस प्रकार का प्रत्यय कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिये 'घुड़सवार' कहने पर जो ज्ञान होता है वह घोडा और सवार कहने पर नहीं होता है। घुड़सवार कहने पर घोडा और सवार के अलावा हमें घोडा और सवार का सम्बन्ध भी प्रतीत होता है। इसलिये 'घुडसवार' यह विशिष्टबुद्धि है जबकि घोडा और सवार यह विशिष्टबुद्धि नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि जब हमें किसी वस्तु का सम्बन्ध (अन्य) किसी वस्तु या स्थान से प्रतीत नहीं होता है तब उस वस्तु का सम्बन्ध से अभाव प्रतीत होता है। जब हम देखते हैं कि पुस्तक मेज पर नहीं है तो मेज पर हमें पुस्तक के संयोग का न होना प्रतीत होता है और उसके फलस्वरूप हमें संयोग सम्बन्ध से पुस्तक का अभाव प्रतीत होता है। मेज पर सभी सम्बन्धों से पुस्तक का अभाव प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः किसी भी वस्तु का सभी सम्बन्धों से कहीं पर भी अभाव प्रतीत नहीं होता है। जब हमें मेज पर पुस्तक का अभाव प्रतीत होता है, उस समय भी पुस्तक किसी अन्य सम्बन्ध से मेज पर होती है। वस्तुओं के बीच मे कई प्रकार क सम्बन्ध हमें व्यवहार में भी महसूस होते हैं। उदाहरण के लिये, एक ही व्यक्ति विश्वविद्यालय से अनेक सम्बन्धों से सम्बन्धित हो सकता है। वह प्राध्यापक, सीनेट का सभासद, परीक्षा-बोर्ड का सदस्य आदि अन्यान्य रूपों में विश्वविद्यालय से सम्बन्धित हो सकता है। प्राध्यापक रूप से निवृत्त होने पर उसका विश्वविद्यालय में जो अभाव प्रतीत होता है वह प्राध्यापकत्व सम्बन्ध से प्रतीत होने वाला उसका अभाव है, न कि सीनेट के सदस्यता सम्बन्ध से। इन्हीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बन्धों के समान ही जो सम्बन्ध हमें प्रतीत होते हैं परन्तु उनका नामतः हम सामान्यतः निर्देश नहीं करते परन्तु जिनका हमें होने वाली प्रतीति के विश्लेषण में महत्त्व है ऐसे सम्बन्धों का संयोग, समवाय, कालिक, दैशिक आदि विभिन्न नामों के आधार पर निर्देश कर उन्हें प्रसिद्ध करने का प्रयास नैयायिकों ने किया है। एक द्रव्य जैसे संयोग सम्बन्ध से दूसरे द्रव्य से सम्बन्धित होता है वैसे ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से कालिक नामक सम्बन्ध से भी सम्बन्धित होता है। एक ही काल में अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ परस्पर कालिक सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं। कालिक सम्बन्ध से सम्बन्धित पदार्थ अनित्य ही होते हैं। अतः जब हमें देखते हैं कि मेज से पुस्तक संयोग सम्बन्ध से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि पुस्तक मेज पर उस अवस्था में भी कालिक सम्बन्ध से रहती है (यानें पुस्तक मेज के साथ संयोग सम्बन्ध से सम्बन्धित न होते हुए भी कालिक सम्बन्ध से सम्बन्धित रह सकती है।) अतः 'मेज पर पुस्तक नहीं है' इसका अर्थ यह नहीं होता कि पुस्तक मेज पर किसी भी सम्बन्ध से नहीं है, या पुस्तक मेज पर सभी सम्बन्धों से नहीं है। इस प्रकार पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता जो पुस्तक में आती है उसका कारण यह होता है कि पुस्तक का मेज के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उक्त प्रतियोगिता को संयोग प्रभावित करता है। अतः संयोग सम्बन्ध उक्त प्रतियोगिता का नियामक माना जाता है। जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जहाँ प्रतीत नहीं होती है वही सम्बन्ध वहाँ उस प्रतियोगिता को नियमित करता है। इसलिये वही सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है, तथा प्रतियोगिता उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न (नियमित) होती है।[५]

इसका तात्पर्य यह है कि एक सम्बन्ध से वस्तु का अभाव मालूम पडने पर भी दूसरे सम्बन्ध से उस वस्तु का उस स्थान पर बोध होने में कोई बाधा न होने से, सम्बन्ध-विशेष के आधार पर ही उस वस्तुके अत्यन्ताभाव के ज्ञान को उस वस्तु के विशिष्ट-ज्ञान में प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है।[६] अन्यथा किसी भी अवस्था में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक के सिद्धान्त की स्थापना नहीं हो सकेगी। संयोग सम्बन्ध से पुस्तक मेज पर नहीं है यह ज्ञान ही प्रतिबन्धक होगा, केवल मेज पर पुस्तक नहीं है या मेज पर समवाय सम्बन्ध से पुस्तक नहीं है यह ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होगा।[७] अतः सम्बन्ध में प्रतियोगिता की अवच्छेदकता मानना अनिवार्य होगा। इस प्रकार किसी भी अभाव की प्रतियोगिता किसी एक धर्म और किसी एक सम्बन्ध से नियमित होती है, सभी धर्मों तथा सभी सम्बन्धों से नहीं। वह जिस सम्बन्ध से नियमित होती है उसी में सांसर्गिक अवच्छेदकत्व स्वीकार की जाती है।[८]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऊपर दूसरा प्रश्न यह उठाया गया था कि प्रतियोगि में रहने वाली प्रतियोगिता प्रतियोगि अपने आश्रय में (पर) जिस सम्बन्ध से रहता है उसी सम्बन्ध से ही क्यों नियमित होती है, वह अन्य किसी सम्बन्ध से क्यों नहीं नियमित होती ? इसका उत्तर यह है कि प्रतियोगि के रहने पर प्रतियोगि जिस सम्बन्ध से प्रतीत होता है वही सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। क्योंकि जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जहाँ गृहीत होती है उसके न रहने पर उस सम्बन्ध से ही उसका अभाव प्रतीत होता है। जैसे, वृक्ष पर कोयल के रहने पर वृक्ष पर कोयल का अस्तित्व संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होता है उसका कारण भी वृक्ष से उसके संयोग का न होना होता है। अतः उसका वृक्ष पर प्रतीत होने वाला अभाव संयोगाभावमूलक होने से उसके अभाव की प्रतियोगिता संयोग से ही अवच्छिन्न होती है, समवाय आदि से नहीं, क्योंकि कोयल वृक्ष पर समवाय सम्बन्ध से उक्त प्रतीति का विषय न होने से (याने वृक्ष पर समवाय सम्बन्ध से कोयल की प्रतीति न होने से) उसकी विरोधी अभाव-बुद्धि में भी समवाय सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता प्रतीत नहीं होती है।

इस पर कुछ लोगों का यह कहना है कि सम्बन्ध में प्रतियोगितावच्छेदकता होने के लिये प्रतियोगि के उस सम्बन्ध से अपने आश्रय में रहना आवश्यक नहीं है। प्रतियोगि के उस सम्बन्ध से अस्तित्व का ज्ञान होने पर उस सम्बन्ध से उसके अभाव का ज्ञान नहीं होता है। बाध-बुद्धि में रहने वाली प्रतिबन्धकता सम्बन्ध-विशेष से नियन्त्रित होने के कारण ही प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध को स्वीकार करना पड़ता है। अन्यथा एक सम्बन्ध से अभाव का ज्ञान संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों से होने वाले वस्तु के ज्ञान का विरोधी हो जाएगा। इसलिये व्यधिकरण-सम्बन्ध अर्थात् प्रतियोगि जिस सम्बन्ध से नहीं रहता है वह सम्बन्ध भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि दीधितिकार ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता को सभी सम्बन्धों से अवच्छिन्न माना है।[१] इसका तात्पर्य यह है कि बाध-बुद्धि के द्वारा विरोध किये जाने के लिये वस्तु का वास्तविक रूप से वहाँ होना आवश्यक नहीं है। भ्रमात्मक तद्वत्ता-बुद्धि का भी तदभाववत्तारूप बाधबुद्धि के द्वारा विरोध होता है। यही कारण है कि 'भूतल संयोग सम्बन्ध से अश्वत्वेन गो का आश्रय है' इस बुद्धि का विरोध भूतल संयोगेन अश्वत्वेन गो-युक्त नहीं है यह बुद्धि करती है। इसके विरुद्ध अन्य पक्षवालों का कहना है कि प्रतीति होती है, इसलिये प्रतीति के आधार पर जिस सम्बन्ध से प्रतियोगि (वृत्ति) होता है उसी सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक मानना चाहिये। संयोग सम्बन्ध से भी नहीं है इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुभव के आधार पर संयोग में संसर्गता-रूप अवच्छेदकता माननी चाहिये। चूँकि गौ अपने आश्रय में संयोग सम्बन्ध से रहती है इसलिये संयोग सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं माना जाता, क्यों कि वृत्यनियामक सम्बध से प्रतियोगि कहीं नहीं रहता है। अतः वास्तविक विरोध न होने से उक्त सम्बन्ध से प्रतियोगिता को नियमित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विभिन्न वस्तुओं में जो विशेषण-विशेष्य-भाव मालूम पडता है उसका कारण सम्बन्ध ही होता है। जब हम 'दण्डी स्वामी' कहते हैं तो दण्ड का और स्वामी का संयोग सम्बन्ध दण्ड और स्वामी में प्रतीत होने वाले विशेषण-विशेष्य भाव का द्योतक होता है। वैसे सम्बन्ध दो प्रकार का होता है– साक्षात् तथा परम्परा। कोई वस्तु किसी (अन्य वस्तु) से साक्षात् सम्बन्धित होती है, तो किसी अन्य सम्बन्ध से सम्बन्धित होती है। व्यवहार में दोनों प्रकार के सम्बन्धों का उपयोग देखा जाता है। नैयायिकों ने साक्षात् सम्बन्धों को संयोग, समवाय, स्वरूप आदि नामों से व्यवहृत किया है। रक्त कमल में रक्त वर्ण और कमल का सम्बन्ध समवाय नाम से जाना जाता है, जबकि दण्ड और दण्डी का सम्बन्ध संयोग कहलाता है। इसी प्रकार 'घर में देवदत्त नहीं है' यहाँ घर के साथ देवदत्त के अभाव के सम्बन्ध की संज्ञा स्वरूप है।

साक्षात् सम्बन्धों में ही कुछ सम्बन्ध वृतिनियामक तथा कुछ अन्य वृत्य-नियामक कहलाते हैं। जब विशेषण और विशेषण के बीच सम्बन्ध प्रतीत होने पर एक में दूसरे की वृत्तिता, आधाराधेयभाव या आश्रय-आश्रयीभाव प्रतीत होता है तो वह सम्बन्ध वृत्तिनियामक सम्बन्ध कहलाता है, क्योंकि उक्त सम्बन्ध आधेयता को निरूपित करता है। जब एक वस्तु स्पष्ट रूप से किसी अन्य वस्तु पर आश्रित है ऐसा प्रतीत होता है तभी उक्त सम्बन्ध का प्रत्यय आश्रय के रूप में वस्तु के प्रतीत न होने पर केवल सम्बन्धी-रूप जब प्रतीत होता है तब उनका सम्बन्ध वृत्तिता या आधेयता को व्यक्त नहीं करता। आम तौर-पर संयोग, समवाय, स्वरूप सम्बन्ध वृत्तिनियामक माने जाते हैं। तथापि कभी कभी ये सम्बन्ध भी वृत्तिनियामक नहीं होते। जैसे दो जानवरों का एक के द्वारा दूसरे पर आघात करने पर या दो मल्लों का युद्ध होने पर उनमें जो संयोग होता है वह वृत्तिनियामक नहीं होता, क्योंकि उनमें से कोई किसी का आधार नहीं होता। जो सम्बन्ध वृत्तिनियामक नहीं होते उन्हें वृत्यनियामक कहा जाता है। वृत्यनियामक सम्बन्ध से कोई भी पदार्थ सम्बन्धी मात्र होता है, वृत्ति नहीं। उक्त सम्बन्ध के रहने पर दोनों सम्बन्धी पदार्थ मात्र सम्बन्धी के रूप में ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध स्वत्व, स्वामित्व, तादात्म्य (अभेद) आदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साक्षात् सम्बन्ध तथा स्वाश्रयाश्रयत्व आदि परम्परा-सम्बन्ध हैं। जैसे, गोत्व का गौ के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, परन्तु गौ-शाला के साथ स्वाश्रयाश्रयत्व रूप परम्परा सम्बन्ध है। स्व (गोत्व), (उसका) स्वाश्रय गौ, और उसकी (गौ की) आश्रय गौ-शाला। इस प्रकार उक्त परम्परा सम्बन्ध से गौ-शाला भी गोत्व से युक्त होती है। वृत्यनियामक सम्बन्धों में किसी भी वस्तु के अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता नहीं रहती है ऐसा कुछ नैयायिकों का मत है। उसके पीछे नैयायिकों की यही दृष्टि है कि जिस सम्बन्ध से प्रतियोगी कहीं वृत्ति होता है (याने रहता है) वही सम्बन्ध प्रतियोगिता का नियामक होता है। ऐसा न मानने पर या तो प्रतियोगिता किसी भी सम्बन्ध से नियमित माननी पड़ेगी, या सभी सम्बन्धों से नियमित—जैसी कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की मानी जाती है। परन्तु विरोधिता-नियम की उपपत्ति के लिये संसर्गाभाविकी प्रतियोगिता ऐसा मानना सम्भव नहीं है।

वृत्यनियामक सम्बन्ध को प्रतियोगिता का नियायक न मानने में तादात्म्य सम्बन्ध अपवाद है। तादात्म्य सम्बन्ध भी वृत्यनियामक सम्बन्ध है। तादात्म्य सम्बन्ध से कोई भी वृत्ति नहीं हो सकता। अत्यन्त निपुण व्यक्ति भी अपने कन्धों पर सवार नहीं हो सकता। इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध को वृत्यनियामक सम्बन्ध माना जाता है। तथापि उसे अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना पडता है। अन्यथा भेद (अन्योन्याभाव) की व्याख्या ही सम्भव नहीं है। तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित होने वाले अभाव को ही अन्योन्याभाव सञ्ज्ञा दी गयी है। अतः वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है इसका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य सम्बन्ध को छोड़ कर दूसरे वृत्यनियामक सम्बधों में संसर्गता–रूप अवच्छेदकता नहीं रहती है।[१०]

परन्तु जगदीश का वचन है कि रघुनाथ शिरोमणि तादात्म्य सम्बन्ध को भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक ससर्ग नहीं मानते। जैसा कि पूर्व लेख में कहा गया था, उनके मत मे भेदत्व अखण्डोपाधि है।[११] परन्तु नैयायिकों का बहुमत तादात्म्य सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक मानता है। वैसे तो कुछ नैयायिक वृत्यनियामक सम्बन्धों का भी प्रतियोगिता का नियामक मानते हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का नियामक नहीं होता है तो जहाँ वृत्यनियामक सम्बन्ध से ही विशिष्ट-बुद्धि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होती है वहाँ विरोधिता–नियम का क्या स्वरूप होगा? उसकी व्याख्या कैसे होगी? सम्बन्ध का उपयोग किये बिना विरोधिता का नियम बन ही नहीं सकता, और कम–से–कम कालिक सम्बन्ध से सभी जन्य पदार्थ सभी जन्य पदार्थों से सम्बन्धित होते हैं। इसलिए जहाँ वृत्यनियामक सम्बन्ध से विशिष्ट–बुद्धि होती है वहाँ सम्बन्ध के विचार को पूर्णतया हटाया नहीं जा सकता।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जहाँ वृत्यनियामक सम्बन्ध से विशिष्ट प्रतीति होती है वहाँ उक्त विशेषण के अभाव को संसर्गाभाव ही नहीं मानते। अर्थात्, वहाँ विशिष्ट प्रतीति उस सम्बन्ध से सम्बन्धी की प्रतीति है उस सम्बन्ध से वर्तमान विशेषण की प्रतीति नहीं है। तथा विरोधि प्रतीति (याने अभाव की प्रतीति) उक्त सम्बन्ध से सम्बन्धी के भेद को व्यक्त करती है। उदाहरण के लिये, जब 'चारुदत्त धनी है' इस प्रतीति में चारुदत्त धन का आश्रय है यह प्रतीत न हो कर चारुदत्त धन–सम्बन्धी (धन का स्वामी) है यह प्रतीत होता है, और जब विरोधि प्रतीति अर्थात् चारुदत्त धनी नहीं है यह प्रतीति होती है तो चारुदत्त धनी व्यक्तियों से भिन्न (व्यक्ति) के रूप में प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वृत्यनियामक सम्बन्धि से सम्बन्धित्व अथवा अभाव की प्रतीति में सम्बन्धि–भेद प्रतीत होने से वहाँ भी विरोधिता–नियम की व्याख्या करने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध को भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक न मानने वालों के मत में सम्बन्धिता और सम्बन्धी–भेद के आधार पर उक्त रीत्या विरोधिता–नियम की व्यवस्था लगायी जा सकती है।[१२]

गदाधर को वृत्यनियामक सम्बन्ध को प्रतियोगितावच्छेदक मानने में कोई दोष नजर नहीं आता। समवाय सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले संयोगाभाव की तरह ही जनकता सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले संयोगाभाव की अतिरिक्त अभाव के रूप में कल्पना करने में गौरव दोष होता है, और यह बात समीचिन नहीं है। जनकता सम्बन्ध से संयोगाभाव, संयोगजनकताभाव का समनियत (एक साथ रहने वाला) होने से एक ही है। यह अभाव सभी को मान्य है। उक्त वृत्यनियामक (जनकता) सम्बन्ध से नियमित अभाव की भिन्न प्रतियोगिता की कल्पना करने में गौरव (दोष) होने पर भी विरोधिता–नियम की व्याख्या (हो सकने) में होने वाले लाघव को ध्यान में रखते हुए उक्त गौरव दोष की उपेक्षा करना ही उचित है।

इस तरह वृत्यनियामक सम्बन्ध में भी अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता मानने में गदाधरादि नव्यनैयायिक कोई दोष नहीं मानते।[१३] यही कारण है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि कई जगह वृत्यनियामक सम्बन्ध को भी प्रतियोगिता का नियामक मानने वालों के मतों को ध्यान में रख कर लक्षणों के परिष्करण की ओर रुचि दिखायी गयी है।

इस पृष्ठभूमि के आधारपर आगे के लेख में अवच्छेदकता के स्वरूप और लक्षण के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे–४११००७

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. तत्र यथार्थं विशिष्टधीनियामकस्यैव सम्बन्धत्वात्।

२. दिनकर; अत्यन्ताभावीय संयोगनिष्ठ प्रतियोगितावच्छेदकतायाः संयोगत्वेनैवावच्छिन्नत्वात्। दिनकर्यां, अभावनिरूपणे

३. विश्वनाथ न्यायपञ्चानन; गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्। न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां, समवायनिरूपणे

४. जगदीश; तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावीय प्रतियोगिता तत्सम्बन्धेन वृत्तिमत्येव प्रतियोगिनि स्वीक्रियते। जागदीशी, गङ्गा व्याख्यायाम्, सिद्धान्तलक्षणे

५. ननु अनुभवबलान्न समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदक सम्बधादरः किन्तु बाधबुद्धिप्रतिबन्धकतायाः सम्बन्धविशेषनियन्त्रितत्वानुरोधेनैव, अन्यथा एकैकविधाभावज्ञानस्य संयोगसमवायादि निखिलसंसर्गावगाहिज्ञान प्रतिबध्यत्व प्रसङ्गात्। जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणे, प्रथमलक्षणस्य गङ्गा व्याख्यायाम्

६. गदाधर; नञ् पदं विना यादृशसमभिव्याहारस्थले यत्र धर्मिणि येन सम्बन्धेन यस्य विशेषणतया भानं तत्र नञ् समभिव्याहारे तत्र धर्मिणि तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक तदभावः प्रतीयते। व्युत्पत्तिवादे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. जगदीश तर्कालङ्कार; कस्यचिदभावस्य केनचिद्धर्मेण सम्बन्धेन वाऽव-च्छिन्नव्यवहारबलात् न तु सम्बन्धेन धर्मेण सर्वेण वा समवायावच्छिन्न-वन्ह्यभावप्रतियोगित्वं न तु संयोगावच्छिन्नमिति व्यवहारबलात् । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

८. अन्यथा भूतलं संयोगेन घटत्वावच्छिन्नं घटवत् इत्येवं निर्णयसत्त्वेऽपि भूतले संयोगेन घटत्वेन घटो नास्तीति प्रत्ययापत्तेः । तत्रैव, व्यधिकरण-प्रकरणे, प्रथमलक्षणम्

९. व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नोपिभावश्चेत्प्रामाणिकः तदा सर्वैसम्बन्धैस्तत् प्रतियोगिता अवच्छिद्यन्तामिति । तत्रैव
गदाधर; स्वत्वादि सम्बन्धस्य वृत्यनियामकतया प्रतियोगितानवच्छेद-कत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावाऽप्रसिद्धेः । व्युत्पत्तिवादे

१०. ननु तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावोन्योभाव इति प्रतीति-बलादेव तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वं प्रतियोगितायां स्वीकार्यम् । तदतिरिक्त-वृत्यनियामक सम्बन्धावच्छिन्नत्वं तु न । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणस्य गङ्गा व्याख्यायाम्

११. जगदीश तर्कालङ्कार; साधनवन्निष्ठान्योन्याभाव प्रतियोगितायाः साध्यता-वच्छेदक तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्वे मानाभावस्य स्वयमेव बौद्धधिक्कार-टिप्पण्यां उक्तत्वात् । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

१२. गदाधर; वृत्यनियामक सम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वेऽपि...... । व्युत्पत्तिवादे

१३. ननु वृत्यनियामक सम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वं न भवतीति नात्र श्रुतिरस्ति येन पुरुषो न राज्ञः इत्यत्र वृत्यनियामकस्य स्वत्वस्य पुरुषे राजाभावप्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धत्वं न स्यात्तथा च पुरुषो न राज्ञः इत्यत्र स्वत्वस्यैवाभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वेन संसर्गत्वमेवेति नात्र सर्वजनानुभवस्यापलापापत्तिः । व्युत्पत्तिवादस्य आदर्शटीकायाम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ-समीक्षा

समग्रयोग–पाण्डेय, डॉ. रेवती रमण पृ. १७६ (१४४ + परिशिष्ट १४ पृ.+ अनुक्रमणी २० पृ) संस्करण–प्रथम, जुलाई १९८५ सुयशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी।

भारत में योग की विद्या अत्यन्त प्राचीन रही है। वैदिक ऋषियों ने इस विद्या के अभ्यास से सत् का साक्षात्कार कर इसे जन साधारण के आत्मानुशासन एवं आत्मलाभ के लिये सुलभ विद्या के रूप में अभिव्यक्त किया। इस सत्य के बावजूद भी आज जब योग की चर्चा उठाई जाती है तो प्रायः सांख्य की तत्त्वमीमांसा से बँधा हुआ पातंजल योग ही प्रमुख रूप से लक्षित होता है। पातंजल योग को भी प्रायः विद्वानों ने 'चितवृत्तिनिरोध' तक ही सीमित समझा है जबकि योग सूत्रकार ने चित्तवृत्तिनिरोधः के साथ 'तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्, पूर्वक योग की एक समग्र परिभाषा दी है।

प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायों में महावीर के बाद जैनमत में भी योग को आध्यात्मिक विद्या के रूप में जाना जाने लगा। किन्तु पुद्गल-नैरात्म्य की प्रक्रिया के अर्थ में जैन योग इतना रूढ़ हो गया कि इसकी साधना समर्पित साधकों के लिए ही अनुवंचित सी रही। बौद्ध सम्प्रदाय के विकास के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह परिलक्षित हो जाता है कि इस में युक्ति और तर्क पक्ष को इतना महत्त्व दिया गया कि बौद्ध मत एक तार्किक सम्प्रदाय के रूप में अधिकाधिक से उभरा और योग जैसे व्यावहारिक पक्ष को तब तक महत्त्व नहीं मिला जब तक (शान्ति, स्वास्थ्य और समरसता की खोज में एक महत्त्वपूर्ण विकल्प के रूप में उपनिषद् और पातंजल योग के समादृत हो जाने के बाद) वज्रयान योग की एक विशिष्ट विद्या के रूप में प्रकाश में नहीं आया। वज्रयान की भी विशेषताएँ व्यवहार में जनमानस के अन्दर एक अलग छवि चित्रित नहीं कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकीं। इसके सैद्धान्तिक पक्ष को सरलतम ढंग से प्रस्तुत कर इसे सर्वसुलभ विद्या के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास भी नगण्य से रहे।

डॉ. पाण्डेय की पुस्तक समग्रयोग में जैन और बौद्ध योग के तत्त्वों का भी उनके विभिन्न पक्षों के साथ विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है जो इन सम्प्रदायों को एक विशिष्ट एवं व्यवस्थित योग की विद्या के रूप में प्रतिस्थापित करने में सफल है। योग की विशाल विधा के विस्तृत पक्षों का विवेचन समग्रयोग में देखने को मिलता है।

प्राचीन से लेकर श्री. अरविन्द तक के योग की अवधारणा के ऐतिहासिक विकास को प्रस्तुत करने वाली यह पुस्तक इस दृष्टि से भी प्रामाणिक है कि उसमें विभिन्न योगतत्त्वों का विश्लेषण उनकी परम्परा को ध्यान में रखकर ही किया है। अतः इस दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

पुस्तक का शीर्षक 'समग्रयोग' सर्वथा सार्थक लगता है। वेद, उपनिषद् गीता के विभिन्न प्रकार के योगों की व्याख्या एवं विश्लेषण प्रस्तुत करने के साथ-साथ जैन, बौद्ध एवं श्री अरविन्द के योग विषयक अवधारणा को प्रस्तुत करना समग्रयोग शीर्षक को सार्थक बनाता है। लेखक ने अरविन्द योग को समग्रयोग नामक अध्याय में रखा है। स्वयं श्री. अरविन्द भी अपने योग को समग्रयोग कहते हैं। योग की प्रारम्भिक अवधारणा से लेकर श्री. अरविन्द के समग्रयोग तक के विकास के लिए समग्रयोग शीर्षक का चयन हुआ है, नकि श्री. अरविन्द के समग्रयोग के कारण। विभिन्न योग-विद्याओं के तत्त्वमीमांसीय आधार प्रस्तुत कर विषय की समग्रता पर भी लेखक ने भलीभाँति ध्यान दिया है।

लेखक का शास्त्र-ज्ञान इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ से परिलक्षित होता है। भाषा सरल, प्रवाहमय एवं संस्कृतनिष्ठ है। पुस्तक की भाषा में आम तौर पर अर्थ-प्रवास है। किन्तु समग्रयोग अध्याय के अन्तर्गत कुछ ऐसे अनूदित अंश हैं जिनसे कुछ स्थानों पर लेखक की अभिव्यक्ति सामान्य पाठकों के लिए विषयार्थ को स्पष्ट करने में अपर्याप्त है। उदाहरणार्थ समग्रयोग पृ. १३२ के प्रथम पैरा से अन्तिम तक द्रष्टव्य है।

समग्रयोग प्रकरण में पृ. ११५ पर अद्वैत की व्याख्या की गयी है। लेखक ने निष्कर्षतः यह दिखाने का प्रयास किया है कि अद्वैत की अद्वैतता अक्षुण्ण रखने में शांकर वेदान्त को छोड़ कर कोई भी दर्शन खरा नहीं उतरता। अन्य अद्वैत वेदान्ती इस मान्यता से सहमत नहीं होंगे। यह शांकर वेदान्त के प्रति लेखक के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशेष आग्रह को प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त जगह-जगह मुद्रण की अशुद्धियां भी है।

वेदोपनिषद् में योग का विवेचन सर्वथा विशद है। वहीं पर भगवद्गीता व अन्यान्य योगों के विवेचन के साथ डॉ. पाण्डेय ने एक सर्वथा नई उद्भावना दी है। उन्होंने भाषा-वैज्ञानिक विधा के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वेदान्त की महती साधना तितिक्षा को यदि भगवद्गीता की केन्द्रीय साधना मान लिया जाय तो उससे भगवद्गीता के अन्यान्य योगों की समुचित व्याख्या हो सकती है। यह निश्चित ही उनकी सर्वथा नई और मौलिक उद्भावना लगती हैं।

विद्वान् लेखक की यह कृति भारतीय-विद्या के क्षेत्र में और विशेष रूप से योग के सम्बन्ध में आगे अनुसंधान की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के आरम्भक के रूप में अत्यन्त पठनीय है।

दर्शन विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा
(बिहार)

देवेन्द्र नाथ तिवारी

सूचना

" शंकराचार्य की प्रपञ्च-संकल्पना " इस विषय पर प्रोफेसर जी. आर्. मलकानी निबन्ध-प्रतियोगिता के लिये आमन्त्रित निबन्धों के अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों के मतानुसार स्वीकृत निबन्धों मे से एक भी निबन्ध प्रथम या द्वितीय पुरस्कार देने के योग्य नहीं निकला।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
गणेशखिण्ड, पुणे ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१८३. डॉ. ललित किशोर गुप्त
प्रोफेसर्स कालोनी
दिघी (पश्चिम)
दरभंगा
(बिहार)

१८४. डॉ. रामनन्दन मिश्र
जयप्रकाश नगर
जपानी फार्म के नजदीक
आरा– ८०२३०१
जि. भोजपुर
(बिहार)

१८५. डॉ. मनेन्द्र प्रताप सिंह
अध्यक्ष,-दर्शन विभाग
यूइंग क्रिश्चन कॉलेज
इलाहावाद
(उ प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

ललित किशोर लाल श्रीवास्तव	अद्वैत वेदान्त दर्शन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ	१९
ललित किशोर गुप्त	एम्. एन्. राय का भौतिकवाद	२[illegible]
राधाधर शर्मा	शक्ति-दर्शन में शक्ति का स्वरूप	२[illegible]
एस्. के. त्रिपाठी (मूर्ति)	सौन्दर्य के तात्पर्य की समस्या	२[illegible]
मीरा श्रीवास्तव	हकीकी सौन्दर्य शास्त्र : पद्मावत	२[illegible]
ललित किशोर लाल श्रीवास्तव	नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद	२[illegible]
नन्दकिशोर आचार्य	सामाजिक स्वातन्त्र्य की बुनियाद (मानवाधिकार : दार्शनिक सन्दर्भ)	२[illegible]
बलिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (११)	२[illegible]
	ग्रन्थ-समीक्षा	२[illegible]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection.